पाशुपत शैव धर्म के स्रोत

पाशुपतसूत्र

पञ्चार्थ भाष्य

भासर्वज्ञकृत गणकारिका रत्नटीका
तथा हिन्दी अनुवाद एवं
तृत भूमिका सहित

Q2:23/

आलोक मणि त्रिपाठी

तंत्र

तंत्र

पाशुपत शैवधर्म के स्रोत

पाशुपतसूत्र पञ्चार्थ-भाष्य

भासर्वज्ञकृत गणकारिका-रत्नटीका,
शिवपुराणोक्त वायुसंहिता, व्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य,
शङ्करदिग्विजय-नकुलीश-दर्शनादि से संवलित

सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक
डॉ. आलोकमणि त्रिपाठी
रीडर
इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग
डॉ० रा० म० लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली

प्रथम संस्करण १९९८

© लेखक

ISBN : 81-85268-89-4

मूल्य: ~~350.00~~ 750.00

प्रकाशक :
डॉ. राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., एम.फिल., पी.एच.डी.

प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्य विद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
२९/५ शक्ति नगर, दिल्ली ११०००७
दूरभाष: ७४५१४८५

अक्षर संयोजक एवम् मुद्रक : ए. आर. प्रिंटर्स,
डी-102 न्यू सीलमपुर दिल्ली-53
फोन: 2260113

PĀŚUPATA SŪTRA
PAÑCĀRTHA BHĀṢYA

With Commentary Gaṇakārikāratnaṭīkā of Bhāsarvajña, Vāyusaṁhitā of Śiva Purāṇa, Brahmasūtraśāṅkarabhāṣya, Śaṅkaradigvijaya & Nakulīśapāśupata Darśan

Dr. Alokmani Tripathi
Reader
Deptt. of Ancient History
Archaeology & Culture
Dr. RML Awadh University
Faizabad

Pratibha Prakashan
DELHI

© Author

Ist Edition 1998

I S B N : 81-85268-89-4

Price: ₹ 750/-

Published by:
Dr. R.S. Shukla

for **Pratibha Prakashan**
(Oriental Publishers & Bookseller's)
29/5, Shakti Nagar, Delhi-110007
Phone: 7451485

Laser Typesetting & Printed at:
A. R. Printers, D-102, New Seelampur, Delhi-53

परम आदरणीय पूज्य
पिताजी श्री राजनारायण मणि त्रिपाठी (बसन्ती बाबू)
एवं पूज्यनीया माताजी श्रीमती लालमती त्रिपाठी
को सादर समर्पित
ज़ो इस ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रेरणा स्रोत हैं।

आमुख

अमरगणनिषेव्यः सर्वसिद्धिप्रदाता
कलियुगमवतीर्णः कायरूपी महेशः।
सकलभुवनकर्ता सर्वपापहर्ता द्विशंतु-
र्लकुटपाणिर्वो विभूतिः प्रसन्नः।।[1]

श्वेत की परम्परा में महेश्वर के अट्ठाइसवें व अन्तिम योगावतार लकुलीश का नाम उपलब्ध होता है, जिन्हें उपर्युक्त श्लोक में लकुटपाणि कहा है जो एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे।[2] उनके उपदेश पाशुपत सूत्रों के नाम से विख्यात हैं।[3] अतः पाशुपत सूत्रों के प्रणयन का श्रेय लकुलीश को ही है। पाशुपत सूत्रों के पञ्चार्थ-भाष्य में कहा गया है कि भगवान् लकुलीश का ब्राह्मण कुल में कायावतार हुआ था। तत्पश्चात् वे उज्जयिनी गये जहाँ उन्होंने अपने शिष्य कुशिक को पाशुपत सूत्रों का उपदेश दिया।[4] वे पाशुपत सूत्र इस ग्रन्थ में उपलब्ध किये गये हैं, जिनका

---

1. गण कारिका, (अपेन्डिक्स 4) इसी ग्रन्थ में
2. कूर्म पु०, 1.51.9, 1; 1.53.4; वायु पु०, अ० 23.219, 24; लिंग पुराण, अ० 24.12-34; शिव पु०, वा० स०, अ० 215, 219,
   विशुद्धमुनिकृत आत्मसमर्पणम् (गणकारिका) कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर० जी० भण्डारकर, वा० 4; शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया, डॉ० वी० एस० पाठक; जे० एफ फ्लीट-शिव एण्ड लकुलीश, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, 1906-7; पी० सी० दीवानजी, लकुलीश ऑफ कारवन एण्ड हिज पाशुपत कल्चर; पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, डॉ० आलोक मणि त्रिपाठी
3. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, भाग 1- डॉ० आलोक मणि त्रिपाठी
4. अत्रैव

निदर्शन ही हमारा अभीष्ट है। परवर्ती अभिलेखों में भी कायावतार की इस कथा का उल्लेख है।[5] 97 ई॰ के एकलिंग जी शिलालेख (उदयपुर) में कहा गया है कि भगवान् शिव लकुटधारी रूप में कारोहण में अवतरित हुए।[6] उदयपुर के ही 1116 ई॰ के पल्दी शिलालेख में कहा है कि कलियुग में धर्म वृक्ष के विनष्ट होने पर भृगुकच्छ के कारोहण में शिव ने अवतार लिया।[7] शारंगदेव के चित्रा-प्रशस्ति में (गुजरात के सोमनाथ का 13वीं शती का लेख) उल्लेख है कि शिव लाटदेश कैसे आये एवं कारोहण में लकुलीश के रूप में अवतरित हुए। कायावतार की घटना कारोहण में घटित हुई। आधुनिक अवक्खल ही कारवन है, यह बड़ौदा से 19 मी॰ उत्तर आधुनिक कारवन नामक ग्राम है।

पाशुपतसूत्रों के पञ्चार्थ-भाष्य में कहा है कि मनुष्य रूपी कायावतार भगवान् लकुलीश अपने पैरों से चलकर उज्जयिनी आये और कुशिक आदि शिष्यों को उपदेश किया।[8] प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवान् लकुलीशप्रोक्त सूत्र ही पाशुपत सूत्र के रूप में संगृहीत हैं। इसके साथ ही भगवत्कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थ- भाष्य भी मुझे उपलब्ध हुआ।

भगवान् लकुलीश ने अपना प्रथम उपदेश उज्जयिनी में कुशिक को दिया, जैसा कि पाशुपत सूत्र के पञ्चार्थभाष्य से विदित होता है। उज्जयिनी में ही ब्रह्मावर्त देश के शिष्यगण लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।[9] ब्रह्मेश्वर मन्दिर अर्थात् ब्रह्मतीर्थ में लकुलीश ने अपना लकुटपाणि ब्रह्मचारी रूप अभिव्यक्त किया।[10] तत्पश्चात् प्रभासतीर्थ एवं भृगुमण्डल में इस मत का प्रचार-प्रसार हुआ। कारवण माहात्म्य के अन्तर्गत ब्रह्मचारी लकुलीश की मुद्रा का उल्लेख है। उनके बायें हाथ में दण्ड (रुद्रदण्ड) अर्थात् लगुड और दाहिने हाथ में बीजाफल अथवा मातुलिंग रहता था।[11]

---

5. एकलिंग जी स्टोन इन्सक्रिपसन एण्ड दी ओरिजन एण्ड हिस्ट्री ऑफ लकुलीश सेक्ट, जे॰ वी॰ आर॰ ए॰ एस॰, वा॰ 222, (1904-7)
6. एकलिंग जी स्टोन इन्सक्रिपसन एण्ड दी ओरिजन एण्ड हिस्ट्री ऑफ लकुलीश सेक्ट, जे॰ वी॰ आर॰ ए॰ एस॰ वा॰ 222, (1904-7)
7. व्यास-एपी॰ इ॰, 30, 19
8. द्रष्टव्य- इसी ग्रन्थ में पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य, अ॰1 सू॰1
9. पाशुपतसूत्र, पञ्चार्थ भाष्य
10. कारवण माहात्म्य (गणकारिका रत्नटीका) इसी ग्रन्थ में
11. असिदण्ड धरो वामे दक्षिणे बीजपूरकम्।
 —कारवण माहात्म्य गणकारिका, परिशिष्ट

भगवान् लकुलीश की शिष्य-परम्परा के अठारह आचार्यों का उल्लेख मिलता है।[12] उनमें प्रथम कुशिक ही थे। वे पञ्चार्थ-भाष्य में उल्लिखित कुशिक या आद्यकुशिक थे जो कुशिक प्रथम के रूप में माने जाने चाहिए। भाष्य में कुशिक से ईशान तक की परम्परा का उल्लेख है। कुशिक से आरम्भ होने वाली परम्परा में गार्ग्य, मैत्रेय, रूष्य एवं कारुष का नाम उपलब्ध होता है।[13]

बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में जिस माहेश्वर मत की चर्चा की गयी है, उसे शंकराचार्य ने अपने भाष्य में पञ्चार्थ कहा है।[14] अन्य साक्ष्यों से भी विदित होता है कि माहेश्वर मत का विकसित रूप लकुलीश प्रवर्तित पाशुपत सूत्रों का दर्शन पञ्चार्थ दर्शन ही था। इसमें 168 (एक सौ अड़सठ) सूत्र सद्योऽजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशानादि पाँच भागों में विभाजित हैं,[15] जो लकुलीश पाशुपतों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा आधारभूत ग्रन्थ है।[16]

भाष्य के प्रारम्भ में कहा गया है कि पञ्चार्थ-भाष्य कौण्डिन्य ने किया। बृहदारण्यकोपनिषद् के गुरु-परम्पराप्रकरण में कौण्डिन्य नाम एक गोत्र के रूप में उपलब्ध होता है।[17] कौण्डिन्य-शाण्डिल्य से विदित होता है कि कौण्डिन्य एक व्यक्ति भी थे। विशुद्ध मुनि के यमप्रकरण तथा सर्वदर्शनसंग्रह में भाष्यकार का उल्लेख है। इसमें भाष्यकार का नाम राशिकर आया है। राशिकर नाम षड्दर्शन समुच्चय व गणकारिका में भी उपलब्ध है।[18] गणकारिका रत्नटीका में लकुलीश से राशिकर तक एक ही परम्परा की चर्चा है। इस गुरु-परम्परा में सत्तरहवें गुरु राशिकर की चर्चा है। इस प्रकार गणकारिका, सर्वदर्शन संग्रह, विशुद्धमुनि के आत्मसमर्पण, यमप्रकरण तथा षड्दर्शनसमुच्चय में जिन सूत्रों, पञ्चार्थ सूत्रों और उनके भाष्य की चर्चा है वह निश्चित रूप से पञ्चार्थ पाशुपतसूत्र एवं कौण्डिन्य

---

12. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग- डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी
13. द्रष्टव्य- पाशुपत शैवधर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग,- आलोक मणि त्रिपाठी
14. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग
15. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग
16. सर्वदर्शन संग्रह, पृ॰ 309, लकुलीशपाशुपतदर्शनम्-
    ''पञ्चार्थभाष्यदीपिकादौ''- द्रष्टव्य पञ्चार्थ प्रतिपादन पाशुपत शास्त्रं।।
17. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग- डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी पृ॰ 83 अ॰ 13
18. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग- डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी पृ॰ 83 अ॰ 13

कृत पञ्चार्थ-भाष्य ही था। इन साक्ष्यों से यह विदित होता है कि राशिकर एवं कौण्डिन्य एक ही व्यक्ति थे।[19]

कौण्डिन्य कृत पञ्चार्थ-भाष्य का काल चतुर्थ शती के प्रथम सोपान साक्ष्यो से प्रमाणित होता है, जब पाटलिपुत्र एक प्रमुख एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अविजित नगर का स्वरूप ग्रहण कर चुका था[20] उज्जयिनी सांस्कृतिक-धार्मिक केन्द्र बन गयी थी। इस समय एक साधारण व्यक्ति के राजा होने का उल्लेख है।[21]

इस समय मनु के नियम एवं व्यवस्था स्थिर हो चुकी थी। भाषा के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ पर महाभाष्य का प्रभाव है तथा वैयाकरण शैली का उपयोग किया गया है। नाट्यशास्त्र एवं गान्धर्वशास्त्र के उल्लेख से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ दूसरी शती ईसवी से पूर्व का नहीं है।[22] इस समय तक न्यायसूत्र एवं वैशेषिक सूत्र पूर्णतः प्रकाश में आ चुके थे[23] जैसा कि भाष्य से स्पष्ट होता है।

पाशुपत दर्शन को कौण्डिन्य पाँच भागों में बाँटते हैं– कार्य, कारण, योग, विधि एवं दुःखान्त। विशेष विवरण हेतु प्रकृत लेखक का पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन का प्रथम भाग द्रष्टव्य है।

इस स्रोत ग्रन्थ में दूसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह है-गणकारिका रत्नटीका। लकुलीश पाशुपत धर्म एवं दर्शन को नैयायिक पाशुपतों ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बनाया-इसका साक्ष्य भासर्वज्ञकृत गणकारिका रत्नटीका है। गणकारिका नामक आठ श्लोकों के रचनाकार के रूप में आचार्य हरदत्त का उल्लेख मिलता है।[24] भासर्वज्ञ, गणकारिका रत्नटीका के लेखक हैं। उनका समय दसवीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया गया है।[25] साक्ष्यों से यह भी विदित होता है कि पूर्वनाम के रूप में यह प्रथमांश नाम की परम्परा पाशुपताचार्यों में विद्यमान थी। इस भव से ही भी शब्द निर्मित

---

19. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग–डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी पृ॰ 84
20. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग–डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी
21. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग–डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी
22. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, प्रथम भाग-डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी
23. वही,
24. वही,
25. वही,

है[26] कुमारपाल के समय के विक्रम संवत् 1212 के सौराष्ट्र में मंग्रोल के सौधाली अभिलेख में पाशुपताचार्य भासर्वज्ञ का नाम मिलता है। भासर्वज्ञ पाशुपत थे। गणकारिका रत्नटीका में उन्होंने पाशुपताचार्य राशिकर (कौण्डिन्य) तथा उनके पञ्चार्थ-भाष्य का उल्लेख किया है।

इसमें साठ पञ्चक (पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त) और एक गण तीन अवान्तर भेदों से जानने योग्य है। इन नवगणों का ज्ञाता व संस्कारकर्ता गुरु कहलाता है। इस प्रकार गुरु का यहाँ अत्यधिक महत्त्व है।[27] यहाँ दु:खान्त को जीवन का लक्ष्य कहा गया है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा यहाँ दु:खान्त विशेष है। यहाँ सम्पूर्ण दु:खों की निवृत्ति दु:खान्त है। यह अनात्मक एवं सात्मक है। सम्पूर्ण दु:खों का अत्यन्ताभाव अनात्मक एवं महेश्वर लक्षण की सिद्धि सात्मक है। कहा जाता है– **'अन्यत्र तु दु:खनिवृत्तिरेव दु:खान्त इह तु परमैश्वर्यप्राप्तिः'** सम्पूर्ण दु:खों की परिसमाप्ति तो होती ही है परमैश्वर्य की प्राप्ति भी होती है। यह सिद्धि ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति रूप है।

मैंने इन पाण्डुलिपियों के प्रकाशन को इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा क्योंकि शैव दर्शन के इतिहास में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा हिन्दी भाषा में इनका अनुवाद भी अद्यावधि अनुपलब्ध है।

अत: अध्येताओं, शोध कर्ताओं की सुविधा के लिए मैंने हिन्दी भाषा में इनका अनुवाद भी प्रस्तुत किया है; साथ में तांत्रिक तत्त्वों की व्याख्या का भी प्रयास किया है, जो पाशुपत शैव दर्शन के अध्येता के लिए अमूल्य एवं उपयोगी साबित होगा।

इसी के साथ वायु संहिता, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य– पत्याधिकरण, माधवाचार्य विरचित शंकर दिग्विजय का अंश, सायण माधव का नकुलीश पाशुपत दर्शन आदि के अनूदित अंश भी इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं, जो पाशुपत शैव धर्म के स्रोत रूप में संगृहीत हैं।

आशा करता हूँ ये सभी मूल्यवती सामग्रियाँ शोध के लिए विद्यार्थियों के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होंगी।

---

26. पाशुपत शैव धर्म एवं दर्शन, भाग 1 पृ॰ 125– डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी
27. इसी ग्रन्थ में द्रष्टव्य गणकारिका रत्नटीका।

प्रिय पत्नी श्रीमती उषा किरण त्रिपाठी एवम् प्रिय पुत्रों– इन्द्र–श्वेताभ, अग्नि–उत्कर्ष एवं शिवम् को स्नेहिल आशीर्वाद के साथ अनुज श्री अपूर्व तथा अनन्त को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ को पुस्तक रूप में लाने के लिए हमेशा अनुरोध किया।

प्रो॰ विजय कुमार पाण्डेय जी बराबर यह प्रेरणा देते रहे कि ग्रन्थ पुस्तक रूप में शीघ्र आये, मैं उनका आभारी हूँ। प्रकाशन सम्बन्धी कार्य के लिए डॉ॰ राधेश्याम शुक्ल जी का विशेष रूप से आभारी हूँ।

अब उन सर्वज्ञ को नमस्कार है।

अनादि सृष्टि का संहार, पालन एवं निर्वाण करने वाले शाश्वत एवं असीम ऐश्वर्यशाली सम्पूर्ण पञ्चार्थद्रष्टा को नमस्कार है, जो पञ्चार्थ ज्ञान रूपी हाथ से भवकूप में गिरे हुए द्विजन्मा का उद्धार करते है, उन सदगुरु को नमस्कार है।

नमः सर्वज्ञाय
अनादिसृष्टिसंहारस्थितिनिर्वाणकारिणे।
नित्यानन्त्येश्वत्वाय नमः सर्वार्थदर्शिने।।
संसारकूपपतितं यः समुद्धरति द्विजम्।
पञ्चार्थज्ञान हस्तेन तस्मै सद्गुरवे नमः।।

डॉ॰ आलोक मणि त्रिपाठी
रीडर
इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद

अनुक्रम

आमुख (vii)

१. पाशुपत सूत्र पञ्चार्थ भाष्य १-२२०
मूल एवं हिन्दी अनुवाद सहित

२. आचार्य भासर्वज्ञ विरचिता गणकारिका रत्नटीका
मूल एवं हिन्दी अनुवाद २२१-२७३

३. शिवपुराण
वायुसंहिता: पूर्वभाग एवं उत्तरभाग २७५-३०६

४. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य ३०७-३१२

५. माधवाचार्यविरचित शङ्करदिग्विजय ३१३

६. नकुलीशपाशुपतदर्शनम् ३१४-३२०

॥श्रीः॥

पाशुपतसूत्रं

भगवत्कौण्डिन्यविरचितभाष्योपेतम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः॥१॥

हितार्थमखिलं येन सृष्टं ब्रह्मादिकं जगत्।
प्रणम्य तं पशुपतिं शिरसा सदसस्पतिम्॥

अर्थातिशयसम्पन्नं ज्ञानातिशयमुत्तमम्।
[1]पञ्चार्थं क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानुपूर्वशः॥

आह-वक्ष्यति भगवान् पञ्चार्थम्। अथास्यादिसूत्रं किमिति। अत्रोच्यते- **अथातः पशुपतेः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्याम** इति। एतत् प्रथमसूत्रं शास्त्रादावुच्चार्यते। तदनन्तरं पदविग्रहः क्रियते। तदुपयोगिनं योगविधिं व्याख्यास्याम इति। अष्टपदं सूत्रम्। तत्र अथ अत इति द्वे पदे नैपातिके। पशुपतेरित्येतत् पदं परिग्रहार्थेनोच्चार्यते। पाशुपतमिति तद्धितम्। योगविधिमिति सामासिकम्। वि आङिति द्वे पदे। ख्यास्याम इत्याख्यातिकम्। आह-किं प्रयोजनं पदविग्रहः क्रियते। तदुच्यते-अर्थप्रसिद्ध्यर्थम्। कस्मादर्थाप्रसिद्धिः? पदानाम्। यस्मात् पृथगर्थानीह पदानि भवन्ति। यस्मादेवं ह्याह-

''यथा विवृतगात्रोऽपि शिरसि प्रावृतो नरः।
नाभिव्यक्तिं व्रजत्येवं सूत्रं विग्रहवर्जितम्॥''

---

१. ''पञ्चार्थं सम्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः'' इति पाठान्तरम्।

एवमर्थप्रसिद्ध्यर्थं पदविग्रहः क्रियते। आह—उक्तः पदविग्रहः प्रयोजनं च। इदं तु वाच्यम्-अथ शास्त्रादिः कः इति। अत्रोच्यते-अथातः पशुपतेरित्येष तावच्छास्त्रादः। तत्र शास्त्रं तन्त्रं ग्रन्थो विद्या च। ग्रन्थार्थयोस्तदधिगमोपायत्वात्। परिमाण्यम् अथशब्दादिशिवान्तं [अ॰१-५] प्रवचनम् सङ्ख्या पञ्चाध्यायाः पन्च ब्रह्माणि अधिकरणं च। अथशब्दात:शब्दव्याख्यान[म्] वचनस्नानशयनाद्युपदेशाच्च [अ॰ १, सू॰ १.२] शिष्याचार्ययोः प्रसिद्धिः। कैवल्यगतानामपि दुःखित्वदर्शनात् कार्यकारणप्रत्यक्षदर्शी विप्रत्वाद् [अ॰ ५, सू॰ २७] उपायोपेयप्रत्यक्षदर्शित्वाच्च प्रश्नप्रतिवक्ता ऐश्वर्यावस्थश्चैव मुक्तत्वान्मनोऽमनः संस्थश्च [अ॰ २, सू॰ २७] कामित्वाद् [अ॰ १, सू॰ २४] अतः सर्वाचार्यविशिष्टोऽयमाचार्य इति। तथा ब्राह्मणग्रहणात् [अ॰ ४, सू॰ २०] स्त्रीप्रतिषेधाद् [अ॰ १, सू॰ १३] इन्द्रियजयोपदेशाच्च [अ॰ ५, सू॰ ७] उक्तं हि-

"बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं मूकता जडता तथा।
उन्मादः कौण्यं कुष्ठित्वं क्लैब्यं गुदावर्तपङ्गुता"॥

[एवम्] आदिरहितः पट्विन्द्रियो ब्राह्मणः शिष्यः। स चान्यविशिष्टोऽयं शिष्य इति। तथा देवादिभ्यश्च क्रीडाधर्मित्वात् क्रीडानिमित्ता ईश्वरप्रवृत्तिः। अनुग्रहार्था चाचार्यस्य प्रवचनवक्तृत्वे प्रवृत्तिः। तथा भजनचोदनप्रसादशिवत्वलिप्सोपदेशाद् दुःखान्तार्थिनः शिष्यस्येहोपसदनप्रवृत्तिः। न तु धर्मार्थकामकैवल्यार्थात्रेति। तथा कामित्वाद् [अ॰ १, सू॰ २४] इन्द्रकौशिकादिभ्यश्चाचार्यो दिव्यो निरतिशयक्रीडैश्वर्यस्वाभाव्यादित्यर्थः। चोदनोपसदनसंस्कारवश्यादिदुः खैरभिभूतत्वाच्चादिव्या इन्द्रकौशिकाद्याः शिष्या इति। तथा शिष्टाप्रामाण्यात् कामित्वाद् [अ॰ १, सू॰ २४] अजातत्वाच्च [अ॰ १, सू॰ ४०] मनुष्यरूपी भगवान् ब्राह्मणकायमास्थाय कायावतरणे अवतीर्ण इति। तथा पद्भ्यामुज्जयिनीं प्राप्तः। कस्मात् शिष्टप्रामाण्यात् चिह्नदर्शनश्रवणाच्च। अत्याश्रमप्रसिद्धं लिङ्गमास्थाय प्रवचनमुक्तवान्; भस्मस्नानशयनानुस्नानानिर्माल्यैकवासोग्रहणाद् [अ॰ १, सू॰ २-५ व १४] अधिकरणप्रसिद्ध्यर्थं च स्वशास्त्रोक्त आयतने शिष्यसम्बन्धार्थं शुचौ देशे भस्मवेद्यामुषितः। अतो रुद्रप्रचोदितः कुशिकभगवानभ्यागत्याचार्ये परिपूर्णपरितृप्त्याद्युत्कर्षलक्षणानि विपरीतानि चात्मनि दृष्ट्वा, पादावुपसंगृह्य न्यायेन जातिं गोत्रं श्रुतमनृणत्वं च निवेदयित्वा कृतक्षणमाचार्यकाले वैद्यवदवस्थितमातुरवदवस्थितः शिष्यः पृष्टवान् भगवन् किमेतेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां सर्वदुःखानामैका-

न्तिकोऽऽत्यन्तिको व्यपोहो स्त्युत नेति। अथोक्तपरिग्रहाधिकारलिप्सासु परापदेशेनोपदेशे सच्छिष्यसाधकपाठप्रसिद्ध्यर्थं कारणपदार्थाधिगमार्थं चात्मनि परापदेशं कृत्वा भगवानेवोक्तवान्-अथेति। अत्र पूर्वप्रकृतापेक्षायामथशब्दः। कथम्। शिष्येणोदीरितं पूर्वं प्रश्नमपेक्ष्योक्तवानथेति। एवमयमथशब्दः पृष्टप्रतिवचनार्थोऽस्ति। स दुःखान्त इत्यर्थः।

आह-किं परीक्षिताय शिष्याय दुःखान्तः प्रतिज्ञातः उतापरीक्षितायेति। उच्यते-परीक्षिताय। यस्मादाह-अत इति। अत्र आतः शब्दः शिष्यगुणवचने। यस्मादयं ब्रह्मावर्तदेशजः कुलजः पट्विन्द्रियो विविदिषादिसम्पन्नः शिष्यः। पूर्व चात्रार्थतो तः शब्दो द्रष्टव्यः।

अथ स दुःखान्तः कुतः प्राप्यते केन वाभ्युपायेनेति। तदुच्यते-पशुपतेः। प्रसादादिति वाक्यशेषः। अत्र पशूनां पतिः पशुपतिः। अत्र पशवो नाम सिद्धेश्वरवर्ज सर्वे चेतनावन्तः। कार्यकरणाञ्जना निरञ्जनाश्च पशवः। आह-किं तेषां पशुत्वम्। उच्यते-अनैश्वर्यं बन्धः। कारणशक्तिसन्निरोधलक्षणमस्वातन्त्र्यमनैश्वर्यं बन्धोऽनादिः। बन्धगुण इत्युपचर्यते [?] । तत् कथंलक्षणमिति चेत्? तदुच्यते-पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। तत्र पाशा नाम कार्यकरणाख्याः कलाः ताश्च कला उपरिष्टाद् वक्ष्यामः। ताभिः पाशिताः बद्धाः सन्निरुद्धाः शब्दादिविषय- परवशाश्च भूत्वावतिष्ठन्ते इत्यतोऽवगम्यते स्वातन्त्र्यमनैश्वर्यं बन्धः। कार्यकरणरहितस्य पशुत्वं निवर्तत इति चेत् [न]। तदुच्यते-संहृतानामपि पुनः पुनः संबन्धग्रहणाच्छास्त्रे। किं चान्यत्। पश्यनाच्च पशवः। यस्माद्विभुत्वेपि चित्समवेतत्वेऽपि च शरीरमात्रमेव पश्यन्त्युपलभन्ति च न बहिर्द्धानि। कार्यकरणरहिताश्च न कार्यकरणं प्रतिपद्यन्ते त्यजन्ति वा। धर्माधर्मप्रकाशदेशकाल- चोदनाद्यपेक्षितत्वाच्च। अतः सुष्ठूक्तं पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। यस्मादुक्तं-

"साङ्ख्ययोगेन ये मुक्ताः साङ्ख्ययोगेश्वराश्च ये।
ब्रह्मादयस्तिर्यगन्ताः सर्वे ते पशवः स्मृताः॥"

पतिः कस्मात्? आप्ति पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति। तान् केनाप्नोति? केन रक्षति?। ततां विभुशक्त्या। यस्मात् तत्रापि शक्तिमस्यानन्तां नातिवर्तन्ते। विप्रत्वा [च्चा] [अ॰ ५, सू॰ २७] स्यानन्ता ज्ञानशक्तिः अपरिमिता। तया अपरिमितया अपरिमितानेव प्रत्यक्षान् पशूनाप्नोतीति पतिः। तथा पालयतीति प्रभुशक्तिः। कस्मात्?। तच्छन्दात् तेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिः स्थितिरिष्टानिष्टस्थानशरीरेन्द्रिय-

विषयादिप्राप्तिर्भवति। तत्परिदृष्टानां तत्प्रचोदितानां चेत्यर्थः। एवं पशुपतेरिति कार्यकारणयोः प्रसादस्य चोद्देशः। तस्मात् प्रसादात् स दुःखान्तः प्राप्यते। न तु ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यत्यागमात्रादित्यर्थः।

आह-कुत्रस्थस्य कदा कीदृशस्य वा स भगवान् प्रसीदतीति?। उच्यते-यदानेन तु तत् प्राप्तं भवति। आह-किं तद् इति? उच्यते-पाशुपतम्। अत्र पशुपतिनोक्तं परिगृहीतं पशुपतिमधिकृत्य चारभ्यत इति पाशुपतम्। यथा वैष्णवं मानसमिति।

किं तदिति?। उच्यते-योगम्। अत्रात्मेश्वरसंयोगो योगः। स पुनः वेरुषस्याध्ययनादिनैमित्तिकत्वादन्यतरकर्मजः स्थाणुश्येनवत्। चोदनाध्ययनादि-वचनाद् मेषवदुभयकर्मजः। यस्मात् सति विभुत्वे अनधिकारकृतत्वाद् वियोगस्य। वियुक्तस्यैव च संयोग उपदिश्यते। विषयरक्तविरक्तवत् क्रियायोगे। इह तु समाधिलक्षणे योगे संनियम इति।

आह-किं परिज्ञानमात्रादेव तद्योगः प्राप्यते?। उच्यते। यस्मादाह-तत्प्राप्तौ विधिं व्याख्यास्यामः। अत्र योगस्य विधिः योगविधिरिति षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अत्र सूक्ष्मस्थूलसबाह्याभ्यन्तरसलक्षणविलक्षणक्रियासु विधिसंज्ञा यज्ञविधिवत्। न तु सेनावनादिवत्। कस्मात्?। क्रियाणां क्षणिकानां समुदायासम्भवात्। यद्येवं विधिः कस्मात्?। विधायकत्वाद् विधिः। उपायोपेयभावाच्च। विधिमिति कर्म।

एवं सदुःखान्तः कार्यकारणयोगो विधिरिति पञ्चैव पदार्थाः समासत उद्दिष्टाः। ते व्याख्येयाः। व्याख्यानमेतेषा विस्तरविभागविशेषोपसंहारनिगमनानि। तस्माद् अन्यद् व्याख्येयम् अन्यद् व्याख्यानम्। यस्मादाह-व्याख्यास्यामः। अत्र विः विस्तरे विभागे विशेष च भवति। तत्र विस्तर इति प्रत्यक्षानुमानाप्तवचनमि [?नानी] ति प्रमाणान्यभिधीयन्ते। तत्र प्रत्यक्षं द्विविधम्-इन्द्रियप्रत्यक्षम् आत्मप्रत्यक्षं च। इन्द्रियप्रत्यक्षमिन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धघटाद्याः, व्याख्यानतापमूत्रपुरीष-मांसलवणप्राणायामैः सिद्धम्। आत्म प्रत्यक्षं तदुपहार [अ० १, सू० ८] कृत्स्नतपो [अ० ३, सू० १९] दुःखान्तादि [अ० ५, सू० ४०] वचनात् सिद्धम्। यथा प्रस्थेन मितो ब्रीहिः प्रस्थः। परमार्थतस्त्विन्द्रियार्थसम्बन्धव्यञ्जकसामग्र्यं धर्माधर्मप्रकाश-देशकालचोदनाद्यनुगृहीतं सत् प्रमाणमुत्पद्यते। आत्मप्रत्यक्षं तु चित्तन्तःकरणसम्बन्धसामग्र्यम्। अनुमानमपि प्रत्यक्षपूर्वकम्; चित्तात्मान्तः-करणसम्बन्धसामग्र्यं च धर्माधर्मप्रकाशदेशकालचोदनादिस्मृतिहेतुकम् उत्प्रत्यनुग्रह-तिरोभावकालादि। तैश्चोत्तरसृष्टिकर्तृत्वमनुमीयते कारणस्य। अतो नोत्सूत्रम्। तच्च

द्विविधंम्–दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च। तत्र दृष्टमपि द्विविधम्–पूर्ववच्छेषवच्च। तत्र पूर्वदृष्टो यं षडङ्गुलीयकः स एवेति पूर्ववत्। विषाणादिमात्रदर्शनाद् गौरिति शेषवत्। सामान्यतोदृष्टमपीह गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिं दृष्ट्वा चास्यादित्यादिगतिप्रसिद्धिः। त्रैकाल्येऽप्यर्थाधिगमे निमित्तं प्रमाणम्। आगमो नाम आ महेश्वराद् गुरुपारम्पर्यागतं शास्त्रम्। आगमोऽलौकिकादिव्यवहारहेतुराचक्षितः स्मृतः। रुद्रः प्रोवाच [अ० ५, सू० ८] वचनात् सिद्धिः। एष्वेवोपमानार्थापत्तिसम्भवाभावैतिह्यप्रतिभादीनां व्याख्याय-मानानामन्तर्भावः। एवमेतानि त्रीणि प्रमाणानि। प्रमापयिता भगवांश्चोदकः। प्रमाता पुरुषः। प्रमेयाः कार्यकारणादयः पञ्च पदार्थाः। प्रमितिः संवित्। संवित् संचिन्तनं सम्बोधोविद्याभिव्यक्तिरित्यर्थः। उद्देशनिर्देशाधिगमाच्च विर्विस्तरे भवति। विभागो नाम पदपदार्थसूत्रप्रकरणाध्यायाद्यसङ्करः। विशेषो नाम साध्यसाधन व्यतिरेकः। आङिति व्याख्यामर्यादायां भवति। पदात् पदं सूत्रात् सूत्रं प्रकरणात् प्रकरणम् अध्यायादध्यायम् आबोधादापरिसमाप्तेरिति, मर्यादावस्थस्येव च वक्ष्यामः। ख्याप्रकथने। प्रतीताप्रतीताभिः संज्ञाभिः वेदादिविहिताभिः व्यतिरेकेण च व्याख्यास्यामः। स्या इत्येष्ये काले। यावदयमाचार्यो गृहस्थादिभ्योऽभ्यागतं पूर्वमतःशब्दात् परीक्षितं ब्राह्मणं व्रतोपवासाद्यं महादेवस्य दक्षिणस्यां मूर्तौ सद्योजातादिसंस्कृतेन भस्मना संस्करीति उत्पत्तिलिङ्गव्यावृत्तिं कृत्वा मन्त्रश्रावणं च करोति तावदेष्यः कालः क्रियते। म इति प्रतिज्ञायां भवति। उत्थानादिगणो सम्यग्व्यवस्थितस्य व्याख्येयव्याख्यानयोर्भगवानेव क्रमशो वक्ता। स्थूलोपायपूर्वकत्वात् सूक्ष्मविधेयाधिगमस्य पूर्वाश्रमनियमप्रतिषेधार्थमत्या श्रमयमनियमप्रसिद्ध्यर्थं च [प्राग्?] विधिः प्रथमं व्याख्यायते। इत्यत्रायं पदार्थोपन्यासः परिसमाप्त इति।।१।।

अत्राह-प्रतिपन्नांशो यथाविधि प्रथमं व्याख्यायते। इदमिदानीं चिन्त्यम्। अथास्य कश्चादिः?। किं मध्यं? कोन्तः? कत्यङ्गो वा विधिरिति?। तदुच्यते-भस्मनाद्यो [अ० १, सू० २] निन्दामध्यो [अ० ३, सू० ५] मूढान्तश्च [अ० ४, सू० ८] विधिः। स च त्र्यङ्गो दानयजनतपोङ्ग इति। तत् कथमवगम्यते यस्मादिदमारभ्यते–

भस्मना त्रिषवणं स्नायीत।।२।।

अत्र भस्म वामद्रव्यं यदमीन्धनसंयोगान्निष्पन्नम्। तत् परकृतं पार्थिवं भुक्तं दीप्तिमत्। ग्रामादिभ्यो भैक्ष्यवद् भस्मार्जनं कर्तव्यम्। स्नानशयनानुस्नानकृत्य-बन्धुत्वान्निष्परिग्रहत्वादहिंसकत्वाद् उत्कृष्टमेव शुचि प्रभूतं ग्राह्यं साधनत्वात्

अलाभे स्वल्पमपि ग्राह्यम। आधारोप्यलाबुचर्मवस्त्रादिरत्र प्रसिद्धः। आह-किं तेन भस्मना कर्तव्यम्?। तदुच्यते-भस्मनेति तृतीया करणार्थे कर्तुः क्रियामादिशति, यथा वाश्या तक्षणं बुद्ध्या पिधानम्। आह-अथ कस्मिन् काले सा क्रिया कर्तव्येति?। **त्रिषवणम्** इति। द्विगुः समासः। त्रीणीति सङ्ख्या। सवनमिति कालनिर्देशः। पूर्वसन्ध्या मध्यान्हसन्ध्या अपरसन्ध्येति सन्ध्यात्रयम्। त्रिषवणं त्रिसन्ध्यं त्रिकालमित्यर्थः। आह-त्रिषवणं किमनेन कर्तव्यम्?। तदुच्यते-**स्नायीत**। अत्र स्नानं शौचकार्येण शरीरेष्वागन्तुकानां स्नेह-त्वग्लेपमलगन्धादीनां भस्मनापकर्षणं कर्तव्यम्। स्नानं तु भस्मद्रव्यग्रात्रसंयोजनम्। परमार्थतस्तु स्नानादि पुण्यफलसंयोग-धर्मात्मवचनाद् [अ० ५, सू० ३।] आत्मशौचमेवैतत्। केवलं स्नानाद्यकलुषा [अ० १, सू० १८] पहतपाप्मादिवचनात् [अ० ३, सू० ६] कार्यकरणव्यपदेशेनात्मशौचं व्याख्यायते। **इत** इत्येतद् आज्ञायां नियोगे च। नियोगत्वान्नियतं नियतत्वान्नियम इत्यर्थः। कस्मात्। प्रतितन्त्रसिद्धत्वाद् अहिंसकत्वाद् निःश्रेयसहेतुत्वाच्च। भस्मना स्नेयं; न चाद्भिर्विपरीतत्वादित्यर्थः।।२।। किं स्नानमेवैवं भस्मना कर्तव्यम्?। उच्यते। यस्मादाह-

भस्मनि शयीत ॥ ३ ॥

अत्र भस्म तदेव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। भस्मनि इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम्। **शय** इत्युपशमस्य विश्रामस्याख्या। **इत** इत्येतदाज्ञायां नियोगे च। भस्मन्येव रात्रौ स्वप्तव्यं नान्यत्रेत्यर्थः। उक्तं हि-

यथा मृगा मृत्युभयस्य भीता उद्विग्नवासा न लभन्ति निद्राम्।
एवं यतिर्ध्यानपरो महात्मा संसारभीतो न लभेत निद्राम्॥

किञ्च विशेषार्थित्वात्। विशेषार्थी चायं ब्राह्मणः। उक्तं हि-

''न विशेषार्थिनां निद्रा चिरं नेत्रेषु तिष्ठति।
हयानामिव जात्यानामर्धरात्रार्धशायिनाम्॥

तस्मात् परिवृष्टे भूप्रदेशे दिवा परिग्रहं कृत्वा भस्मास्तीर्याध्ययनाध्या-पध्यानाभिनिविष्टेन प्रवचनचिन्तनाभिनिवेशैश्च श्रान्तेन बाहूपधानेन सद्योजाता-दिसंस्कृते भस्मनि रात्रौ स्वप्तव्यमित्यर्थः।

किमर्थमिति चेत्। उच्यते-तपोर्थं भूप्रदेशे शौचार्थं विश्रामार्थं वा। समविषमनिम्नोन्नतायां भूमौ यामं यामद्वयं वा स्वप्तव्यमित्यर्थः।।३।।

आह-किं स्नानं शयनं च भस्मना प्रयोजनद्वयमेवात्र कर्तव्यम् उतान्यदपि?। सवनान्तस्थस्यास्याशौचकं प्राप्तस्य निर्घातकं किमिति?। तदुच्यते-

अनुस्नानम् ॥४॥

मन्त्रादिस्नानवत्। अत्र **अनु** इति पृष्ठकर्मक्रियायां भवति। अनुपानानुगमनवत्। **स्नानं** तु भस्मद्रव्यसंयोजनमेव। सवनत्रयं स्नानस्यान्तरेषु भुक्तोच्छिष्टक्षुतनिष्ठीवितमूत्रपुरीषोत्सर्गादिनिमित्तकम् अशौचकमभिसमीक्ष्य तदनुस्नानं कर्तव्यम्। किमर्थमिति चेत्?, शौचार्थं लिङ्गाभिव्यक्त्यर्थं च। स्नेयमित्यर्थः॥४॥

आह-किं भस्मैवैकं लिङ्गाभिव्यक्तिकारणम्?। भक्तिविवृद्धौ वा अप्रतिषिद्धस्य साधनं किमिति?। तदुच्यते-

निर्माल्यम् ॥५॥

अत्र भस्मवल्लोकादिप्रसिद्धं निर्माल्यम्। **निर** इति निर्मुक्तस्याख्या। **माल्यम्** इति पुष्पसमूहपर्यायः। तत् परकृतं कारणमूर्त्यारोपितावतारितं निष्परिग्रहं पद्मोत्पलाद्यम्। भक्तिविवृद्ध्यर्थं लिङ्गाभिव्यक्त्यर्थं च तद् धार्यमित्यर्थः॥५॥

आह-भस्मानिर्माल्येन तस्य लिङ्गं व्यक्तं भवतीति क्व सिद्धम्?। तदुच्यते-अह। यस्मादाह-

लिङ्गधारी ॥६॥

अत्र यथान्येषामपि वर्णाश्रमिणामाश्रमप्रतिविभागकराणि लिङ्गानि भवन्ति। तत्र गृहस्थस्य तावद् वासस्त्रयं वैणवी यष्टिः सोदकं च कमण्डलु सोत्तरोष्ठवपनं यज्ञोपवीतादि लिङ्गम्। तथा ब्रह्मचारिणोऽपि दण्डकमण्डलुमौञ्जीमेखलायज्ञोपवीतकृष्णाजिनादि लिङ्गम्। तथा वानप्रस्थस्यापि करीरचीरवल्कलकूर्चजटाधारणादि लिङ्गम्। तथा भिक्षोस्त्रिदण्डमुण्डकमण्डलुकाषायवासोजलपवित्रस्थलपवित्रादि लिङ्गम्। एवमिहापि यदेतत् पाशुपतयोगाधिकरणं लिङ्गमित्याश्रमप्रतिविभागकरं भस्मस्नानशयनानुस्नाननिर्माल्यैकवासादिनिष्पन्नं स्वशरीरलीनं पाशुपतमिति लौकिकादिज्ञानजनकं तत्। लीयनाल्लिङ्गनाच्च लिङ्गम्। तद् धारयन् लिङ्गधारी भवति। दण्डधारि चेदित्यर्थः॥६॥

आह-अथैते स्नानशयनानुस्नानादयोऽर्थाः क्व कर्तव्याः?। कुतो वा

निर्माल्यस्यार्जनं कर्तव्यम्?। कुत्रस्थेन वा तद् धार्यम्?। कृतालिङ्गेन क्व वा क्व वस्तव्यम्?। तदुच्यते-आयतने। यस्मादाह-

आयतनवासी ॥७॥

अथ [?त्र] भस्मनिर्माल्यवल्लोकादिप्रसिद्धम् **आयतनम्**। आङ् इति मर्यादायां भवति। यस्मादेते गृहस्थादयः प्रयतनियतशुचिसाध्वाचाराः स्वस्वमर्यादयोपतिष्ठन्ते यजन्ति च शान्तिपौष्टिकादिभिः क्रियाभिरिति। यजनाच्चायतनम्। तस्मिन् परकृते आयतने वस्तव्यमिति **वासी** इत्यायतनं च परिगृह्णाति। भूप्रदेशे आकाशे वृक्षमूले वहिः प्रादक्षिण्येन वा यत्र क्वचित् प्रतिवसन् शिष्टमर्यादया आयतनवासी भवति। पुलिनवासवद् वसेदित्यर्थः। पुण्यफलावाप्तिश्चास्याशु भवति। उक्तं हि-

ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये पुण्यस्थानं हि शूलिनः।
आवासो धर्मतृप्तानां सिद्धिक्षेत्रं हि तत् परम् ॥७॥

आह-तस्मिन्नायतने प्रतिवसता काः क्रियाः कर्तव्याः?। किं स्नानाद्या उपलेपनाद्या वा?। आहोस्विद् दृष्टा अस्यान्या वैशेषिक्यः क्रियाः कर्तव्याः?। यथाचान्या वैशेषिक्यः क्रियाः कर्तव्याः प्रयोजनं च वक्ष्यामः-

हसितगीतनृत्तडुंडुंकारनमस्कार, जप्योपहारेणोपतिष्ठेत्॥८॥

अथ त्रिषु स्नानकालेषु सद्योजातादिसंस्कृतेन भस्मना जपता स्नात्वा जपतैवायतनमभिगन्तव्यम्।[१] अभिगम्य च यत् पूर्व जपति तत् प्रत्याहारार्थं जप्यम् ॐ ॐ ॐ। हसितादीनि तु कृत्वा यत् पश्चाज्जपति तन्नियमार्थं जप्यम्। तदत्र **हसितं** नाम यदेतत् कण्ठोष्ठपुटविस्फूर्जनमट्टहासः[२] क्रियते तद्धसितम्। **गीतमपि** गान्धर्वशास्त्रसमयानभिष्वङ्गेण यत्र भगवतो महेश्वरस्य सभाया[३] गौणद्रव्य-जकर्मजानि नामानि चिन्त्यन्ते तत्। संस्कृतं प्राकृतं परकृतमात्मकृतं वा यद् गीयते तद् गेयम्। **नृत्तमपि** 'नाट्यशास्त्रसमयानभिष्वङ्गेण हस्तपादादीनामुत्क्षेपण-

---

१. ''हुडुक्कार''।

२. ''कण्ठोष्ठपुटविस्फूर्जनपुरस्सरमहहहेत्यट्टहासः''।

३. ''गुणधर्मादिनिमित्तानां चिन्तनम्''।

४. ''नाट्यशास्त्रानुसारेण'' इति सर्वदर्शनसङ्ग्रहे।

मवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं चलनमनवस्थानम्। नियमकाले नियमार्थं गेयसहकृतं नृत्तं प्रयोक्तव्यम्। डुंडुंकारो नाम य एष जिह्वाग्रतालुसंयोगान्निष्पद्यते पुण्यो वृषनादसदृशः सः। डुंडुंकरणं डुंडुंकारः। कारशब्दो डुंडुंकारस्योपहाराङ्-गावधारणार्थः। **नम** इति। नाप्योष्ठीयं कर्तव्यं नोपांशु। मानसं तु नमस्करणं नमस्कारः।

कारशब्दो वाचिकोपांशुप्रतिषेधार्थं मानसोपहाराङ्गावधारणार्थं चेत्यर्थः। **जप्यं** नाम सद्योजातादिष्वक्षरपङ्क्त्यां मनसा भावस्य सञ्चारविचारः। तज्जप्यम्। **उपेति** विशेषणे क्रियोपसंहारे समस्तत्वे च। उपहरणाद् **उपहारो** व्रतं नियम इत्यर्थः। उपह्रियते निवेद्यते नियोगमात्रकर्तृत्वात् साधकेनेत्युपहारः। **[उपतिष्ठेद्]**। अत्रोपेत्यभ्युपगमे। अभ्युपगतेन विधिस्थेन प्रणतविनतेनेत्यर्थः। तिष्ठेदित्यैकाग्र्यं प्रत्याहाराभावस्थितिमेवाधिकुरुते। सर्वकरणानां वृत्तौ प्रत्याहारं कृत्वा कायिकवाचिकमानसिकाभिः क्रियाभिरुपहारं कृत्वा भृत्यवदुपहारेणा स्थेयम्। अपसव्यं च प्रदक्षिणमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः॥८॥

आह-कस्य निर्माल्यं धार्यम्?। कस्य वा आयतने वस्तव्यम्?। क्व चोपस्थेयमिति?। तदुच्यते-

महादेवस्य दक्षिणामूर्त्तेः॥९॥

अत्र महान् इत्यभ्यधिकत्वे। सर्वक्षेत्रज्ञानामभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यभ्यधिकः। ऋषिर्विप्रः, अधिपतिः [अ॰ ५, सू॰ २६, ४४]। सदाशिवत्वमभ्यधिकत्वं च प्रवक्ष्यामः। अत्र **देव** इति दिवु क्रीडायाम्। क्रीडाधर्मित्वात्। अग्न्युष्णत्ववत्। क्रीडावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयति अनुगृह्णाति तिरोभावयति च। उक्तं हि-

अप्रचोद्यः प्रचोद्यैस्तु कामकारकरः प्रभुः।
क्रीडते भगवान् लोकैर्बालः क्रीडनकैरिव॥

देवस्य इति षष्ठी। स्वस्वामिभावः सम्बन्धः। परिग्रहार्थमेवाधिकुरुते। अत्र **दक्षिणेति** दिक्प्रतिविभागे भवति। आदित्यो दिशो विभजति। दिशश्च मूर्ति विभजन्ति। मूर्तिर्नाम यदेतद् देवस्य दक्षिणे पार्श्वे स्थितेनोदङ्मुखेनोपान्ते यद् रूपमुपलभ्यतं वृषध्वजशूलपाणिनन्दिमहाकालोर्ध्वलिङ्गादिलक्षणं यद्वा लौकिकाः प्रतिपद्यन्ते महादेवस्यायतनमिति तत्रोपस्थेयम्। दक्षिणामूर्तिग्रहणात् पूर्वोत्तर-

पश्चिमानां मूर्तीनां प्रतिषेधः। मूर्तिनियोगाच्च मूर्त्यभावे नियमलोपः। भैक्ष्यानुपयोगान्निर्घातानामुक्तत्वाच्चेत्यर्थः। विधिरित्युपदिष्टानामर्थानां भस्मस्नानोपदेशादप्सुस्नानादीनां प्रतिषेधः। भस्मशयनोपदेशाद् विषयशयनादीनां प्रतिषेधः। आयतने वसत्यर्थोपदेशाच्छेषवसत्यर्थप्रतिषेधः। हसिताद्युपदेशाच्छेषोपहारप्रतिषेधः। निर्माल्योपदेशात् प्रत्यग्राणां माल्यानां प्रतिषेधः। भस्मनिर्माल्यलिङ्गोपदेशाच्छेषलिङ्गप्रतिषेधः। महादेवग्रहणादन्यदेवताभक्तिप्रतिषेधः। दक्षिणामूर्तिग्रहणात् पूर्वपश्चिमानां मूर्तीनां प्रतिषेधः। एवं [दक्षिणामूर्तिरित्युक्ते] अस्य ब्राह्मणस्य पूर्वप्रसिद्धा नियमा नियमैः प्रतिषिध्यन्ते। कीलकप्रतिकीलकवत् पुराणोदकनवोदकवच्चेति।।

अत्रेदं भस्मप्रकरणं समाप्तम्।

आह-नियमाभिधानादेव हि संशयः। यत्र यमास्तत्र नियमाः। मिथुनमेवैतद् यस्मात्। अतो न संशयः। यमा अस्मिन् तन्त्रे के चिन्त्यंन्ते?। उच्यते-प्रसिद्धा यमाः अहिंसादय[1] च इति। अत्र त्वन्येषाम्-

''अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यासंव्यवहारकौ।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै संप्रकीर्तिताः।।

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः संप्रकीर्तिताः।

तद्वदस्माकं न भवति। कस्मात्?। नियमनिवृत्तिदर्शनात्। अस्मिन् हि तन्त्रे कालान्तरिता नियमा [नि] वर्तन्ते। [कथम्] आ देहपाताद् यमानां न निवृत्तिरस्ति। कस्मात्?। हिंसादिदोषात्। तस्मादहिंसाद्या दश[2] सर्वे ते यमाः प्रत्यवगन्तव्याः।

आह-यद्येवं नियमनिवृत्तौ भ्रष्टनियमस्य पतनप्रसङ्गः। उच्यते-अवसितप्रयोजनत्वान्न पतनप्रसङ्ग। किन्च यमानां प्राधान्यात्। उक्तं हि-

पतति नियमवान् यमेष्वसक्तो
न तु यमवान् नियमालसो वसीदेत्।

---

१. गणकारिका में विशुद्धमुनि के यमप्रकरण का तृतीय श्लोक, पृष्ठ २४
२. देखिये-सूतसंहिता, ज्ञानयोगखण्ड, अ० १३ का १० यम।

इति यमनियमौ समीक्ष्य बुद्ध्या
यमबहुलेष्वतिसन्दधीत बुद्धिम्।।

तस्मान्न पतनप्रसङ्गः। अतः प्रसिद्धा यमा अहिंसादयः। आह-किं प्रसिद्धा इति कृत्वा गृह्यन्ते?, आहोस्विच्छक्यमेतेषां यमानां सर्वज्ञोक्तशास्त्रतः सद्भावो वक्तुम्?। उच्यते-यद्यन्यत्र प्रसिद्धा इति कः। तत्र चिन्त्यते। कस्मात्। कृतोपदेशात्। यसमादुक्तं सूत्रतः-कृतम् [अ॰ ४, सू॰ ७] इत्यत्र। कृताप्रतिषेधादकृतप्रतिषेधाच्च कृत्स्ना हिंसा तन्त्रे प्रतिषिद्धा द्रष्टव्येत्यर्थः। सा च हिंसा त्रिविधा भवति। दुःखोत्पादनम् अण्डभेदः प्राणनिर्मोचनमिति। तत्र दुःखोत्पादनं नामक्रोशनतर्जनताडननिर्भर्त्सनादिबहुभेदोऽपि चतुर्विधस्यापि भूतग्रामस्य मनोवाक्कायकर्माभिरभिद्रोहो न कर्तव्यः। एवमहिंसा भवत्येतेषां जन्तूनाम्। [अण्डभेदो नाम]-दाहतापधूमोपरोधपरिहारार्थग्निमभिकरणादानसम्पदानप्रतिनिधानसन्धुक्षणादीनि न कुर्यात्; नैव कारयेत्। [तथा प्राणनिर्मोचनं नाम]-वस्त्रशिक्यभस्माधारभैक्ष्यभाजनादीनि मुहुर्मुहुर्विविचयितव्यानि। कस्मात्। प्राणिनो हि सूक्ष्मचारिणः क्षिप्रमेव विलयं प्रयान्ति। तस्मात् सूक्ष्मैरङ्गपवित्रैः पक्ष्मचामरतालवृन्तैर्वस्त्रान्तरैर्वा मुहुर्मुहर्विग्रन्थोदकेन वा। हरितेषु तृणेषु नसंसिक्ते भूप्रदेशे भवति। वसन्तग्रीष्महैमन्तिकान् अष्टौ मासान् भिक्षुर्विचक्रमेत्। दयार्थं सर्वभूतानामेकत्र वर्षासु वसेत्।

''वर्षाभेदं तु यः कुर्याद् ब्राह्मणो योगदीक्षितः।
प्राजापत्येन कृच्छ्रेण ततः पापात् प्रमुच्यते।।

शारीरं दृश्यते यत्र भयं कस्याञ्चिदापदि।
दुर्दिने राष्ट्रभङ्गे वा वर्षास्वपि व्यतिक्रमेत्।।

नासूर्यं च व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिपूताभिरद्भिश्च नित्यं कुर्यात् प्रयोजनम्।।

संवत्सरकृतं पापं मत्स्यबन्धस्य यद् भवेत्।
एकाहात् तदवाप्नोति अपूतजलङ्ग्रही।।

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनः पूतं समाचरेत्।।

हिंसकास्तु निवर्तन्ते ब्रह्मत्वमपि ये गताः।
तस्मादपूतमुदकं नोपयुञ्जीत योगवित्।।

अथ नष्टे पवित्रे च गृह्णीयात् त्रिषु वै सकृत्।
नदीप्रस्रवणे चैव गृहस्थेषु च साधुषु॥

काण्डानि यानि गृह्यन्ते कन्दाश्चैव प्ररोहिण:।
बीजानि चैव पक्वानि सर्वाण्येतानि वर्जयेत्॥

यदा न कुर्याद् द्रोहं च सर्वभूतेषु दारुणम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा॥

यो न हिंसति भूतानि स्थावराणि चराणि च।
आत्मानमिव सर्वाणि सो मृतत्वाय कल्पते॥

न यज्ञदानैर्न तपोग्निहोत्रैर्न ब्रह्मचर्यैर्न च सत्यवाक्यै:।
न वेदविद्याध्ययनैर्व्रतैर्वा प्राप्यं फलं यद्यदहिंसकस्य॥

यो दद्यात् काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चैव वसुन्धराम्।
समुद्रं रत्नपूर्णं वा न तुल्यं स्यादहिंसया॥''

इत्येवमहिंसा तन्त्रे सिद्धा

२. तथा ब्रह्मचर्यं च तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्?। स्त्रीप्रतिषेधात् [अ० १, सू० १३], इन्द्रियजयोपदेशाच्च [अ० ५, सू० ७]। त्रयोदशकस्य करणस्यानुत्सर्गो ब्रह्मचर्यमित्युक्तम्। विशेषेण तु जिह्वोपस्थयोरिति। अत्राह-विशेषणग्रहणं किम्प्रयोजनम्। त्रयोदशकस्य करणस्यानुत्सर्गो ब्रह्मचर्यमित्युक्त्वा जिह्वोपस्थयोर्विशेषग्रहणं किम्प्रयोजनं क्रियते। उच्यते-प्रधानत्वात्। तन्मूलत्वादितरप्रवृत्ते:। तन्मूला हीतरेषां प्रवृत्तिर्भवति। कथम्। जिह्वेन्द्रियविषये उपस्थेन्द्रियविषये वा सक्त: त्रयोदशभि: प्रवर्तते। अत एतदुक्तं विशेषेण [तु] जिह्वोपस्थयोरिति।

''जिह्वोपस्थनिमित्तं हि पतनं सर्वदेहिनाम्।
तस्मादमित्रवत् पश्येज्जिह्वोपस्थं हि मानव:॥''

अथवा मन:पूर्वकत्वात् सर्ववृत्तीनां तन्निग्रहात् सर्ववृत्तीनां निग्रह: कृतो भवति। उक्तं हि-

''मनो हि मूलं सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥''

पुनरप्युक्तम्-

''इन्द्रियैः प्रसृतैर्दुःखमिन्द्रियैर्निभृतैः सुखम्।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना।।

इन्द्रियाणि हि तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च।।

अतो जन्म अतो दुःखमतो मृत्युभयं तथा।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गाद् वै तस्मादेतान् जयामहे।।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।

रज्जुरेषा निबन्धाय या स्त्रीषु रमते मतिः।
छित्त्वैनां कृतिनो यान्ति नैनां त्यजति दुष्कृती।।

स्त्रीहेतोर्निर्गमो ग्रामात् स्त्रीकृते क्रयविक्रयः।
स्त्रियो मूलमनर्थानां नैनां प्राज्ञः परिष्वजेत्।।

विषमग्निरसिर्बाणाः स्फुटं कृत्वा [त्या] विभीषिका।
माया रूपवती ह्येषां यां स्त्रियं मन्यते जनः।।

अमेध्यपूर्णे कृमिजन्तुसङ्कुले स्वभावदुर्गन्ध अशौच अध्रुवे।
कळेबरे मूत्रपुरीषभाजने रमन्ति मूर्खा न रमन्ति पण्डिताः।।

माद्यतीति स्त्रियं दृष्ट्वा सुरां पीत्वा न माद्यति।
तस्माद् दृष्टिमदां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्।।

अधोमुखेनादंष्ट्रेण जघनान्तरचारिणा।
सर्वशास्त्रचिकित्स्येन जगदष्टं भगाहिना।।

लोमशेन कुरूपेण दुर्गन्धेन कुचर्मणा।
हरिणीपदमात्रेण सर्वमन्धीकृतं जगत्।।

दीप्ताङ्गरसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
य प्रसक्ता विलीनास्ते ये स्थितास्ते दिवं गताः।।

यथाग्निरेधस्संवृद्धो महाज्योतिः प्रकाशते।
तथेन्द्रियनिरोधेन स्वात्मज्योतिः प्रकाशते॥

ब्रह्मचर्ये स्थितं धैर्यं ब्रह्मचर्ये स्थितं तपः।
ये स्थिता ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणा दिवि ते स्थिताः॥

क्षीरं पिबन्ति मधु ते पिबन्ति
सोमं पिबन्त्यमृतेन सार्धम्।
मृत्योः पुरस्तादमरा भवन्ति।
ये ब्राह्मणा ब्रह्मचर्यं चरन्ति॥''

इत्येवं ब्रह्मचर्यं तन्त्रे सिद्धम्।

३. तथा सत्यं तन्त्रे सिद्धम्। तच्च द्विविधम्। तद्यथापरिदृष्टार्थं भूतार्थं वचनं वाक्सत्यं चेति। तत्र परिदृष्टार्थभूतार्थं वचनं सत्यं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्। व्याख्यानोपदेशात् [अ० १, सू० १], विद्वदुपदेशाच्च [अ० ३, सू० १९]। तथा वाक्सत्यमपि तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्। वाग्विशुद्ध्युपदेशात् [अ० ५, सू० २७]। इह स्वशास्त्रोक्तं भाषतो नृतमपि सत्यमापद्यते। कस्मात्। शुद्धिवृद्धिकरत्वात्। यस्मादाह-

''स्वर्गमनृतेन गच्छति दयार्थमुक्तेन सर्वभूतानाम्।
सत्येनापि न गच्छति सतां विनाशार्थमुक्तेन॥''

पुनस्त्वाह-

''गोब्राह्मणार्थे[१] वचनं हिमस्ति [ ]
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥''

''[२]सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥''

यथा हि तेषामेव भूतानां हितमनृतमपि सत्यमापद्यते, एवमिहाप्यस्माकं स्वशास्त्रोक्तं भाषतामनृतमपि सत्यमापद्यते। कस्मात्?। विधिविहितत्वात्। इत्यतदपि तन्त्रे सिद्धम्।

---

१. ''न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति'' इति महाभारते आपद्धर्मपर्वणि।
२. मनुस्मृतिः ४.१३८।

४. तथा असंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्?। अव्यक्त-प्रेत-[अ॰ ३, सू॰ १ व २] उन्मत्त-मूढोपदेशात् [अ॰ ४, सू॰ ६ व ८]। नेह लोके अव्यक्तप्रेतोन्मत्तमूढाः संव्यवहारं कुर्वन्ति यस्माद्, अतो त्रासंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः। संव्यवहारश्च पुनर्द्विविधः। तद्यथा-क्रयविक्रयसंव्यवहारो राजकुलसंव्यवहारश्चेति। अत एवतरेणाप्यत्राधिकृतस्यात्मपीडा परपीडा चावर्जनीये भवतः। तत्र यद्यात्मानं पीडयति, तेनेहैव लोके दुःखी भवति। स्यात् परं पीडयति, तत्राप्यस्याधर्मो दुःखादिफलः प्रचीयते। तेनामुष्मिन् लोके तीव्रं दुःखमनुभवति। तस्मादुभयथापि संव्यवहारो वर्जनीयः। भवति ह्यपि–

''यश्च पापं प्रकुरुते यश्च पापं प्रशंसति।
सहायश्चोपभोक्ता च सर्वे ते समकर्मिणाः॥''

उक्तं हि-

''विक्रये तु महान् दोषो विक्रयात् पतते यतः।
एष एव क्रये दोषस्तस्मात् तं परिवर्जयेत्॥

प्रच्छन्नं कुरुते पापं न मे जानाति कश्चन।
मुच्यते जनवादेभ्यस्तस्मात् पापान्न मुच्यते॥''

पुनरप्युक्तम्-

''आदित्यचन्द्रावनिलो नलश्च
द्यौभूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम्॥
नारम्भशीलो न च दम्भशीलः
शास्त्रोपदिष्टानि करोत्यदीनः।
यमेषु युक्तो नियमेषु चैव
मुनिर्भवत्येष्वजरोऽमरश्च॥''

इत्येवम् असंव्यवहारस्तन्त्रे सिद्धः।

५. तथा अस्तेयं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्?। अत्रासोपदेशात् [अ १, सू ११], [1]अनुत्सृष्टान्नप्रतिषेधाच्च [अ ४, सू ७]। इह विद्यमानस्याप्येकस्य वाससो

---

१. मनुस्मृतिः ४.२०२, २०३।

मलवदवस्थितस्यावासोपदेशात् परिग्रहपरित्याग उपदिश्यते। किञ्चान्यदपि। परित्यक्तानामन्नपानादीनामुपयोगो दृष्टो यस्मात्। अतोऽत्रास्तेयं तन्त्रे सिद्धम्। स्तेयं च पुनः षड्विधम्। तत्र अदत्तादानम् अनतिसृष्टग्रहणम् अनभिमतग्रहणम् अनधिकारप्रतिग्रहः अनुपालम्भः अनिवेदितोषयोगश्चेति। अदत्तस्य ग्रहणमदत्तादानम्। अनतिसृष्टग्रहणं नाम बालोन्मत्तप्रमत्तवृद्धदुर्बलानां वित्तापहरणम्। अनभिमतग्रहणं नाम कीटभ्रमरपक्षिपतङ्गादीनाम् अनभिप्रेतद्रव्यापहरणम्। अनधिकारप्रतिग्रहो नाम इह शास्त्रे अनभ्यनुज्ञातानामर्थानां गोभूहिरण्यद्विपदचतुष्पदादीनां ग्रहणम्। अनुपालम्भो नाम कुहककल्कनडम्भविस्मापनवर्धापनादिभिरुपायैः परेभ्यो हिरण्याच्छादनोपयोगः। अनिवेदितोपयोगो नाम भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्यादीनामन्यतमं यत्किञ्चिद् गुरवे निवेदितमुपयुङ्क्ते स उच्यते अनिवेदितोपयोग इति। एवं षड्विधं स्तेयम्। अस्य षड्विधस्यापि स्तेयस्य परिवर्जनमस्तेयमाहुराचार्याः। भवति ह्यपि-

"यदेतद् धनमित्याहुः प्राणा ह्येते बहिश्चराः।
स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम्॥"

उक्तं हि-

"सर्वस्वपरिमोष्टा च जीवितान्तकरश्च यः।
द्वावेतौ समकर्माणौ तस्मात् स्तेयं विवर्जयेत्॥

न स्तेनस्य परो लोको नायं लोको दुरात्मनः।
शङ्कितः सर्वभूतानां द्रोहात्मा पाप एव सः॥

[1]मृदमापस्तथा यानं पत्रं पुष्पं फलान्यपि।
असंवृतानि गृह्णीयात् पवित्रार्थीह कार्यवान्॥

नद्यश्च वाप्यः कूपाश्च तटाकानि सरांसि च।
असंवृत्तानि गृह्णीयात् [2]प्राजापत्येन कर्मणा॥"

इत्येवमस्तेयं तन्त्रे सिद्धम्।

६. अक्रोधस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्?। शूद्रप्रतिषेधात् [अ० १, सू० १३] अतितापोपदेशाच्च [अ० २, सू० १६]। इहाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां

---

१. प्रायश्चित्तेनेत्यर्थः।
२. "क्रव्यादौ" इति पाठान्तरम्।

सर्वद्वन्द्वानां मनसि शरीरे च उपनिपतितानां सहिष्णुत्वमप्रतीकारश्चेति यस्मात् कृतो [तो] ऽत्राक्रोधः तन्त्रे सिद्धः। क्रोधश्च पुनश्चतुर्विध। तद्यथा-भावलक्षणः कर्मलक्षणः वैकल्यकरः उद्वेगकरश्चेति। तत्र भावलक्षणो नाम सः, यत्रासूयाद्वेषमदमानमात्सर्यादयो भावाः प्रवर्तन्ते। कर्मलक्षणो नाम यत्र कलहवैरसम्प्रहरणाद्या भावाः प्रवर्तन्ते। वैकल्यकरो नाम यत्र पाणिपादनासाक्ष्यङ्गुलिप्रहरणादयो भावाः प्रवर्तन्ते। उद्वेगकरो नाम यत्र स्वात्मानं परात्मानं वा प्राणैर्वियोजयति। इत्येवं चतुर्विधः क्रोधः। अस्य चतुर्विधस्यापि क्रोधस्य परिवर्जनम् अक्रोधमाहुराचार्याः। तस्माद् देशजातिकुलकर्मसम्बन्धनिन्दायां करणक्रियायां कार्यनिन्दायामाहारनिन्दायां वाधिकृतेन क्रोधो न कर्तव्यः। तत्र देशनिन्दा तावद् भवति। तद्यथा-यत्र भवान् जातस्तत्र देशे ब्राह्मणा एव न सन्तीति यदि कश्चिदधिक्षेपं कुर्यात्, तत्र क्रोधो न कर्तव्यः। तत्रैतत् स्याद् एवम[भि] हिते तीव्रदुःखं मानसमभिव्यज्यते। कथमत्र क्रोधो न भविष्यतीति। उच्यते-न भविष्यति। कस्मात्? परिसङ्ख्यानसामर्थ्यात्। इह मनुष्यलोके देशो यं नाम मातापितृहेतुकः औपचयिकः कार्यपिण्डः शरीराख्यः। स तस्माद् भवः []।

क्षेत्रज्ञस्तु चेतनः सर्वगतः शुचिः। अस्य चास्माकं चान्तरमविदितम्। अपरिदृष्टार्थे भवानेतद् वा ब्रूयात्। अतः क्रोधनिमित्तासम्भावात् परिसङ्ख्यानसामर्थ्येन क्रोधो न कार्यः। एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम्। भवति ह्यपि-

"शृङ्गवान् नखवान् दंष्ट्री विकृता रुधिराशनः।
[१]राक्षसो वा पिशाचो वा क्रोधिष्णुर्जायते नरः॥"

पुनश्चाह-

"कङ्कगृध्रसृगालेषु दंशेषु मशकेषु च।
पन्नगेषु च जायन्ते नराः क्रोधपरायणाः॥

विद्विष्टः सर्वभूतानां बह्वमित्रोल्पबान्धवः।
क्रूरधर्मा दुराचारः क्रोधिष्णुर्जायते नरः॥

क्रुद्धः करोति पापानि क्रुद्धः पापानि भाषते।
क्रुद्धो भवति निर्लज्जस्तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्॥"

---

१. देखिये गणकारिकाव्याख्या, ग्रहण इत्यादि, पृष्ठ १७।

तथाचोक्तम्-

''यत् क्रोधतो जपति यच्च जुहोति यद्वा
यद्वा तपस्तपति यचददाति सर्वम्।। [?]।
वैवस्वतो हरति पूर्तमनुष्य सर्व
मिथ्या श्रुतं भवति तस्य शमो पि तस्य।।

धन्यास्ते पुरुषव्याघ्रा ये बुद्ध्या क्रोधमुत्थितम्।
शमयन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाभ्भसा।।

यतो रूपं ततो ज्ञानं यतो ज्ञानं ततस्तपः।
यतस्तपस्ततः सिद्धिर्यतः सिद्धिस्ततः क्षमा।।

क्षमा सर्वपरं मित्रं क्रोधः सर्वपरो रिपुः।
क्षमावतामयं लोकः परो लोकः क्षमावताम्।।''

एतस्मात् कारणात् क्षन्तव्यमित्येवमक्रोधस्तन्त्र सिद्धः।

७. तथा गुरुशुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा। कस्मात्?। व्याख्यानोपदेशाद् [अ॰ १, सू॰ १], विद्वदुपदेशाच्च [अ॰ ३, सू॰ १९। इह चोक्तं विधिं व्याख्यास्यामः [अ॰ १, सू॰ १] इति। अत्राङिति मर्यादायाम्। म इति प्रतिज्ञायां भवति। मयि वर्तते। मयि तिष्ठतीति। यदि चेष्टं वत्स्यसि यदि चेष्टं स्थास्यसि ततस्तं वक्ष्यामः। तत्रंष्टमित्यष्टाङ्ग'[1] ब्रह्मचर्य मर्यादामधिकुरुते। तद्यथा-उत्थानप्रत्युत्थानाभिवादन [गुरूकार्य] गुरुकार्यहितकारी अनुत्तरोत्तरवादी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी प्रेषिताप्रेषतसर्वकार्यकृतज्ञः सर्वनिवेदितात्मा दक्षो दाक्षिण्यानुरक्तः स्नानोद्वर्तनसंवाहनादिभिः क्रियाविशेषेः छायेवानुगतो नित्यमिदं कृतम् इदं करिष्यं किं करवाणीति भूत्वा गुरवे हरहर्वर्तितव्यम्। यस्तु विद्यां गुरोरधिकृत्य बहुभ्यः सम्प्रयच्छति, अनेनास्य विद्याया दानेन गुरवः शुश्रूषिता भवन्ति। क्षीणे च ब्रह्मचर्ये नियतं गुरुषु यद् गौरवं तद् ब्रह्मचर्यम्। भवति ह्यपि-

''गुरुर्देवो गुरुः स्वामी गुरुर्माता गुरुः पिता।
यस्यैवं निश्चितो भावः श्रेयस्तस्य न दूरतः।।

---

१. देखिये-गणकारिकाव्याख्या, ग्रहण इत्यादि, पृष्ठ १७।

अभिसूर्येन्दुताराभिश्चाक्षुषोऽर्थः प्रकाशते।
भूतं भव्यं भविष्यं च गुरुवाक्यैः प्रकाशते॥

देशकैर्गम्यते ध्वानं [?] देशकैर्गम्यतेऽर्णवः।
देशकैर्गम्यते स्वर्गो गुरुर्मोक्षस्य देशकः॥

अमृतस्य प्रदातारं यो गुरुं ह्यवमन्यते।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते॥

[1]गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा यत्र प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः॥

आचार्य पूजयेद् यस्तु सर्वावस्थं हि नित्यशः।
पूजितस्तेन भवति शिवो वै नात्रऽसंशयः॥

आचार्यमूर्तिमास्थाय शिवो ज्ञानं प्रयच्छति।
तस्माद् वै नावमन्तव्य आचार्यः श्रेय इच्छता॥
ग्रन्थार्थविदुषे नित्यं योगमार्गानुदर्शिने।
सर्वार्थेनापि कर्तव्यः परितोषो विजानता॥

ऋचं वा यदि वार्धवं पादं वा यदि वाक्षरम्।
सकाशाद् यस्य गृह्णीयान्नियतं तत्र गौरवम्॥

लिङ्गकर्त्री यथा माता शास्त्रकर्ता यथा पिता।
प्रबोधकृद् गुरुस्तेषां तदेवायतनं महत्॥"

इत्येवं[2] गुरुशुश्रूषा तन्त्रे सिद्धा।

८. तथा शौचं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्?। भस्मस्नानोपदेशात् [अ० १, सू० २]। तच्च शौचं त्रिविधम्। तद्यथा-गात्रशौचं भावशौचम् आत्मशौचं चेति। तत्र भस्मस्नानोपदेशात् प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचम्। आह-यदुक्तं प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमिति एतदेवायुक्तम्। कस्मात्? पूर्वोत्तरव्याघातात्। इह पुरस्तादुक्तं प्रसिद्धा यमा अहिंसादयो भवन्ति [इति]। यदिह भूयो पि अप्रसिद्धं भस्मना

---

१. मनुस्मृतिः २.२००।
२. देखिये गणकारिकाव्याख्या, तृतीय कारिका।

गात्रशौचमित्यभिधीयते। तस्मादिदं पूर्वोत्तरं न संगच्छति। व्याहतं च भवति। एष दोष इत्यतः पूर्वोत्तरव्याघातात्। तत्र यदुक्तं प्रसिद्ध भस्मना गात्रशौचमित्येतदयुक्तम्[ ]। उच्यते-नायं दोषः। कस्मात्?। प्रसिद्धिदर्शनात्। इहान्यत्रापि प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचमिति। एवं ह्याह-

''संसर्गजाश्च ये दोषा ये चान्ये पितृमातृजाः।
अन्नपानकृताश्चैव सङ्करा देहमाश्रिताः।
सर्वास्तान् दहते भस्म अस्थिमज्जागतानपि॥''

पुनश्चाह-

''केशकीटोपपन्नानि दुष्टान्नानि च यानि वै।
भस्मना स्पृष्टमात्राणि भोज्यान्याहुर्मनीषिणः॥''

पुनरप्युक्तम्-

मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा
स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा।
भस्मोद्ध्वस्तो भस्मराशौ शयानो
रुद्राध्यायी मुच्यते पातकेभ्यः॥
यः स्नानमाचरेन्नित्यमामेयं संयतेन्द्रियः।
कुलैकविंशमुद्धृत्य स गच्छेत् परमां गतिम्॥''

एवमन्यत्रापि प्रसिद्धं भस्मना गात्रशौचम्। तस्माद् युक्तं वक्तुं प्रसिद्धा यमा अहिंसादय इति।

तथोस्पर्शनप्राणायामजप्यैः [अ० १, सू० १४-१६] अकलुषमतिर्भवतीति भावशौचं तन्त्रे सिद्धम्।

''भावमन्तर्गतं दुष्टं न स्नानमपकर्षति।
भावशुद्धिः परा शुद्धिः शेषं श्रृङ्गारमार्जनम्॥
मुत्तिकानां सहस्त्रेण जलकुम्भशतेन च।
न शुद्ध्यन्ति दुरात्मानः पापोपहतचेतसः॥
सत्यं शौचं तपः शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचमद्भिः शौचं तु पञ्चमम्॥

शौचमेव परं तेषां येषां नोत्पद्यते स्पृहा।
प्रतिग्रहे तथारम्भे इन्द्रियाणां च गोचरे।।''

यस्मादाह–

''सर्वस्वमपि यो दद्यात् कलुषेणान्तरात्मना।
न तेन धर्मभाग् भवति भाव एवात्र कारणम्।।

यथा यथा हि पुरुष कल्याणीं कुरुते मतिम्।
तथा तथास्य सिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः।।''

इत्येवं भावशौचं तन्त्रे सिद्धम्।

तथात्मशौचं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्?। यस्मादवमानपरिभवपरिवादाद्यैरपहतपाप्मा भवति [अ० ३, सू० ३-७] इत्यात्मशौचं तन्त्रे सिद्धम्। यस्मादन्यैरप्युक्तं–

''कृत्स्नां महीं पर्यटतः सशैलवनकाननाम्।
अपमानात् परं नास्ति साधनं मनुरब्रवीत्।।''

इत्येवं शौचं तन्त्रे सिद्धम्।

९. तथा आहारलाघवं तन्त्रे सिद्धम्। कस्मात्? भैक्ष [अ० ५, सू० १४] उत्सृष्ट-[अ० ४, सू०७] यथालब्धोपदेशात् [अ० ५, सू० ३२]। स्वल्पमपि अनुपायतोर्जितमलघु, प्रभूतमपि उपायतोर्जितं लब्ध्वेव द्रष्टव्यम्। उक्तं हि–

''चरेन्माधुकरीं वृत्तिं वल्मीकनिचयोपमाम्।
अक्रुद्धश्चाप्रहृष्टश्च तपस्तद्धि सनातनम्।।

यश्चरेत् सर्वभोज्येषु भैक्ष्यं च व्यवहारतः।
भुञ्जीत प्रतिग्रहृणीयात् प्रशस्तानां स्वकर्मसु।।

चातुर्वर्ण्यं चरेद् भैक्ष्यं पतितांस्तु विवर्जयेत।
पयश्चापश्च भैक्ष्यं च सममेतन्न संशयः।।

भैक्ष्यशेषं तु यो भिक्षुर्यदि किञ्चित् समुत्सृजेत्।
ग्रासे ग्रासे तु कर्तव्याः प्राणायामास्त्रयस्त्रयः।।

सन्निधानं न कुर्वीत सर्वावस्थो पि योगवित्।
सन्निधानकृतैर्दोषैर्यतिः सञ्जायते कृमिः॥

माधूकरमसङ्कल्पं प्राक्प्रवृत्तमयाचितम्।
[1]तत्तकालोपपन्नं च भैक्ष्यं पन्चविधं स्मृतम्॥

गृहाद् गृहं पर्यटंस्तु न गृहं परिवर्जयेत।
परस्य वचनं श्रुत्वा दुष्टवेश्म विवर्जयेत्॥

अदुष्टापतितं साधुं भिक्षुको यो व्यतिक्रमेत्।
स तस्य सुकृतं दत्त्वा दुष्कृतं प्रतिपद्यते॥

तथैव च गृहस्थस्य निराशो भिक्षुको व्रजेत्।
स तस्येष्टं च पूतं च भिक्षुरादाय गच्छति॥

अकृते वैश्वदेवे तु भिक्षुके गृहमागते।
अद्धृत्य वैश्वदेवार्थं भिक्षुकं तु विसर्जयेत्॥

वैश्वदेवकृतान् दोषान् शक्तो भिक्षुर्व्यपोहितुम्।
नहि भिक्षुकृतान् दोषान् वैश्वदेवो व्यपोहति॥

दशाहं द्वादशाहं वा यत्र भिक्षा न लभ्यते।
तद् गृहं वर्जयेद् भिक्षुरूषराणीव कर्षकः॥

चतुरक्षरसंयुक्तां भिक्षां तु समुदाहरेत्।
एष प्रव्रजिनां धर्मः शेषस्तु क्रयविक्रयः॥

न हसेन्न चाभिप्रेक्षेत् भिक्षामिच्छंस्तु भिक्षुकः।
गोदोहमात्रं सन्तिष्ठेन्नोपतिष्ठेत् कदाचन॥

जरामरणगर्भेभ्यो भीतस्य नरकादपि।
भयात् क्षपयते यस्मात् तस्माद् भैक्ष्यमिति स्मृतम्॥

दधिभक्षाः पयोभक्षा येन्ये यावकभक्षिणः।
सर्वे ते भैक्ष्यभक्षस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

---

१. 'यदृच्छया चांपयत्रम्' इति पाठान्तरम्।

तप्तकाञ्चनवर्णेन गवां मूत्रेण यावकम्।
पिबेद् द्वादश वर्षाणि न तद् भैक्ष्यसमं भवेत्।।

मासि मासि कुशाग्रेण यः पिवेत् सोममग्रजः।
भैक्ष्यं चाव्यवहारेण तुल्यं भवति वा न वा।।

भैक्ष्यमन्नं परं श्रेयो भैक्ष्यमन्नं परं शुचि।
भैक्ष्यं हि व्रतिनां श्रेष्ठं भैक्ष्यमेव परा गतिः।।

यद्यज्जलं निर्धमनेष्वपेयं
नदीगतं तत् पुनरेव पेयम्।
तथान्नपानं विधिपूर्वमागतं
द्विजातिपात्रान्तरितं न दुष्यति।।
लवणमलवणं वा स्निग्धमस्नेहिकं वा
सहरसविरसं वा शुष्कमन्नं द्रवं वा।
यदि इह निरवद्यं भुञ्जते भैक्ष्यमन्नं
स खलु भवति भिक्षुर्भिक्षुधर्मादलुप्तः।।''

तथोत्सृष्टं यथालब्धं च तत्रैवावसरप्राप्तत्वात् प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं, सूत्रतोऽर्थनिर्देशं करिष्यामः। इत्येवमाहारलाघवं तन्त्रे सिद्धम्।

१०. तथा अप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः। कस्मात्?। अप्रमादोपदेशात् [अ० २, सू० १२] जप्योपदेशाच्च [अ० १, सू०८]। इह नित्यं यमेष्वप्रमत्तेनोपस्थितस्मृतिना भवितव्यम्। उक्तं हि-

''अप्रमादो दमस्त्यागो ब्राह्मणस्य हयाः स्मृताः।
शीलरश्मिसमायुक्तैर्धेयात्मा मानसे रथे[ ]।।

तं ब्रह्मरथमारूह्य गर्भजन्मजरायुतान्।
छिन्दन् मृत्युभयान् पाशान् ब्रह्मभूतो वतिष्ठते।।''

इत्येवमप्रमादस्तन्त्रे सिद्धः। एवं प्रसिद्धा यमा अहिंसादयः।

आह-अविशेषदोषान्न प्रसिद्धा यमाः। इहान्येषामप्यहिंसादीनि धर्मसाधनानि। इहापि च शास्त्रे तान्येव। तस्मात् साध्यसाधननिष्ठास्त्वप्यविशेषः। उच्यते-न। अतिप्रसङ्गदनेकान्ताच्च। यदि धर्मसाधनास्तित्वमात्रसाधर्म्यादहिंसादीनां त्यागः

क्रियते तस्मात् कार्यकारण क्षेत्रज्ञधर्माधर्मसुखदु:खसंसारपदार्थादयोऽपि त्याज्या:। अथ नैवम्, अनेकान्त:। किञ्च त्यागे कृतिहिंसादीनां धर्मसाधनत्वप्रसङ्ग: [ ]। किञ्च अतिदानातियजनातितपोतिगत्यनावृत्त्यादिभि: [अ॰ २, सू॰ १५-१७ व अ॰ ४, सू॰ २०] यमनियमगर्भत्वाद् विधे: सिद्धम् [ ]। नियमविशेषणाच्च नाविशेष:। तस्माद् युक्तमुक्तं प्रसिद्धा यमा अहिंसादय इति। अत एतदुक्तं-महादेवस्य दक्षिणामूर्ते: [अ॰ १, सू॰ ९] इति।।९।।

अत्रेदं यमप्रकरणं समाप्तम्।।

आह-तस्मिन्नायतने प्रतिवसत: का मात्रा?। सा वाच्या गृहस्थादिवत्। तदुच्यते न। यस्मादाह-

एकवासा: ।।१०।।

अत्र **एकम्** इति संख्या। **वास** इत्याच्छादने भवति। तस्य वास: पञ्चविधम्। अण्डजं वोड[दृ] जं वालजं वल्कलजं चर्मजं वा। यत् कुशलेनाभ्युपायेनोपपद्यते तदेकपटलमनेकपटलं वा ग्राम्यादिभ्यो निष्परिग्रहं कौपीनप्रच्छादनमात्रं लज्जाप्रतीकारार्थ चैकं वासो ग्राह्यम्। अस्यैव च सूत्रस्य सामर्थ्यात् सर्वद्रव्यपरित्यागे कृते एकवासोमात्रपरिग्रह: संस्कर्तव्य: शिष्य:। आह-लज्जाविनिवृत्तिरस्य कदा भवतीति? उच्यते-ज्ञानाकलुषाभ्याम्। अत्र यदा प्राप्तज्ञान: क्षीणकलुषश्च भवति तदा तस्य लज्जानिवृत्ति:।।१०।।

आह-किं विनिवृत्तायामपि लज्जायां नियतमेवैकं वासो ग्राह्यम्, आहोस्विदनियतमिति?। उच्यते-अनियतम्। यस्मादाह-

अवासा वा ।। ११ ।।

अत्र अकारो वास:प्रतिषेधे वर्तते। अवाससा नग्नेन यथा-जातेन निष्परिग्रहेण भवितव्यम्। आह-अवासस्त्वे किं ते प्रयोजनम्। तद् वाच्यम् एकवासस्त्ववत्। तदुच्यते-निष्परिग्रहार्थम् अमङ्गलख्यापनार्थं चेति, प्रयोजनद्वयं द्रष्टव्यम्। वाशब्द: शक्त्यशक्त्योर्विचारणे। यद्यशक्तस्तदा अनग्नेनैकवाससा भाव्यम्। यदि शक्तस्तदा अवाससा नग्नेन यथाजातेन निष्परिग्रहेण भवितव्यमित्यर्थ:। न तु वा विकल्पे। विकल्पार्थासम्भवादित्यर्थ:।।११।।

आह-तस्मिन्नायतने प्रतिवसता किमा देहपातादनिर्गच्छतैव स्थेयं ध्यानैकनिष्ठेन शिलावद्, आहोस्विद्गदृष्टो स्यायतनान्निर्गमः भस्मभैक्ष्योदकार्जनादिनिमित्तं, ग्रामादिप्रवेशो वा?। उच्यते-दृष्टः। यस्मात्-

मूत्रपुरीषं नावेक्षेत् ॥१२॥

अत्र मूत्रं च पुरीषं च मूत्रपुरीषम्। चार्थे द्वन्द्वसमासः। अत्र मूत्रं नाम-यदेतदुदरपर्युषितं निस्सरति बहिः स्रवति तन्मूत्रम्। मोचनान्मूत्रम्। मूत्रत्वाभिसम्बन्धाद्धि मूत्रं, लोकादिप्रसिद्धमित्यर्थः। पुरीषं नाम-यदेतत् पीतखादितावलीढानामाहारविशेषाणामाध्यात्मिकेन अग्निना परिपक्वमपानेन स्खलति तत् पुरीषम्। पुरान्निर्गतत्वात् पुरीषत्वाभिसम्बन्धाद् वा पुरीषं, लोकादिप्रसिद्धमित्यर्थः। नकारो दर्शनप्रतिषेधे। न द्रष्टव्यम् इत्यर्थः। **अव** इति अपवर्जनं नामप्रतिषेधे जातिग्रहणेन्द्रियान्तरप्रतिषेधे चेत्यर्थः। **ईक्ष** दर्शने। यदेतन्निजं बुद्धीन्द्रियं चक्षुरनेन चक्षुषा अनया बुद्ध्या मनुष्यादीनां मूत्रपुरीषं न द्रष्टव्यम्[१]। न तु गवादीनामित्यर्थः॥१२॥

आह-किं मूत्रपुरीषसन्दर्शनमात्रमेवास्य प्रतिषिध्यते। उच्यते-न। यस्मादाह-

स्त्रीशूद्रं नाभिभाषेत्॥१३॥

अत्र स्त्री च शूद्रश्च स्त्रीशूद्रम्। चार्थे द्वन्द्वसमासः। अत्र स्त्री नाम सेयं लोकप्रसिद्धा स्तनजघनकेशवती हावभावविलासयुक्ता पुरुषभावस्वभाविका दिव्या मानुषा अतिरतिरसा विषयमूर्तिरिति कृत्वा प्रतिषिध्यते। अनुभाषणपूर्विका चास्याः प्राप्तिभविष्यतीत्यतः स्त्री नाभिभाषितव्येत्यर्थः। शूद्रो नामायं लोकादिप्रसिद्धस्त्रिवर्णपरिचारकः। शोचनाद् द्रोहणाच्च शूद्रः। स खल्वदयालुरिति कृत्वा प्रतिषिध्यते। किमर्थम्? तेनाकृष्टश्चाभिहतश्च वा क्रुद्धस्तद्वधार्थ प्रवर्तते। अतो जातिज्ञानतपः श्रुतहानिर्भवति। सूचिते चावमानाद्यभावे वमानाद्यभावात् सूच्विवृद्ध्योरभावः [ ]। अकलुषसूत्रे [अ० १, सू० १८] चास्य दोषनिर्देशं करिष्यामः। नकारो भाषणप्रतिषेधे। नाभिभाषितव्यमित्यर्थः। **अभिशब्दः** प्रसङ्ग इति। प्रतिषेधे जातिग्रहणे चेतरप्रतिषेधे चेत्यर्थः। **भाष** व्यक्तायां वाचि। यदेतत् कर्मेन्द्रियं वाग् अनया वाण्या इति। अतः स्त्रीशूद्रं नाभिभाषितव्यमित्यर्थः॥१३॥

---

१. मनुस्मृतिः ४.७७।

आह–नावेक्षेन्नाभिभाषेदित्युक्तेऽथ किमनेन साधकेनान्धमूकवदवस्थातव्यमिति?। उच्यते–न। यस्मादाह–

यद्यवेक्षेद् यद्यभिभाषेत्॥१४॥

अत्र यदि यदि इत्याशङ्कायाम्। नाभिभाषेदिति वचनान्निषिद्धेऽप्यर्थे गुर्वर्थमात्मार्थं वा भस्मभैक्ष्योदकार्जनादिनिमित्तं ग्रामादीन् प्रविष्टस्य विण्मूत्रयोः स्त्रीशूद्रयोश्च दर्शनमभिभाषणं च भविष्यतीति कृत्वा। अत एतदुक्तं सर्वज्ञेन भगवता **यद्यवेक्षेद् यद्यभिभाषेद्** इति। अवश्यं भवेदित्यर्थः।।४।।

आह–दृष्टे चाभिभाषिते चोपहतेन निर्घातनं किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते–उपस्पर्शनम्। यस्मात्–

उपस्पृश्य॥१५॥

अत्र **उप** इत्यभ्युपगमे। अभ्युपगमनेन कलुषमतिनेत्यर्थः। **स्पृश्य** इति भस्मद्रव्यगात्रसंयोजनमेव। उपस्पृश्येति स्नानपर्यायः। सचैलोदकस्पर्शन वत्। स च भस्मना कर्तव्यः, नाद्भिः। कस्मात्?। पूर्वोत्तरव्याघातात्। स्नानस्याप्रसङ्गाच्च। उपस्पृश्येति निष्ठा॥१५॥

आह–उपस्पृश्य यदि कलुषं न क्षीणं स्यात्, ततो निर्घातनं किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते–साकाङ्क्षत्वान्निष्ठाशब्दस्य प्राणायामः कर्तव्यः। यस्मादाह–

प्राणायामं कृत्वा ॥१६॥

अत्र **प्राणो** नाम–य एष मुखनासिकाभ्यां निस्सरति वायुरेष प्राणः। तस्य **आयामो** निग्रहो निरोधः स प्राणायामः। स च पुरुषवृत्तिर्द्रष्टव्यः। कस्मात्?। ज्ञानेच्छाप्रयत्नपूर्वकत्वात् प्राणायामस्य च। एकोद्घातो द्विरुद्घातो वा। तथा विंशतिमात्रश्चतुर्विंशतिमात्रस्त्रिंशन्मात्रो वा। मात्रा त्वक्षिनिमेषकालः। स यथाशक्ति यथाबलं कर्तव्यः। तस्मादुपस्पृश्य पद्मकस्वस्तिकोपस्थान्जलिकार्ध- चन्द्रपीठक-दण्डायतसर्वतोभद्रादीनामन्यतमेनासनबन्धेन प्राङ्मुख[1] उदङ्मुखो वा उपविश्यैतान्यङ्गानि कृत्वा ग्रीवामुन्नाम्य पूरणपूर्वको वा रेचकपूर्वको वा तावत् कर्तव्यो यावन्निगृहीता वायवो, ध्यानीभूतश्च भवति। तत्र ध्यानीभूतो नाम यदा

१. 'इयं हि निर्वृतिः पूर्वा संसारादियमुत्तरा' इति बुद्धचरितं।

दन्तिवदन्तः शरीरं पूर्णं भवति। निगृहीतानां तु लक्षणं यदा कूर्मवदन्तःशरीरं उच्छ्वासप्रत्युच्छ्वासा वर्तन्ते स्वच्छेन्द्रियश्च भवति, तदा मन्तव्या निगृहीता वायव इति। ततः शनैः शनैर्मोक्तव्या नासिकया, यथोत्पलपत्रमपि नासापुटस्थं न कम्पयति। तदत्र प्रश्नाक्रान्तौ क्रमेणाक्रमितव्यः, अन्तर्भावेऽन्तरं वायवो भावयितव्याः। अन प्राणने। आङिति आसनबन्धनिभृतनिगृहीतकलुषक्षपणविसर्गादिमर्यादामधिकुरुते। यमु बन्धेन। बन्धयितव्याः। डुकृञ् करणे द्रष्टव्यः। त्वा इति कर्मनिष्ठायाम्। विच्छेदवदित्यर्थः।।१६।।

आह-अथ कृते प्राणायामे यदि कलुषं न क्षीणं स्यात् ततोऽनेन किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-जप्यम्। यस्मादाह-

रौद्रीं गायत्रीं बहुरूपीं वा जपेत्।।१७।।

अत्र त्वाशब्दसामर्थ्याद् गम्यते प्राणसंयमेन समं जप्यं कर्तव्यम्। उपस्पर्शनवत्। तस्मादत्र रौद्री नाम तत्पुरुषा। रौद्री च कस्मात्?। रुद्रस्योपस्थापकत्वाद् रौद्री। रुद्रो वास्यां चिन्त्यते, रुद्रप्रापकत्वाद् वा रौद्री। आह-सद्योजातादिबहुप्रकारा, तत्र का सा रौद्री?। तदुच्यते-गायत्री। अत्र या रौद्री सा गायत्री। गायत्री च कस्मात्?। गीता गातारं त्रायत इति। गायत्रे वा छन्दसि वर्तत इति गायत्री। अत्र रौद्रीग्रहणाद् वैदिक्यादिगायत्रीप्रतिषेधः। इह तु गायत्रीग्रहणात्सद्योजातादीनां प्रतिषेधः। गायत्रीमिति कर्म। बहुरूपी नामाघोरा। बहुरूपी च कस्मात्?। बहुरूपस्योक्त-परिग्रहेष्वाकारेषु वर्तते इति बहुरूपी। बहुरूपो वा अस्यां चिन्त्यत इति, बहुरूपप्रापकत्वाद् बहुरूपी। बहुरूपीमिति कर्म। वा इति विकल्पे। उभयोरपि ब्रह्मत्वम् उभयोरपि तुल्यार्थसाधकत्वम् उभे अपि महेश्वरपरिगृहीते इत्यत एकामनेकां वा उपस्पृश्य जपेदिति मानसी क्रियेत्यर्थः।।१७।।

आह-उपस्पर्शनप्राणायामजप्याधिकृतस्य का कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते-अकलुषत्वम्। यस्मादाह-

अकलुषमतेः।।१८।।

इति। अत्र अकलुषा यस्य मतिः सोऽयम् अकलुषमतिः। बहुव्रीहिसमासः। अत्राकारः कलुषप्रतिषेधे। भावकालुष्यमेवात्र कालुष्यम्। कथं गम्यते?। प्राक्सिद्धत्वात्। इह च पुरस्तादुक्तम्। नावेक्षेद् नाभिभाषेद् [अ॰ १, सू॰ १२ व १३] इत्युक्ते अर्थादापन्नं दृष्टे चाभिभाषिते च द्वेषेच्छाक्रोधा उत्पद्यन्ते। ते चोत्पन्ना

मतावभिव्यज्यन्ते। कालतिलकादिदर्शनवत्। अभिव्यक्तेश्चोच्यते कलुषितोऽहं व्याहतोऽहं मलिनीकृतोऽहमिति। अतो द्वेषेच्छाक्रोधनिमित्तत्वान्मूत्रपुरीष-स्त्रीशूद्रप्रतिषेधाः क्रियते। यदा त्वेते द्वेषादयो भावा बीजक्षयं सति नोत्पद्यन्ते, तदा परं[1] भावशौचं प्रत्यवगन्तव्यम्। कलुषमतेरिति। नैमित्तिकं च कलुषं। न च निमित्तानित्यत्वान्नैमित्तिकं नित्यं भवति। बीजक्षयेऽङ्कुरवत्। न च यत्रैव कलुषमुत्पद्यते तत्रैवोपस्पर्शनादीनि कर्तव्यानि। आयतने तु कर्तव्यानि। अथापि कलुषमुत्पन्नं प्रध्वस्तं स्यात्, तथापि तदर्थं कर्तव्यानि। यदा तु तदवस्थितं संभवति शिरोरोगादिवत् तदा कर्तव्यानि। अत्र मतिरिति बुद्धिरित्यनर्थान्तरम्। अत्रापि करणव्यपदेशेनात्मशौचं व्याख्यायत इत्यर्थः।।१८।।

आह– अकलुषमतिना साधकेन किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते–चरितव्यम्। यस्मादाह–

चरतः।।१९।।

अत्र **चरतः** इति धर्मार्जनमधिकुरुते। भैक्ष्यचरणावत् तपश्चरितव्यं, विहर्तव्यं तपसोऽर्जनं कर्तव्यं, न स्थेयमित्यर्थः। चरत इति वर्तमानकालः।।१९।।

अकलुषमतेश्चरतो वा अस्य का कार्यनिष्पत्तिः । तदुच्यते–

ततोऽस्य योगः प्रवर्तते।।२०।।

अत्र **ततः** इति चर्यापदेशे। ततः चर्याभिनिवेशादनन्तरं तज्जन्यधर्मादित्यर्थः। **अस्य** इति साधकापदेशे। योऽयमकलुषमतिश्चरति तस्येत्यर्थः। आह–किं भवतीति?। तदुच्यते–**योगः प्रवर्तते**। अध्ययनध्यानादिलक्षणः क्रियायोगश्चरतः प्रवर्तत इत्यर्थः। अत्रात्मेश्वरसंयोगो योगः प्रत्येतव्यः। प्र इति आदिकर्मणि, आरम्भे भवति। यदा अकलुषमातिश्चरति तदा प्रवर्तत इत्यर्थात्। तत्र यतः प्रवर्तते?। विषयेभ्यः। प्रत्याहृतचित्तस्य यत् प्रवर्तते तद्योगः(?)। यथा प्रवर्तते?। क्रमशः। येन प्रवर्तते?। तपसा प्रवर्तते। [यस्य प्रवर्तते]?। आत्मनः साधकस्य। यस्मिन् प्रवर्तते?। योऽयमात्मन्यात्मभावः, स महेश्वरे प्रवर्तत इत्यर्थः।।२०।।

---

१. 'तच्चाकलुषत्वं द्विविधं–परमपरं च। तत्र कलुषत्वबीजसद्भावेऽप्युत्पन्नकलुषत्वनिरोधि यावदनागं कलुषं नोत्पद्यते तावत्कालं यदकलुषत्वं तदपरम्। यद्बीजक्षयादत्यन्तनिमित्तसद्भावे पि कलुषं नोत्पद्यते तत् परम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ६।

एवं यस्माद् द्रव्यावस्थानकालदेशक्रियाप्रयोगोच्चावचप्रयोजनयमनियम-वृत्तिवसत्यर्थप्राणायामप्रत्याहारनिमित्तप्रतिषेधसंशयनिर्घातनशौचनियोगफलोपायाश्च व्याख्याता:।

अतोऽत्रायतनप्रकरणं समाप्तम्॥

अत्राह-किं प्रयोजननिष्ठं तन्त्रम्?। उच्यते-न। योगनिष्ठम्। यस्मादाह-युक्तोत्तरे सत्यपि तदार्थवैलक्षण्ये रङ्गपताकादिवच्छिष्यप्रलोभनार्थमिदमारभ्यते-

दूरदर्शन श्रवणमननविज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते॥२१॥

अत्र दूरं नाम यदेतद्[१] दर्शनाद्यं विकरणान्तं माहेश्वरमैश्वर्यम् अनेन कदाचित्प्राप्तपूर्वकं, तस्मिंस्तत्प्राप्तौ च। दर्शनादिष्वाधिकारिकोऽत्र दूरशब्दो द्रष्टव्य:। तत्प्राप्तिश्च योगप्रवृत्ति[व] त:। आहयद्येवं सूत्रतोऽभिधीयन्तां दर्शनादय:। तदुच्यन्ते। [दर्शनम्] **दर्शनम्** इत्यत्रापिच नास्त्रिकं चिन्त्यते। द्रष्टा दर्शनं दृश्यमिति। अत्र द्रष्टा सिद्ध:। दर्शनमस्य सिद्धि: ज्ञानम्। द्रष्टव्यानि रूपाणि। तत् कृत्स्नेषु विषयेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च दर्शनं प्रवर्तत इत्यर्थ:। तथा **श्रवणम्** इत्यत्रापि नास्त्रिकं चिन्त्यते। श्रोता श्रवणं श्रव्यमिति। तत्र श्रोता सिद्ध:। श्रवणमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। श्रव्या: शब्दा:। तदस्य सिद्धस्य श्राव्येष्वर्थेषु समासविस्तरविभागा-विशेषतश्च श्रवणं प्रवर्तत इत्यर्थ:। तथा **मननम्** इत्यत्रापिच नास्त्रिकं चिन्त्यते। मन्ता मननं मन्तव्यमिति। अत्र मन्ता सिद्ध:। मननमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। मन्तव्यानि परचित्तानि। देवमनुष्यतिर्यग्योनीनां धर्मार्थकाममोक्षचित्तानां मन्ता भवतीत्यर्थ:। [तथा] **विज्ञानम्** इत्यत्रापि नास्त्रिकं चिन्त्यते। विज्ञाता विज्ञानं विज्ञेयमिति। तत्र विज्ञाता सिद्ध:। विज्ञानमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। विज्ञेया वृत्तय:। **अस्य** सिद्धस्य **प्रवर्तन्ते** स्वत: प्रादुर्भवन्तीत्यर्थ:।[२]

अस्य ज्ञानमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

---

१. दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान-सर्वज्ञत्व-मनोजवित्व-कामरूपित्व-विकरणत्वान्यष्ट सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टाशेषचाक्षुषस्पर्शादिविषयं ज्ञानं दर्शनम्। अशेषशब्दविषयं सिद्धिज्ञानं श्रवणम्। समस्तचिन्ताविषयं सिद्धिज्ञानं मननम्। निरवशेषशास्त्रविषयं ग्रन्थतोऽर्थतश्च सिद्धिज्ञानं विज्ञानं, स्वशास्त्रं येनोच्यते।''

२. ''उक्तानुक्ताशेषार्थेषु समासविस्तरविभागविशेषतश्च तत्त्वव्याप्तसदोदितसिद्धिज्ञानं सर्वज्ञत्वम्।'' इति सर्वदर्शनसङ्ग्रहे।

सर्वज्ञता॥२२॥

अत्रोक्तेषु दृश्यश्रव्यादिषु च अशेषेषु सिद्धेश्वरपश्वादिषु निर्विशेषवाची सर्वशब्दो द्रष्टव्यः। ज्ञता इत्यत्रापिच नस्त्रिकं चिन्त्यते। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति। तत्र ज्ञाता सिद्धः। ज्ञानमस्य सिद्धिर्ज्ञानम्। ज्ञेयं कार्य कारणं सिद्धाश्चेति। तस्मादेका ज्ञानशक्तिरपरिमितेन ज्ञेयेनानेकेन निकधोपचर्यते। स्फटिकादित्यवच्चास्य सर्वतः प्रवर्तत इत्यर्थः॥२२॥

आह–किमयं सिद्धो ज्ञानमात्रसन्तुष्टः पङ्गुवद्, उत क्रियाशक्तिरप्यस्ति नेति?। उच्यते–अस्ति। यस्मादाह–

मनोजवित्वम्॥२३॥

अत्रागन्तुकत्वात् सर्वज्ञानशक्तिरुक्ता। न तु ऋषित्वविप्रत्व[अ० ५, सू० २७] वदित्यर्थः। [यस्मात्] अत्र मनोजववदित्येवं प्राप्ते समानोपमानत्वाद् मनोजवित्वम् इत्युक्तम्। मनोजववत्। आह–कोऽर्थः सूत्रस्य?। उच्यते-यादृङ् मनसो जवित्वमाशुकारित्वम् ईदृशमस्य सिद्धस्य कर्तृत्वे शीघ्रत्वम्। न चास्य प्रजापतिवत् तपोनिमित्तत्वाद् भावोत्तरा प्रवृत्तिः। किन्तु भावस्य बलीयस्त्वात् प्रवृत्तेरुत्पन्नस्वभावः, करोमीति कृतमेव भवति। विनाशयामीति विनष्टं वा। कस्मात्?। दृक्क्रियोरप्रतीघातत्वात्। त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते वित्तमस्य शक्तिः सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यमीदृशमित्यर्थः[१]॥२३॥

आह–किमस्य सिद्धस्य कर्तव्यं, करणं, कुतो वा करोति?। तदुच्यते–

कामरूपित्वम्॥२४॥

कामरूपी [२]इत्यत्रापिच नास्त्रिकं चिन्त्यते। कामी कामः काम्यमिति। तत्र कामी सिद्धः। कामोऽस्येच्छा। काम्यानि रूपाणि। कथम्?। कमु इच्छायां भवति। रूपाणि यावन्ति यादृशानि चेच्छति तावन्ति तादृशानि च करोति। आत्मायत्तानि चास्य रूपकरणानि पृथिव्यादीनि। विभुत्वाच्च करणानां यत्र यत्र रूपाण्यभिनिर्वर्तयति तत्र तत्र चास्य बुद्ध्यादीनां करणानां वृत्तिलाभो भवति।

---

१. ''निरतिशयं शीघ्रकारित्वं मनोजवित्वम्''। गणकारिका व्याख्या, पृष्ठ १०।

२. देखिये-तैत्तिरीयोपनिषत् प्र० ३, अनु १०।

चक्षुरादिवद् दृष्टान्तात्। नाधिष्ठाता इति चेत्?। तच्च न। कस्मात्? यस्मादाह-रूपीति। अत्र रूपाण्यधितिष्ठतीति रूपी। दण्डिवत्। रूपिवचनाच्च सर्वेषामेव रूपाणां युगपदेवाधिष्ठाता भवति। विभुत्वादभिन्नो महेश्वरात्। इदं च रुद्रसायुज्य [अ॰ ५, सू॰ ३३] निर्देशाद् गम्यते। [त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते] वित्तमस्य शक्तिः सामर्थ्यम्। ऐश्वर्यमीदृशमित्यर्थः[१]। ॥२४॥

आह-परिमितेषु कृत्येषु अशक्तिदर्शनात् सन्देहः। अथ किमयं सिद्धस्तेषां स्वकृतानां रूपाणां संहारे शक्तः, उत विश्वामित्रवदशक्तः इति?। उच्यते। यस्मादाह-

विकरणः ॥२५॥

अत्र विः विनाशे विनाकरणे। विकरणो भवति। विशिखविरथवत्। करणप्रतिषेधात् कार्यप्रतिषेधः कृतो भवति। कस्मात्?। विशिष्टत्वाद् ग्राहकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च करणानाम्। तस्माद् **विकरण** इति कैवल्यम्[२] ॥२५॥

आह-अविशेषाद् इह साङ्ख्ययोगादीनामपि सहैश्वर्येण कार्यकरणत्यागं कृत्वा कैवल्यनिष्ठा। इहापि च शास्त्रे। कथं तस्मादविशेषः?। अथ मतिः निरतिशये मोक्षे नास्ति वैषम्यं, तथाप्यतिदानादिभिः साध्यसाधननिष्ठातोऽथ विशेषः उच्यते। नाविशेषः। यस्मादाह-

धर्मित्वं च ॥२६॥

अत्र गुणधर्मेणायं धर्मी भवति। यदेतद् दर्शनाद्यं विकरणान्तं माहेश्वरमैश्वर्यमस्येशप्रसादात् स्वगुणसंवृत्तं तेनायं गुणधर्मेण धर्मी भवति। कुतः?। त्वमिति भावनिर्देशाद् गम्यते। ऋते पि कार्यकरणे ज्ञाता कर्ता च भवति। ततश्च कैवल्याद्याः सर्वनिष्ठा विशेषिता भवन्ति। च शब्दोऽत्र ज्ञानक्रियाशक्तिसमारोपणार्थः। एवमत्रास्य सिद्धस्य कामरूपिविकरणवचनात् स्वकृतेषु रूपेषु प्रभुत्वं विभु [त्वं] गुणधर्मित्वं च व्याख्यातम्। एतद्युक्तोत्तरे प्रसादाद् गुणाः प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥२६॥

अत्रेदमाधिकारिकमैश्वर्यप्रकरणं परिसमाप्तमिति॥

---

१. "कर्मादिनिरपेक्षस्येच्छयैवानन्तरूपकर्तृत्वाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वम्"।

२. "सम्भृतकार्येन्द्रियस्यापि निरतिशयैश्वर्यसम्बन्धित्वं विकरणाधर्मित्वम्"। गणकारिकाव्याख्या. पृष्ठ १०।

आह-किं परकृतेष्वपि देवमनुष्यतिर्यग्योनिरूपेष्वस्य सिद्धस्य प्रभुत्वं विभुत्वं चास्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

सर्वे चास्य वश्या भवन्ति ॥२७॥

अत्र **सर्वे** निरवशेषाः पशुधर्माण इत्यर्थः। च शब्दः स्वकृतपरकृत-रूपसमुच्चयार्थः। परकृतेष्वपि देवादिरूपेषु प्रभुत्वं विभुत्वं चास्तीति। **अस्य** इति सिद्धस्येत्यर्थः। **वश्याः** विधेयाः। वशवर्तिनश्च भवन्तीत्यर्थः। **भवन्ति** इति भूतार्थवादो निरस्संशयम् ॥२७॥

आह-किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिद् वश्यो भवति नेति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

सर्वेषां चावश्यो भवति ॥२८॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव। **सर्वेषाम्** इति न्यूनपरिग्रहे। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः। **अवश्य** इति। अकारो भूतपूर्व वश्यत्वं प्रतिषेधयति। **भवति** इति भूतार्थवादो निस्संशयम्]। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां शक्तेरवश्यो भवतीत्यर्थः ॥२८॥

आह-किं स्वशक्त्याध्याक्रान्ता वश्या भवन्ति? आहोस्विद् धर्ममर्यादां रक्षन्ति गुरूशिष्यवत्?। गुरोः शक्तः शिष्योऽनाध्याक्रान्तः। यस्मादाह-

सर्वांश्चाविशति ॥२९॥

अत्रापि **सर्वशब्दः** पशुष्वेव निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। च शब्दः पूर्वोक्तसमुच्चये। न केवलमस्य ते वश्याः, किं त्वावेश्याश्चेति। अत्र **आङ्** इति आवेशनमर्यादामधिकुरुते। **विश** प्रवेशने। स तस्य ज्ञानक्रिययोर्विभुत्वेऽपि शक्तिसंयोगादाविश्य प्रत्ययलोपं कर्तुं समर्था भवतीत्यर्थः ॥२९॥

आह-किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिदावेश्यो भवति नेति?। उच्यते न। यस्मादाह-

सर्वेषां चानावेश्यो भवति ॥३०॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव। **सर्वेषाम्** इति न्यूनपरिग्रहे। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिक उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः। **अनावेश्य** इति। अकारो भूतपूर्वमावेश्यत्वं प्रतिषेधयति। अनावेश्यधर्मा भवति। न व्याधिशेषवदवस्थानम्

भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। तदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां चानावेश्या भवतीत्यर्थः ॥३०॥

आह-किमावेशनमात्र एव शक्तो यक्षरथःपिशाचादिवद्, उत प्राणैरपि विप्रयोगं यातनाभिश्च संयोगं कर्तुं शक्तो भवतीति?। उच्यतेशक्तः। यस्मादाह-

सर्वे चास्य वध्या भवन्ति ॥३१॥

अत्रापि **सर्वशब्दः** पशुष्वेव निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। **च** शब्दः समुच्चये। न केवलमस्य ते वश्याः आवेश्याश्च, किन्तु वध्याश्चेति। **अस्य** इति सिद्धापदेशे। **वध्या** इति। वध प्राणविप्रयोगे यातनायां च। प्राणैरपि विप्रयोगं यातनाभिश्च संयोगं कर्तुं समर्थो भवतीत्यर्थः। **भवन्ति** इति भूतार्थवादो निस्संशये। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वे चास्य वध्या भवन्तीत्यर्थः ॥३१॥

आह-किमयं सिद्धस्तेषां कदाचिद् वध्यो भवति नेति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

सर्वेषां चावध्यो भवति ॥३२॥

अत्रापि सर्वशब्दः पशुष्वेव। **सर्वेषाम्** इति न्यूनपरिग्रहे। चशब्दोऽभ्यधिकत्वे। अभ्यधिकः उत्कृष्टो व्यतिरिक्तश्च भवतीत्यर्थः। **अवध्य** इति। अकारो भूतपूर्वं वध्यत्वं प्रतिषेधयति। यदा गुणैर्युक्तः प्राप्तैश्वर्यः सिद्धस्तदा सर्वेषां चावध्यो भवतीत्यर्थः। एवं परकृतेष्वपि देवादिशरीरेषु रूपेषु प्रभुत्वं विभुत्वं च व्याख्यातम्[1] ॥३२॥

अत्रेदं षट्सूत्रीप्रकरणं परिसमाप्तम् ॥

आह-किमस्य सिद्धस्यैतदैश्वर्यं नित्यम्, आहोस्वित् पार्थिवाप्यतैजसवायव्यव्योममानसाहङ्कारिकमहदात्मकादिवदनित्यमिति?। उच्यतेनित्यम्। यस्मादाह-

अभीतः ॥ ३३ ॥

अत्र अक्षयादि [अ॰ १, सू॰ ३४] वचनविरोधाद् अधीतश्चरतीति पाठानुपपत्तिः। तस्मादतीतानागतवर्तमानकालभयं न विद्यत इत्यतो भीतः[2] ॥३३॥

---

१. ''निरतिशयमपराधीनत्वमवश्यत्वम्। सत्त्वान्तरानभिभाव्यज्ञानसम्बन्धित्वमनावेश्यत्वम्। सत्त्वान्तराधीनजीवितरहितत्वमवध्यत्वम्'' गणकारिकाव्याख्या, पृ॰ १०।

२. ''समस्तभयातिक्रान्तत्वमभयत्वम्'', गणकारिकाव्याख्या पृ॰ १०।

आह-अभीतानामपि ब्रह्मादीनां संहारं क्षयः श्रूयते। तस्माद् नाभीतत्वात् नित्यम्। अभीतस्य वा किं लक्षणम्?। तदुच्यते-

अक्षयः ॥३४॥

अत्र अकारः क्षयप्रतिषेधे। अत्र क्षयं नाम सति पुरुषनित्यत्वे पूर्वमस्य ब्राह्मणस्य तैस्तैरैश्वर्यैरपकर्षः। आहङ्कारिकमहदात्मकादिभिरनित्यो योगः। अयं तु अनेन नित्येन माहेश्वरेणैश्वर्येण योगात् पुरुषः **अक्षयः**[1] इत्युपचर्यते। राजकोशवत् कुटुम्बिद्रव्यवत् ॥३४॥

आह-ईश्वराणामपि ययातिप्रभृतीनां जराभिभवनादथ किमयं जीर्यते नेति?। अक्षयस्य वा किं लक्षणम्?। तदुच्यते-

अजरः ॥३५॥

अत्र अकारो जरां प्रतिषेधति। अत्र जरा नाम पलितस्खालित्यादिलक्षणा कार्यस्य, दृक्क्रियाशक्तिहानिश्च करणानाम्। कस्मात्। तत्फलभोक्तृत्वादयं जीर्यत इत्युपचर्यते। इदानीं तु कामित्वाद् विकरणधर्मित्वाच्च [अ॰ १, सू॰ २४-२६] नास्तीत्यतः **अजर**[2] इत्युच्यते ॥३५॥

आह-अजराणामपि देवादीनां संहारादर्वाङ मृत्युर्दृश्यते। अथ किमस्य मृत्युर्विद्यते नेति?। अजरस्य वा किं लक्षण्?। तदुच्यते-

अमरः ॥३६॥

अत्र अकारो मृत्युप्रतिषेधे। मृङ् प्राणत्यागे। अत्र प्राणादिवृत्तिनिरोधो मृत्युरित्युच्यते। कस्मात्?। तत्फलभोक्तृत्वात्। सोऽस्य कामित्वाद् विकरणधर्मित्वाच्च [अ॰ १, सू॰ २४-२६] नास्तीत्यतः **अमर**[3] इत्युच्यते। तस्मादभीताक्षयादि- वचनान्नित्यमैश्वर्यमिति सिद्धम्। ॥३६॥

आह-[4]

---

१. "ऐश्वर्येण नित्यसम्बन्धित्वमक्षयत्वम्"।

२. "कार्येन्द्रियवैकल्यफलेनात्यन्तासम्बन्धित्वमजरत्वम्" गणकारिकाव्याख्या, पृ॰ १०।

३. "प्राणादिवियोगजदुःखासंस्पर्शित्वममरत्वम्" गणकारिकाव्याख्या पृ॰ १०।

४. इह पत्रद्वयं मातृकायां लुप्तम्, सिद्धेश्वरलक्षणादीनि तत्रान्तर्भूतानि स्युः।

सर्वत्र चाप्रतिहतगतिर्भवति ॥३७॥

सर्वत्र अभिप्रेतार्थेषु प्रवर्तमानस्य महेश्वरेणापि अप्रतिबन्धधर्मित्वम् अप्रतीघात:[१] ॥३७॥

इत्येतैर्गुणैर्युक्तो भगवतो महादेवस्य महागणपतिर्भवति ॥३८॥

इत्येतैः पूर्वोक्तैः अवश्यत्वानादेश्यत्वावध्यत्वाभीतत्वाक्षयत्वाजरत्वामरत्वाप्रतीघातत्वाख्यैः अष्टभिर्गुणैः सिद्धिलक्षणैर्युक्तो भगवतो महादेवस्य महागणपतिर्भवति। सर्वपशुभ्योऽभ्यधिकत्वमैश्वर्यातिशयाद्[२] महत्त्वम्। गणाः नन्दिमहाकालादयः। सर्वपश्वादिकार्यस्वामित्वं[३] पतित्वम् ॥३८॥

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्त वक्तुम्-

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ॥३९॥

बृहच्च तेभ्यः सर्वब्रह्मभ्यः स्वयं भवति। जपेद् इति च मानसक्रिया। जप्यं प्रत्यवगन्तव्यम्। उक्तं हि-

> ''जपयज्ञस्तु यज्ञानां विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
> उपांशु स्याच्छतंगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥''

अतो मनसैव जप्तव्यम्। किमर्थमिति चेत्?। तदुच्यते-अधर्मव्युच्छित्त्यर्थं धर्मस्य चाभिवृद्ध्यर्थं तस्य चाकुशलेभ्यो व्यावर्तनार्थं ब्रह्मण्यनवरतपदपङ्क्त्यामुपनिबन्धनार्थं चेत्यर्थः ॥३९॥

आह-किं पुनस्तद् ब्रह्मेति?। अत्रोच्यते-सद्योजाताद्यम्। अथवात्र ब्रह्माध्याययोरंदरस्थः सम्बन्धः। कथम्?। पशुपतेरित्युक्ते सन्देहः। किं नरपतिसुरपतिप्रजापतिप्रभृतिवदस्यैश्वर्यं कृतमनित्यमागन्तुकं वा?। किं चास्य जन्म मृत्युर्वा विद्यते नेति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

सद्योऽजातं प्रपद्यामि ॥४०॥

अत्र सद्यः [इत्य] स्मिन् पदेऽर्थद्वयं चिन्त्यते। संश्च आद्यश्च आप्तिपालनवत्। अत्र सदिति नित्यत्वं। कस्मात्?। विनाशहेत्वभावात्। नित्यं ध्रुवमविनाशि पत्युः

---

१. देखिए गणकारिकाव्याख्या, पृ० १०।
२ ३. देखिये गणकारिका व्याख्या छठी कारिका में।

पतित्वं नान्येषाम्, इत्यतोऽभिधीयते सदिति। आह-[किम्] अयमादिमत्त्वे सति नित्यो मोक्षवत्?। उच्यते-न। यस्मादाह-**आद्यः**। तद्व्यतिरिक्तस्य हेतोरसम्भवादाद्य- मनागन्तुकं पत्युः पतित्वं नान्येषामित्यर्थः। आह-किं नित्यानादित्वे सति पुरुषवज्जायते?। उच्यते-न। यस्मादाह-**अजातः**। अत्र अकारो जन्ममृत्युप्रतिषेधे। . जन्ममृत्युरहितो भगवान् निरञ्जनः। कस्मात्?। साञ्जनवृत्त्यलाभात्। निरभिमानित्वं नान्येषामित्यतः। अजातमिति कर्म। आह-अर्थात् सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च गुणं कारणे ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-प्रपत्तव्यम्। यस्मादाह-प्रपद्यामि। [मि इ] ति साधकापदेशः। तथा ''अमे व्रतपते व्रतं चरिष्यामि[1]'' इति। अत्र प्रशब्दः कारणान्तरेषु सत्त्वाद्यत्वाजा-तत्वप्रतिषेधार्थो भृशार्थश्च। तस्मात् सर्वभावान- भिष्वङ्गेण तदेव कारणं प्रपत्तव्यम्। शरणमभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः[2] ।।४०।।

आह-अत्र प्रपन्नः किं करिष्यति?। किं वा दास्यति?। तदुच्यते-पूजां करिष्यत्यात्मानं च दास्यति। यथाह-

सद्योऽजाताय वै नमः ।।४१।।

आह-सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च पूर्वोक्तम्। **सद्यो जाताय इति चतुर्थी। वैशब्दः** सम्भावने। सत्त्वमाद्यत्वमजातत्वं च धर्मान् सम्भाव्य ब्रवीतिसद्यो जाताय वै नमः। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। नमस्कारेणात्मानं प्रयच्छति, पूजां च प्रयुङ्क्त इत्यर्थः।।४१।।

आह-किंप्रयोजनमात्मानं महेश्वराय प्रयच्छति?। किमस्य दुःखं वा?। किं वा महेश्वरान्मृगयते?। किं वा स्वयमुत्पादितानुगृहीततिरोभावितानां पशूनां पतिः, उत परैरिति?। उच्यते-स्वयम्। यस्मादाह-

भवे भवे नातिभवे।।४२।।

अत्र भवे भवे इति वीप्सा। भव इति विद्याकलापशूनां समस्तानां ग्रहणम्। भवः कस्मात्?। भवनभावनकृतत्वात्। यस्माद् देवमनुष्यतिर्यक्त्वेन [भवति]

---

१. तैत्तिरीयब्राह्मणम्, अष्ट० ३, प्र० ७।

२. ''निरतिशयदृक्क्रियाशक्तिः पतित्वम्''। ''तैश्वर्येण नित्यसम्बन्धित्वं सत्त्वम्''। ''अनागन्तुकै-श्वर्यत्वामाद्यत्वम्''। ''समस्तजन्मरहितत्वमजातत्वम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृ० ११।

भावयति च तानीश्वरः। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणां भवन-भावनत्वाद् भवः। तस्य भूयोभूय उत्पत्त्यनुग्रहतिरोभावं च दृष्ट्वा। वीप्सायाः उत्पत्तवुत्पत्तावनुग्रहेऽनुग्रहे तिरोभावे तिरोभावे चेत्यर्थः। **नातिभवे** इति। नकारः कार्यत्वं प्रतिषेधति। अतिशयितभवेषु मा भवामीत्यर्थः॥४२॥

आह किं भवाद् वियोगमात्रमेवैकं मृगयते?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

[१]भजस्व माम् ॥४३॥

अत्र **भज** इत्यनुग्रहे। **स्व** इति कारणापदेशे। **माम** इत्यात्मापदेशे। भजस्व मां त्रायस्व माम् अनुगृह्णीष्व मामित्यर्थः॥४३॥

आह-कम् आमन्त्रयते?। कं प्रपद्यते?। कस्मै नमस्कारं करोति? कस्तं पुरुषं भवाद् मोक्षयति?। कं वा ब्रवीति भजस्व मामिति?। तदुच्यते-यस्मादाह-

[२]भवोद्भवः ॥४४॥

अत्र भव इति विद्याकलापशूनामेव ग्रहणम्। तस्योत्पत्तिकर्ता भगवानित्यतो भवोद्भव[३] इति। अत्रोत्पादकानुग्राहकतिरोभावकधर्मि कारणम्, उत्पांद्याग्राह्यतिरोभाव्यधर्मि कार्यमित्येतत् कार्यकारणयोर्लक्षणम्। एतस्मिन् कारणे प्रपत्त्यादि क्रमोपयोगि द्रष्टव्यम्॥४४॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये प्रथमोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

इदानीं द्वितीयमध्यायमवसरप्राप्तं कार्यकारणशेषेण सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामि [वक्ष्यामः]।

आह-यद्येवंतस्माद्, उच्यतां कः सम्बन्ध?। यदुच्यते। युदक्तं पुरस्ताद् भवोद्भव इति।

वामः[१] ॥१॥

नामभिः श्रेष्ठ इत्यर्थः। उक्तं हि-

"पुरुषध्वजशृङ्गेषुहविर्भूषणलक्ष्मसु।
वामः श्रेष्ठेष्ववक्रेषु नवस्वर्थेषु कीर्तितः॥" इति ॥१॥

आह-किंनिमित्तास्योत्पादकादिप्रवृत्तिः, किंप्रयोजना वा?। तदुच्यते-

देवस्य ॥२॥

इति। अत्र देव इति दिवु क्रीडायाम्। क्रीडाधर्मित्वात् क्रीडानिमित्ता। क्रीडावानेव स भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयन् अनुगृह्णाति तिरोभावयति चेत्यतो देवः। प्रवृत्तिश्चोत्पत्त्यादिफला द्रष्टव्या। देवस्य इति तद्धर्मित्वे षष्ठी ॥२॥

आह-किं नामद्वयमेवात्र कारणे वितन्यते?, अर्थद्वयमेव वा, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

ज्येष्ठस्य ॥३॥

इति। अत्र परत्वाज्ज्येष्ठः। केषां केन वा परः?। तदुच्यते-सिद्धसाधकपशूनाम्।

---

१. वामदेवस्येति सूत्रानुसारी पाठः।

तदायत्तत्वात् सिद्धसाधकभावस्य, सर्वपशूनां च प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थित्यादिफलानाम् इत्यतो ज्येष्ठः परतरः। परतमश्चेति अकृतकं चास्यैश्वर्यम्। उक्तं हि-

''दृक्क्रियालक्षणा शक्तिस्तत्त्वधर्मोऽस्य नित्यता।
श्रेष्ठो तः सर्वभूतेषु तस्मादेष परः स्मृतः॥''

इत्येवं परत्वाज्ज्येष्ठः। अत्रापि ज्येष्ठस्येति तद्धर्मित्वे षष्ठी॥३॥

आह-किं [नाम] त्रयमेवात्र कारणे चिन्त्यते, अर्थत्रयमेव वा, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति।

रुद्रस्य ॥४॥

इति। अत्र रुत [स्य भयस्य] द्रावणात् संयोजनाद् रुद्रः। तत्र रुतं [संज्ञा?] अभिलाप इत्यनर्थान्तरम्। द्रावणं नाम [संयोजनम्]। भयं विविधम्। उक्तं हि-

''नानाविधैः कृतैर्यस्माद् भयैश्च विविधैस्तथा।
संयोजयति भूतानि तस्माद् रुद्र इति स्मृतः॥''

अत्रापि तद्धर्मित्वे षष्ठी॥४॥

आह-किं तत्?। कीदृशं वा तदस्येति?। उच्यते-

कलितासनम् ॥५॥

अत्र त्रिविधेन कार्येण विद्याकलापशुसंज्ञकेन तत्रैव स्थित्युत्पत्तिप्रलयान् प्राप्नुवता **कलितं** शोभितशब्दितं, नभस्ताराभिरिवेत्यर्थः। आह-यदेतत् पत्युः पतित्वं शक्तिः सामर्थ्यमैश्वर्यं स्वगुणः सद्भावः सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तद् **आसनम्**। नतु पद्मासनवदुपवेशनलक्षणमित्यर्थः। आसनं कस्मात्?। आस्ते स्मिन् आसनम्। कार्यमनेन वा अध्यास्त इत्यासनमित्यर्थः। अत आसनम्। अतो व्ययो मृतो भगवान् कामतः स्वशक्तिस्थं कार्य स्वशक्त्या अध्यास्ते। तस्मादासनस्थं कार्य कारणं चेति।

आह-कार्यकारणयोर्वृत्तिसङ्करदोषो गोजाविमहिषीक्षीरवत्। तदुच्यते-न। अङ्गुल्यग्ररूपादिर्वदित्यसङ्करः। दीपादित्यप्रकाशनयनरश्मिवच्चासङ्करः। आह-सङ्करं अपरिच्छेददोषः ईश्वरपुरुषविद्याकलानां माक्षिककांटद्रव्यवत्। तदुच्यतं। एकांत्तरोत्कर्षेण व्याप्यव्यापकभावेनावस्थितानां तत्वादीनां नापरिच्छेददोषः। सूत्रत्वाद् व्यापकं महंश्वरतत्त्वं, व्याप्यं पुरुषादिपञ्चविंशकम्।

तथा आत्मत्वाद् व्यापकं पुरुषतत्त्वं, व्याप्यं प्रधानादिचतुर्विंशकम्। तथा व्यापकं प्रधानं, व्याप्यं बुद्ध्यादित्रयोविंशकम्। व्यापिका भवति बुद्धिः, व्याप्यमहङ्कारादिद्वाविंशकम्। तथा व्यापको भवत्याहङ्कारः व्याप्यान्येकादशेन्द्रियाणि, दशविधं च कार्यम्। व्यापकान्येकादशेन्द्रियाणि, [व्याप्यानि पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि]। तथा व्यापकानि पञ्चभूतसूक्ष्माणि शब्दादीनि, व्याप्यानि आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि। तथा व्यापकमाकाशं, व्याप्यंवाय्वादिभूतचतुष्कम्। तथा व्यापको भवति वायुः व्याप्यं तेजःप्रभृति भूतत्रयम्। तथा व्यापकं भवति तेजः, व्याप्यमवादिद्वयम्। तथा व्यापिका भवन्त्यापः, व्याप्या पृथिवी। व्यापिका पृथिवी, व्याप्यानि भूम्युदकरसलक्षणानि कार्याणि। तथा व्यापकानि भूम्युदक [रस] लक्षणानि कारणानि, व्याप्यं देवमनुष्यतिर्यग्योनितृणौषधिवृक्षगुल्मलतावनस्पत्यादिकार्यमनेकविधम्। अतो नापरिच्छेददोषः।

आह-वृत्त्यसङ्करग्रहणे दृष्टान्ताभावादयुक्तम्। तदुच्यतेहरिद्रोहकवद् व्याप्यं व्यापकं च। तद्यथा-हरिद्रोदके स्निग्धत्वशैत्यादिधर्मैरपां ग्रहणं, गन्धवर्णघनक्षारत्वादिभिर्हरिद्रायाः। तथार्णवदेवादिस्थानशरीरेन्द्रियविषयादिसन्निवेशेन सुखदुःखसन्निपातेन चेश्वरस्य। एवं पुरुषस्यापि। ईश्वरस्यापि अपरिणामिधर्मित्वात् सुखदुःखदातृत्वाच्च प्रधानधर्माधर्मादीनां ग्रहणम्। तथा प्रधानस्य मानससङ्कल्पालोचनगमनादिभिः करणग्रामस्य विषयाणां च ग्रहणम्। तथा धृतिसंग्रहपक्तिव्यूहावकाशदानादिभिर्धर्मैः पृथिव्यादीनां ग्रहणमिति प्रधानवादिनो मन्यन्ते।

आह-अथेह तन्त्रे कथं कार्यकारणावस्थानम्?। तद् वाच्यम्। तदुच्यते-इह यस्मादाह-शर्वसर्वेभ्यः [अ० ३, सू० २५] इति वचनाद्यथासम्भवम्। सति विभुत्वे स्ववृत्त्या कार्यकारणयोः सर्वगतत्वेऽपि स्ववृत्त्यशङ्करः। तस्मादासनस्थं कार्यं कारणं चेति। आह-हिं तदासनस्थं कार्यम् आसने नित्यम्, आहोस्विदनित्यमिति?। उच्यते-नित्यं कार्यम्। कस्मात्? पत्युर्भवंति। कारणेश्वरनित्यत्वात् पतिनित्यत्वम्। इह सद्योजातादि [अ० १, सू० ४०] वचनात् पालको नित्यः पालकनित्यत्वाच्च पाल्यमपि नित्यम्। कस्मात्?। न ह्यसति पाल्ये इत्येव। सति नित्यत्वे तान्येव पश्चादीनि संयोजयति। मृल्लोहमयप्राकारादिवद् दृष्टान्तात् वृत्तिलाभश्चोत्पत्तिरित्युच्यते। स्थितिस्थानशरीरेन्द्रियविषयाद्यायतनानां परस्परोपकाराच्चानुग्रहः ईश्वरचोदनानुग्रहः, वियोजनं वृत्तिलोपश्च[ ]। लोपो भावः। तस्मात् त्रिष्वपि कालेषु आसनस्थं कार्यं द्रष्टव्यम्। पृथिव्यां बीजवदित्यर्थः।।५।।

आह-किं तत् कार्यं भगवान् युगपदुत्पादयति, क्रमशो वा?। किं वा कर्मापेक्षः, अनपेक्षो वा?। तदुच्यते-यथेष्टम्। यस्मादाह-

सार्वकामिक इत्याचक्षते॥ ६॥

अत्र **सर्वशब्दो** विद्यादिकार्यनिरवशेषवाची द्रष्टव्यः। **कामिक** इत्यत्रापि नास्त्रिकं चिन्त्यते। कामी कामः काम्यमिति च। तत्र कामी ईश्वरः। कामोऽस्येच्छा। काम्यं विद्यादिकार्यम्। तदक्रमेण क्रमशो वा यथेष्टमुत्पादयति। कस्मात्?। कामित्वात्। अकर्मापेक्षित्वं चास्यातएव सिद्धम्। कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते, न तु भगवानीश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः। इतिशब्दोऽर्थानां निर्वचनत्वात् प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः। आह-कामित्वं तत्त्ववैधर्म्यं कुर्यात्। कार्यत्वेन वा परिणामित्वम्, आत्मनो बन्धमोक्षविपर्ययं वा कुर्यात्। तदुच्यते। यस्मादाह-आङ् इति। आङिति कार्यकारणत्वम् आत्मनो मुक्तानां च मर्यादा। तदुच्यतेउत्पाद्यानुग्राह्य[तिरोभाव्य] कल्पकत्वाभावकत्वेनापरिणामित्वम्, आत्मनो मुक्तानां च पुनर्दुःखरसंयोजनमित्येषा कारणमर्यादा। स्थाप्या च कार्यमर्यादा। तदुच्यतेउत्पाद्यानुग्राह्यतिरोभाव्यकाल्प्यविकार्यमर्यादा। तदन्यचोद्याधिष्टेयत्वं च। चक्षिङ् कथने। भगवता कार्येभ्यो भ[ग]वता रुद्रेणाचक्षितम्। भगवतो महेश्वरस्य शक्तिः सनातनी। तद्विद्यादिकार्यं कलितमित्येषोऽर्थः। तथा चोक्तं वर्णित-मित्यर्थः [?]॥६॥

अत्रैदमाधिकारिकं कार्यकारणप्रकरणं परिसमाप्तमिति।

किं नाम कामित्वं रुद्रकामित्वं च?। एतदेव कारणे महाभाग्यम्, आहोस्विदन्यदस्ति। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

अमङ्गलं चात्र मङ्गलं भवति ॥७॥

अमङ्गलम् इति अत्र साधनजातमधिकुरुते। तदुद्देशेन तु मङ्गलवचननिर्देशं करोति। चशब्दः कारणगुणवचनोपक्षेपे द्रष्टव्यः। उपक्षिप्योत्तरत्र मङ्गलं प्रदक्षिणं च [अ० २, सू० ८] वक्ष्यामः। तस्मादुभयं रुद्रे देवाश्च पितरश्च [अ० २, सू० ११] इत्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः। अत्रशब्दो मृर्त्यधिष्ठातरि मनःसंज्ञे कारणे सकले उपतिष्ठता अपसव्यसम्बन्धो द्रष्टव्यः। **मङ्गलम्** इत्यत्रापिचामङ्गले वक्तव्ये मङ्गलमेव तद् वक्ष्यामः। तदुच्यते-अत्र अमङ्गलं नाम [यद्वैतं?] नमत्वापसव्यत्वसम्बन्धो हसिताद्यः साधनवर्गः। स त्विह कारणमूर्तिसामर्थ्यान्मङ्गलं

भवति। शैलोदोमावनवत्। मङ्गलं साधनं धर्मनिष्पादकम्। **भवति** इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। कारणमूर्तो क्रियमाणममङ्गलं मङ्गलं भवतीत्यर्थः। ॥७॥

आह-किं नमत्वमपसव्यत्वं वा साधनद्वयमेवोच्यते?। न। यस्मादाह-

अपसव्यं च प्रदक्षिणम् ॥८॥

नग्नत्वं च साधनमेवेत्यर्थः। अत्रामङ्गलनिर्देशार्थत्वात् प्रत्याहारवदुपहार [अ० १, सू० ८] सामान्यमात्रख्यापनाच्च पृथगपसव्यारम्भः। तस्मादत्र अपसव्यं नाम यत् सव्याद् विपरीतम्। चशब्दः समुच्चये। न केवलं कारणमूर्ति [साधन?] सामर्थ्यादमङ्गलं मङ्गलमापद्यते, अपसव्यं च प्रदक्षिणमापद्यत इत्यर्थः। प्रदक्षिणं नाम-यदन्येषामपसव्यं तदिह प्रदक्षिणं धर्मनिष्पादकं भवति। ननु यत् तेषां प्रदक्षिणं कस्मात्। उत्सूत्रादिदोषाद् अप्स्नानादिवदित्यर्थः॥८॥

आह-समस्तानां कारणगुणानां तु वचनं किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

तस्मादुभयथा यष्टव्यः ॥ ९ ॥

इति। अत्र **तस्माच्छब्दः** कारणगुणवचने। के कारणगुणा इति?। तदुच्यते-पतित्वसत्त्वाद्यत्वाजातत्वोत्पादकामुग्राहकतिरोभावकत्व [तपावावेदे?] [वाम] देवज्येष्ठरुद्रकामित्वं च मङ्गलावाप्तिः प्रदक्षिणावाप्तिश्च [?]। एतान् कारणगुणान् ज्ञात्वा। अतो ब्रवीतितस्मादिति। अथैतत् कारणगुणवचनं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-**उभयथा यष्टव्यः**। अत्रोभयथा द्विधेत्यर्थः। यष्टव्य इत्यत्रापि नास्त्रिकं चिन्त्यते। यष्टा यजनं यष्टव्यमिति। अत्र यष्टा साधकः। यष्टव्यो भगवान् महेश्वरः। यजनं भावना। यजनमध्ययन [म] [ध्या][प] नस्मरणाद्यम्। तत्फलं-देवनित्यता, सायुज्यम् [अ० ५, सू० १०, ३३] इत्युत्तरत्र वक्ष्यामः ॥९॥

आह-अनिर्देशात् सन्देहः। कथमुभयथा?। द्विधा निर्देशो वाच्यः। तदुच्यते-

देववत् पितृवच्च ॥ १० ॥

कथमिति?। उच्यते-पूर्वमस्य ब्राह्मणस्य देवयजने पितृयजने चाधिकारोऽधिगतः। तस्मात् तेभ्यो देवपितृभ्यो भक्तिव्यावर्तन कृत्वा उभयथापि महेश्वरे भावमवस्थाप्य यजनं कर्तव्यं नान्यस्य। चशब्दः प्रतिषेधे। यत्तत् पूर्व देवपितृषु कारकत्वं सम्भावितं, तत् तेषु न विद्यते। अतस्तेषां यजनं न कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १०॥

आह-यद्येव तस्माद् उच्यतां देवपितृणां को दोषः? यस्मात् ते न यष्टव्याः। रुद्रे वा को गुणः? यस्मात् स एव यष्टव्यः। इति निर्देशो वाच्यः। अप्स्नानादिवत्। तदुच्यते-

[1]उभयं तु रुद्रे देवाः पितरश्च ॥ ११ ॥

तत्रोभयं द्वयं समस्तमित्यर्थः। तुशब्दो देवपितृषु वैशेषिकं कारणत्वं व्यावर्तयति। रुद्रे इति कारणापदेशम् रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्र इति वैषयिकं सन्निधानम्। अत्र शक्तिर्विषय इत्यनर्थान्तरम्। ते देवपितरो रुद्रशक्त्यां हार्यधार्यकार्यत्वेन वर्तन्ते आधीयन्ते, विषये इत्यर्थः देवाः पितरश्च। तत्र देवा इति ऋभुषु ब्रह्मादिपिशाचान्तेषु मनुष्यतिर्यग्योनिवर्जसामान्यसंज्ञा। विधिवत्। पितर इति विशेषसंज्ञा। भस्मस्नानादिवादित्यर्थः। ब्राह्मणदेवदत्तादिवच्च। अत्राह-सामान्यविशेषसंज्ञाभिधाने किं प्रयोजनमिति चेत्?। तदुच्यते-त्रिविधस्यापि कार्यस्य रुद्रे हार्यधार्यकार्यज्ञापनार्थम्। किञ्च कालक्रियास्वाहास्वधामन्त्रात्यत्वदर्शनाद् देवपितृयजनापहृतचित्तव्यावर्तनार्थत्वाच्च। तस्मादन्यानन्यत्वेनापि व्याख्यानमदुष्टम्। च शब्दोऽभ्यधिकत्वे। देवपितृवत् सत्वस्य त्रिविधस्यापि कार्यस्येश्वरे प्रतिष्ठाप्रसवसंयोगवियोगसुखमोहबन्धमोक्षदातृत्वेन च स एव परं कारणं समस्तत्वेनाप्यते इत्येवं चशब्दोऽभ्यधिकत्वे द्रष्टव्यः। तस्माद् दुःखान्तार्थिना ते देवपितरो न यष्टव्याः। तदर्थे भगवान् महेश्वरो यष्टव्य इत्यर्थः।। ११ ॥

अत्रेदमानुषङ्गिकं कार्यकारणप्रकरणं परिसमाप्तम्।

अत उत्तरस्य विधिप्रकरणस्य सत्यपि पदार्थवैलक्षण्ये साध्यसाधनभावाद् यजनेन सह सम्बन्धं करिष्यामः। कस्मात्?। इह पुरस्तादुक्तम् उभयथा यष्टव्यः, देववत् पितृवच्च [अ० २, सू० ९-१०]। यत्र पूर्व देवपितृभ्यो व्यावर्तितया भक्त्या महेश्वरं यजतो नवगमात्, स्वात्मेश्वरसंयोगं योगं, प्राप्स्यसि तत्फलं वक्ष्यामः। येन च बलेनोपबृंहितस्य तत्रैव यजने उद्योगोऽभिनिवेशश्च भविष्यति तद् बलं वक्ष्यामः। तद्बलप्राप्तौ चोपायं वक्ष्यामः। तदुच्यते-

हर्षाप्रमादी ॥ १२ ॥

इति। अथवान्यो दूरस्थः सम्बन्धः। यस्मादुच्यते-यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन तदर्थोत्पत्तिः समाना। आनन्तर्येऽपि असम्बन्धो ग्रहणक्षयादिवद्,

---

१. ''उभयें'' इति सूत्रपाठः।

[ग्रहनक्षत्रादिवत्] न त्वत्र अमङ्गलादिभिः। कस्मात्?। शेषाभावात्। एवमिहापि दूरस्थ[स्या?]ः सम्बन्धः। कस्मात?। इह पुरस्तादुक्तम्-अकलुषमतेः, चरतः, तमोऽस्य योगः प्रवर्तते [अ॰ १, सू॰ १८-२०]। अत्र कलुषव्यतिरेकेण येऽन्ये योगव्याघातकरा हेतवः, तान् वक्ष्यामः। यथा चैका चरितव्या योगप्रापिका इति व्याख्यास्यामः तथा चर्यान्तरेण तपसा योगप्राप्तिर्यथा भवति, तद् बलं वक्ष्यामः। तद्बलप्राप्तौ चोपायं वक्ष्यामः। **हर्षाप्रमादी** इति। अत्र हर्षो नाम दिव्येषु विषयेषु विधानजधर्मप्रकाशितेषु प्रीतितुष्टिप्रमोदाः। ते त्विह प्राप्त्यादिव विश्वामित्रादिस्वरूपा द्रष्टव्याः ।।?।। । कथंलक्षणा इति चेत्?। तदुच्यतेकार्यकरणविशुद्धिलक्षणाः। तत्र कार्यविशुद्धिस्तावत्-यदैतद् देवशरीरं ज्वलन्तं भासा दीप्यन्तं दिवि भुव्यन्तरिक्षे च रुक्मदण्डवदुच्छ्रितमात्मानं पश्यति, तदा दि [वि] अणिमा लघिमा महिमा इति त्रयः कार्यगुणा भवन्ति। अन्तरिक्षे च यस्माद्धर्मविशेषात् [?]। तथा करणविशुद्धिरपि-गरिमादिभिः [भुवि] बाह्यैरन्तःकरणेन च दूरविषयग्राहकत्वालोचनसङ्कल्पाध्यवसायाभिमानादयो भवन्ति [?]। कस्मात्?। धर्मादिवचनात्। अपिच प्राप्तिः प्राकाम्यम् ईशित्वं [वशित्व] च यत्र कामावसायित्वमिति पञ्च परणगुणा भवन्ति। इत्येवं यदन्येषामणिमाद्यष्टगुणं चतुष्षष्टिविकल्पं धर्मकार्यमैश्वर्यं तदिह शास्त्रे हर्ष इति संज्ञितम्। तेषु मदमकुर्वन् हर्षाप्रमादी भवति। धर्मविद्याबलेनेत्यर्थः।। १२ ।।

आह-कुत्रस्थस्य ते हर्षा अभिव्यज्यन्ते?, कीदृशस्य वा?। तदुच्यते-

चर्यायां चर्यायाम् ॥ १३ ॥

अत्र **चर्यायां चर्यायाम्** इति वीप्सा। आह-अनिर्देशादिह वीप्सा एकवचनद्विवचनबहुवचनेषु भवति। तत्रैकवचने तावद् भवति। यस्मादुक्तम्-

> ''[१]अद्य ते रुधिरं तीव्रं पिबामि पुरुषाधम।
> वदेदानीं सुसंरब्धः पुनर्गौरिति गौरिति।।''

इति। तथा द्विवचनेऽपि भवति-

> ''उभौ ध्वजौ वातमलौ शुशुभाते रथे रथे।
> संरब्धौ परमक्रुद्धौ युधि घ्नन्तौ परस्परम्।।''

---

१. ''एष तं रुधिरं तीव्रं पिबामि पुरुषादवत्''। इति महाभारते कर्णपर्वणि दुःशासनवधे।

तथा बहुवचनेऽपि भवति। यस्मादुक्तम्-

"पुरुषे पुरुषे बुद्धिः सा सा भवति निश्चिता।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे ते मनुष्यास्तथा तथा।।"

इत्यतः संशयः। अतः किमेका चरिः उत चरिद्वयम् उत चरिबहुत्वमिति?। उच्यते-एका चरिः क्रियाबहुत्वेऽपि भवति। यंथायतने लोके च। तत्राऽने स्नानहसिताद्याः, लोके च क्राथनस्पन्दानाद्याः विधिक्रियाः इत्येवं चरिक्रियातत्त्वं दृष्ट्वा वीप्सार्थेनाभिहितं चर्यायां चर्यायां क्रियायामित्यर्थः। तस्मात् सकृदुच्चारिता वीप्सा बहुवचनेऽपि भवति। वृक्षबलिवत्। किञ्चमाहात्म्यमिति [अ॰ २, सू॰ १४] चर्योत्तरसम्बन्धात् कथ्यते एका चरिः क्रियाबहुत्वे भवति। कार्यकरणविशुद्धिलक्षणा हर्षा इत्युक्तम्। न च विभा [?] कार्यकरणैश्वर्याभिनिवेशः शक्यते कर्तुमित्यतोऽवगम्यते कार्यकरणवतश्चरतो महिमानोऽभिव्यज्यन्त इत्यर्थः ।। १३ ।।

आह-अप्रमत्तस्याचरतः का कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते-

माहात्म्यमवाप्नोति ।। १४ ।।

माहात्म्यं नाम अर्यमप्रकाशवत्। तदुच्यते-[य] स्य सान्निध्यादयं ब्राह्मणः परिदृष्टार्थोऽपि भूत्वा दुष्टाश्वतररथस्थानीयैदेहेन्द्रियादिभिरपनीयते अपह्रियते तदमाहात्म्यम्। विधियोगाभिनिवेशासामर्थ्यम् अधर्मबलम्। उक्तं हि-

"ह्रियते बुद्धिर्मनोऽपि नरस्य देहेन्द्रियैः।
अमूढसंज्ञो दुर्दान्तैर्दुष्टाश्वैरिव सारथिः [?]।।"

माहात्म्यमतो विपरीतम्। यस्य सान्निध्यादयं ब्राह्मण स्नानशयनानुस्नानादिक्राथमस्पन्दनाध्ययनध्यानस्मरणकरणसमर्थो भवति परया श्रद्धया युक्तस्तन्माहात्म्यम्।

आह-किं तदिति?। उच्यते-यदेतत् प्रभ्रष्टस्य तपसो वीर्यं तपोबलं तपश्शक्तिस्तन्माहात्म्यम्। कथं गम्यते?। चर्यानन्तरोक्तत्वात्। यदनन्तरं यदवाप्नोति तत एव तदासादयतीत्यर्थः। आह-प्राप्नोतीति अस्तु पाठः। लब्धुर्भविष्यतीत्युच्यते। अवरम्य क्षणगतिप्रीतिप्राप्त्यर्थत्वात् तेन विधिचरणेन रक्षते हर्षविशेषाणामभिप्रीतिविशेषणमतिगतिसंस्तवनावाप्तिश्च [?]। तस्मान्मन्त्रबलवद् धर्मबलमेवास्य माहात्म्यमवाप्नोतीत्यर्थः।। १४ ।।

आह-कः सोऽभ्युपायः?। कानि वा तानि धर्मसाधनानि, यैर्हर्षोत्पत्ति-र्माहात्म्यलाभश्च भवति?। चरिक्रियाणां वा कतिविधो विभागः। दानादीनां वा पूर्वोक्तानां विशेषणं किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

अतिदत्तमतीष्टम् ॥ १५ ॥

अत्र कुदानानि गोभूहिरण्यसुवर्णादीनि। कस्मात्?। अनैकान्तिकानात्यन्तिकसातिशयफलत्वात्, कुपथाध्वप्रवादाच्च [अ० ४, सू० १८]। तस्मादत्र अतिशब्दो विशेषणम्। अतिदानं चात्मप्रदानम्। कस्मात्?। आत्मनः दातृत्वाद्, भूयो दान-प्रयोजनाभावात्। स्थानशरीरेन्द्रियविषयाद्यप्रापकत्वात्। ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्र-समीपप्राप्तेरेकान्तेनैवानावृत्तिफलत्वाद् असाधारणफलत्वाच्चात्मप्रदानमतिदानम्।

तथा कुयजनान्यग्निष्टोमादीनि। कस्मात्?। सङ्ग्रहप्रतिग्रहहिंसादियुक्तेन श्रवेणाभिनिवृत्तिदर्शनात् पत्रीरात्रिजदेवतादिसाधारणफलत्वाद् [?] अनित्यसा-तिशयसङ्कीर्णफलत्वाच्च कुयजनान्यग्निष्टोमादीनि। तस्मादत्रातिशब्दो विशेषणम्। अतियजनं नाम यदायतने लोके वा। तत्रायतने स्नानहसिताद्या, लोके च क्राथनस्पन्दनाद्या विधिक्रिया। कस्मात् सङ्ग्रहप्रतिग्रहहिंसादिरहितेन क्रमेण स्वशरीरसमुत्थाभिः कायिकवाचिकमानसिकाभिरिज्यते यस्मात्। अतश्चेत्युच्यते अतियजनम् ॥१५॥

आह-किं दानं यजनं च साधनद्वयमेवात्रातिशब्देन विशिष्टं कर्तव्यमिति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

अतितप्तं तपस्तथा ॥ १६॥

अतिशब्दो विशेषणे। नायान्त्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकास्तेषां स्वशास्त्रोक्तेन क्रमेण मनसि सम्मतानां मतानाम् [?] अनुपायतः प्रतीकारमकुर्वतां तपो निष्पद्यते। यत्र तृतीयायामात्मसंयोगान्निष्पद्यते, तत् तंप इत्यर्थः। तदा शयनार्थे कथम्? तथातितापेभ्योऽतितपो निष्पद्यते तथा [न?] दानयजनाभ्यामपीति। तथाशब्दः साधनत्रयोपसंहारार्थः। यदा ददाति तदा यजति तप्यति च। यदापि यजति तदा ददाति तप्यति च। यदा तप्यति तदा तदाति यजति च। एवमादिदीक्षाप्रभृतिरस्य ब्राह्मणस्य [?] [यदा] एभिस्त्रिभिरूपायैर्गङ्गास्रोतोवद् धर्मस्यायो धर्मस्य व्ययो भवति, तदातिदानादिनिष्पंन्नेन प्रकृष्टेन तपसा अस्य ब्राह्मणस्य हर्षोत्पत्तिर्माहात्म्यलाभश्च सम्भवतीत्यर्थः ॥१६॥

आह-अतिदानादिनिष्पन्नेन प्रकृष्टेन तपसास्य ब्राह्मणस्य का गतिर्भवतीति? उच्यते-अभ्युदयकैवल्यव्यतिरेकेण-

अत्यागतिं गमयते ॥१७॥

अत्र **अतिशब्दो** विशेषणे। **आङ्** इति मर्यादायां भवति। कथमध्ययनध्यानादिरहितमपि साधकं तपोऽतिगतिं गमयति "तद्भ्यासो हरत्येनम्" इति वचनात्। अतिगतिरिति योगपर्यायः। कथं गम्यते? तपःकार्यत्वाद् आनन्त्य-ब्रह्मसायुज्यवत्। साङ्ख्ययोगाभ्युदयादिगतिविशेषविशेषितत्वाद् उपरिष्टाद् वर्तत इत्यर्थः। तस्मात् तपसः फलं विशेषार्थमभिधीयते योगोऽतिगतिमि [? रि] ति। अतिगतिमिति कर्म। **गमयते**। न तावद् गतः गमिष्यति, किन्तु गमयतीत्यर्थः ॥१७॥

आह-अतिदानाद् यथावत् तपसो गुणवचनं किमस्ति नेति? उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

तस्मात् ॥१८॥

इति। अत्र तस्माच्छब्दस्तपसो गुणवचने। तस्मादतिदानादिनिष्पन्नो धर्मोऽत्यागतिं गमयते निरतिशयां प्रापयति। न स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिप्राप्तौ। ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तेरेकान्तेनैवानावृत्तिफलत्वं च दृष्ट्वा। अतो ब्रवीति तस्मादिति ॥१८॥

आह-अत्यन्ततपसो गुणवचनं ज्ञात्वा कारणं च साधकेन किं कर्तव्यम्? तदुच्यते-तदर्थमेव,

भूयस्तपश्चरेत् ॥१९॥

अत्र भूयः पुनःसन्धाने द्रष्टव्यः, इष्टापूर्तवत्। कथम्? हर्षष्वभिसक्तस्य मुहूर्तमर्धमुहूर्तं वा साधनेभ्यो व्युच्छेदं दृष्ट्वा सन्धाने भूयः शब्दोऽभिहितः। तस्मादत्र तपस्तदेव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। चरेद् इत्यर्जनमधिकुरुते। धर्मानेकसंशयान्यत्वाच्च अपुनरुक्तो यं चरशब्दो द्रष्टव्यः ॥१९॥

आह-यद्येवं तस्मादुच्यतां हर्षाणां को दोषोऽभिव्यज्यते? माहात्म्यस्य वा को गुणः, यस्मात् तद् ग्राह्यमिति? तदुच्यते-कुरुतं माहात्म्यम्। यस्मादाह[१]-

---

१. अवतारिकेयं न सङ्गच्छते इति प्रतिभाति।

नान्यभक्तिस्तु शङ्करे ॥२०॥

अयं नकारोऽन्यभक्तिप्रतिषेधे। भक्तिर्भावनेत्यर्थः। तुशब्दो विशेषणे। कथम्? ये हर्षेष्वभिसक्ताः दूष्यतः [ ] तस्करत्वमापन्नाः, ते विशेषेण तु शङ्कराद् दूरस्था भवन्ति। शङ्करः कस्मात्। समस्तसुखनिर्वाणकरत्वाच्छङ्करः। शङ्करे इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम्। शङ्करे भावना कर्तव्या नान्यत्रेत्यर्थः। उक्तं हि-

"कर्मणा मनसा वाचा यदश्लक्ष्णं निषेवते।
तदभ्यासो हरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत्॥

एवमेते महात्मानः प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः।
यच्चित्तस्तन्मयो भावो गुह्यमेतत् सनातनम्॥

गच्छंस्तिष्ठन् शयानो वा जाग्रच्चैव स्वपंस्तथा।
शङ्करे भावना कुर्याद् यदीच्छेद् योगमात्मनः॥

यस्मात् क्षयान्ते त्रैलोक्यं शङ्करे याति संक्षयम्।
तस्मात् संवर्तको धाता शङ्करस्त्वभिधीयते॥"

एवं शङ्करे भाव उपश्लेषितव्यो नान्यत्रेत्यर्थः ॥२०॥

एवं परिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्-

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ॥२१॥

इति। अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः ॥२१॥

आह-धर्मपरिणामकत्वात् शङ्करत्वात् सुखद ईश्वरोभिहितः। अथान्तरसृष्ट्यांसुखदुःखकारणं किं भवति धर्माधर्मसत्त्वरजोवद् उत नेति?। उच्यते-अत्र य उपायः सुखदः तथा वक्ष्यामः यथावान्यत्र व्यवस्थिते संसारगते कार्ये स एव कारणं परम्। ननु कार्यकलवन्निरधिकारस्तथा वक्ष्यामो विस्तरशश्चास्मिन् ब्रह्मणि कारणशक्तिं वक्ष्यामः। शक्ति च ज्ञात्वा यथा साधकोऽष्टभिर्नमस्कारैरात्मानं ददाति, तथा वक्ष्यामः। अत इदमारभ्यते-

वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमो रुद्राय नमः ॥२२॥

इति। प्रयोगान्यत्वात् प्रयोजनान्यत्वाच्चापुनरुक्ता वामदेवादिशब्दाद्रष्टव्याः।

अत्र [1]'वामत्वं देवत्वं ज्येष्ठत्वं रुद्रत्वं च [अ० २, सू० १-४] पूर्वोक्तम्। वामदेवज्येष्ठरुद्रायेति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्ताः सर्वनमस्कारा द्रष्टव्याः ॥२२॥

आह-किं चतुष्कमेवात्र कारणे चिन्त्यते?। नामचतुष्कापदेशेन वा नाम्नि नमस्कारो द्रष्टव्याः?। उच्यते-न। यस्मादाह-

कालाय नमः ॥२३॥

अत्र काल इत्येष महेश्वरपर्यायः। कस्मात्। पूर्वोत्तरसूत्रसामर्थ्यात्। कालयते यस्मात् क्षेत्रसाधिनिष्टानि[?] स्थानानि कलादिशरीरेन्द्रियविषयादिभ्यो वियोगेनेति, ततः कालः। उक्तं हि-

ब्रह्मादिभूर्जपर्यन्तं जगदेतच्चराचरम्।
यतः कालयते रुद्रः कालरूपी ततः स्मृतः॥

कल्यान् कलयत्ते यस्मात् कलाभ्यः कालपर्ययात्।
कलनात् कालनाच्चापि काल इत्यभिधीयते॥

एवं कालो हि भगवान्। काल्याः क्षेत्रज्ञाः। स्थानानि तु ब्रह्मेन्द्रदेवपित्रादिवचनाद् ब्राह्मं प्राजापत्यं सौम्यम् ऐन्द्रं गान्धर्वं याक्षं राक्षसं पैशाचमिति। तथा ब्राह्मणशूद्रगोमृगसर्वभूत्रकृतान्नादिवचनात् तथा मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरादीनां ग्रहणम्। तथा योगेश्वराः देवेष्वन्तर्भूताः। कस्मात्?। धर्मबाहुल्यात्। तथा नारकास्तिर्यक्ष्वन्तर्भूता। कस्मात्? अधर्मबाहुल्यात्। तथा नारकास्तिर्यक्ष्वन्तर्भूताः। कस्मात्?। अधर्मबाहुल्यात्। एवं स्थानतश्चतुर्दशकः संसार इत्युपचर्यते। एतेषु कलादिवचनान्महेश्वरो निमित्तम्। कस्मात्? पूर्वोत्तरशरीरेषु भोगलोपाभिव्यक्तिमात्रत्वात्। आदिवान् संसारो द्रष्टव्यः। तत्फलभोक्तृत्वात्। कार्यकरणयोरनादित्वाद्, अनादिः अकृताभ्यागमादित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं कालाय नमः। अत्रापि [2]'कालाय इति चतुर्थी।

---

१. ''परमोत्कृष्टं गुणधर्मनिमित्तनामाभिधेयत्वं वामत्वम्। दुःखान्तनिमित्तधर्मोत्पादकनामाभिधेयत्वं वा। स्वेच्छयैवाशेषकार्योत्पत्त्यादिकारणस्वभावः क्रीड़ा, तद्धर्मित्वं देवत्वम् सिद्धसाधकपशुभ्यः परत्वं ज्येष्ठत्वम्। सर्गादावपि रुतभयसंयोजकत्वं रुद्रत्वम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

२. ''कार्यकरणाख्यानां कलानां स्थानशरीरादिभावेन संयोजकत्वं कलविकरणत्वम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

नम इत्यात्मप्रदाने इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तो यं नमस्कारो द्रष्टव्यः ॥२३॥

आह–अथ स्थानशरीरेन्द्रियविषयादीनां किमेष भगवान् प्रभुः कर्ता भवति नेति?। उच्यते–प्रभु कर्तैव। यस्मादाह–

कलविकरणाय नमः ॥२४॥

अत्र **कला** नाम–कार्यकरणाख्याः कलाः। तत्र कार्याख्याः पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशः। आकाशः शब्दगुणः।

"शब्दस्पर्शगुणो वायुस्तौ च रूपं च तेजसि।
ते रसश्च जले ज्ञेयास्ते च गन्धः क्षितावपि॥"

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। तथा करणाख्याः श्रोत्रं त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणं पादः पायुः उपस्थः हस्तः वाक् मनः अहङ्कारः बुद्धिरिति। तासां विकरणो भगवानीश्वरः। कस्मात्?। दृक्क्रियाशक्त्योरप्रतीघातात्। विकरणत्वं नाम स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिसन्निवेशेन विस्तरविभागविशेषतश्च कार्यकरणाख्याभिः कलाभिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यादिभिश्च क्षेत्रज्ञसंयोजनमित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं कलविकरणाय नमः। अत्रापि [1]**कलविकरणाय** इति चतुर्थी। **नम** इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चपुनरुक्तो यं नमः शब्दः ॥२४॥

आह–कालनविकरणत्वाद् अवान्तरसृष्ट्यां कर्मक्षये वृत्तिलाभे चापेक्षते नेति?। धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यादीनां वा किमेष भगवान् प्रभुर्भवति नेति?। उच्यते–प्रभुः। यस्मादाह–

बलप्रमथनाय नमः ॥ २५॥

बलं नाम धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्या [णि] इच्छाद्वेषप्रयत्नादीनि विद्यावर्गः रूपाणि। **प्र** इति भृशार्थे कामित्वाकर्षणि च। **मथनत्वं** नाम बलवृत्तिनिरोधनम् उदधिमथनवत्। न वाग्निज्ञानादीनि दुर्बलानि [?]। यस्मादुक्तं–

---

१. "धर्मादिबलानां यथेष्टं वृत्तिलाभलोपाक्षेपकर्तृत्वं बलप्रमथनत्वम्"।
गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

''न ह्यतेजस्विनाशाय तैजसाः प्रभवन्ति वै।
बलान्यतिबलान्यस्य न भवे ति बलानि वै [ ]।।''

इत्येवं भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु पुरुषेषु न्यनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं बलप्रमथनाय नमः। अत्रापि [1]बलप्रमथनाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्तो यं नमस्कारो द्रष्टव्यः ।।२५।।

आह-केषां कालनविकरणमथनानि करोति?। तदुच्यते-भूतानाम्। यस्मादाह-

सर्वभूतदमनाय नमः ।।२६।।

अत्र कलावचने पुनरुक्तिदोषान्न पृथिव्यादिषु सर्व[भूत] शब्दः। किं तु सिद्धेश्वरवर्जं चेतनेष्वेव सर्वभूतशब्दः। आह-भूतत्वानुपपत्तेर्न चेतनेषु सर्वभूतशब्दः। तदुच्यते-दमनाय। शमु दमु उपशमे। देवमनुष्यादीनां स्थानशरीरेन्द्रियविषयादिषु या रतिः रञ्जनाधिवासना तत्सर्वमन्तरदृष्टया सर्वमीश्वरकृतमेव द्रष्टव्यमित्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च पुरुषेषु न्यूनत्वं ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं सर्वभूतदमनाय नमः। अत्रापि सर्वभूतदमनाय[2] इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चपुनरुक्तो यं नमस्कारो द्रष्टव्यः ।।२६।।

आह-कीदृशे महेश्वरे कालनादिशक्तिरुच्यते?, किं सकले निष्कले उत उभयोरपि?। उच्यते-उभयोरपि। यस्मादाह-

[3]मनो मनाय नमः ।।२७।।

अत्र मनःशब्देनान्तःकरणं, तत्तन्त्रत्वादुदाहरणार्थत्वाच्च मनोग्रहणस्य, उभयात्मकत्वाच्च मनसः सर्वकरणग्रहणानुग्रहणाच्च, कार्यग्रहणमित्यतः कार्यकरणाधिष्ठातृत्वाच्च सकल इत्युपचर्यते। तथा चैतादृशमनसः प्रतिषेधादत्र कार्यकरणरहितो निष्कलो भगवान् अमन इत्युच्यते। तस्मात् सकलेतरानुग्राहकानादिशक्तिर्विद्यते। उक्तं हि-

---

१. ''धर्मादिबलानां यथेष्टं वृत्तिलाभलोपाक्षेपकर्तृत्वं बलप्रमथनत्वम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

२. ''सर्वदेवमानुषतिरश्चां रतिरञ्जनाधिवासनाकर्तृत्वं सर्वभूतदमनात्वम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

"अपाणिपादोदरपार्श्वजिह्वः
[1]अतीन्द्रियो व्यापिस्वभावसिद्धः।
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णो
न चास्त्यबुद्धं न च बुद्धिरस्ति॥
स वेत्ति सर्वं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥"

इत्येतद् भगवत्यभ्यधिकत्वं शेषेषु च न्यूनत्वं च ज्ञात्वा युक्तं वक्तुं मनो मनाय नमः। [2]मनो मनाय इति चतुर्थी। नम इत्यात्मप्रदाने पूजायां च। सम्भावनान्यत्वाच्चापुनरुक्ताः सर्वे नमःशब्दाद्रष्टव्याः ॥२७॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति॥

---

१. "वामदेवाय नमो, ज्येष्ठाय नमः, श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः, कालाय नमः, कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो, बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः, सर्वभूतदमनाय नमो, मनोन्मनाय नमः" इति तैत्तिरीयपाठः।

२. "सकलनिष्कलावस्थायास्तुल्यशक्तित्वं मनो मनत्वम्"। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

अथ तृतीयोऽध्यायः

इदानीं तृतीयमध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामः। आह-यद्येवं तस्मादुच्यतां कतमस्य पदार्थस्य विचारणायां तृतीयोऽध्यायः सम्बध्यते?। तदुच्यते-विधिशेषेण। कस्मात्?। इह पुरस्तादुक्तम्- अकलुषमतेः, चरतः [अ० १, सू० १८-१९] चर्यायां चर्यायां [अ० २, सू० १३] तस्माद्, भूयस्तपश्चरेद् [अ० २, सू० १८-१९] इति नियोगो भिहितः। तस्माद् लिङ्गधारि-त्रिषवण- आयतन-हसितादिषु [अ० १, सू० ६, २, ७, ८] सूत्रेषु पूर्वोक्तान्यवस्थानकालदेशक्रिया-प्रयोगप्रयोजनान्तराणि। तव्द्यतिरिक्तानि अन्यान्यपि अवस्थानकालदेशादीनि शुद्धिवृद्ध्यर्थं वक्ष्यामः। यस्मादाह-

अव्यक्तलिङ्गी ॥१॥

इति। अत्र अकारो लिङ्गव्यक्तत्वं प्रतिषेधति। अवसितप्रयोजनः पूर्वोक्तैर्लिङ्गोपकरणैरनुस्नाननिर्माल्यैकवासाद्यैः प्रयोजनैर्विनिवृत्तैर्लोकतस्त्रिषु स्नानं कुर्वन्नपि। [1]षडाश्रमलिङ्गानुपलब्धावनावधृतोक्तलिङ्गवदव्यक्ताः क्रियाः कार्याः ॥१॥

आह-कया वा मर्यादया कस्मिन् वा काले सा क्रिया कर्तव्या?। तदुच्यते-

व्यक्ताचारः ॥२॥

अत्र **व्यक्तशब्दो** दिवसमाधिकुरुते। व्यक्ताः स्फुटाः प्रकाशाः। अहनीत्यर्थः। **आङ्** इत्यवमानादिनिष्पत्तिमर्यादामधिकुरुते। **चार** इति क्राथनादीनामुद्देशः। तान् क्राथनादीन् साधको नटदवस्थितो रङ्गवल्लौकिकानधिजन्य [?] नाटकवदाचारानाचरति करोति प्रयुङ्क्त इत्यतो यं व्यक्ताचारः ॥२॥

आह-अव्यक्तलिङ्गिनो व्यक्ताचारस्य का कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते-अवमानः। यस्मादाह-

---

१. ब्रह्मचारी, गृहस्थः वानप्रस्थः, संन्यासी, पाषण्डः सिद्धः।

अवमतः ॥३॥

अत्र अव वर्जने। मानेन तेषां लिङ्गाचारज्ञानविधिविपरीतप्रवृत्तिं दृष्ट्वा सर्वदोषदुष्टोऽयमिति मानसाधेनावमाने यो जनः परिवर्जयतान्यतो यमबहुमतत्वं प्राप्नोति [?]। उक्तं च-

> "[१]अमृतस्येव लिप्सेत नैव मानं विचक्षणः।
> विषस्येव जुगुप्सेत सन्मानस्य सदा द्विजः॥
>
> सुखं ह्यवमतः शेते सर्वसङ्गविवर्जितः।
> दोषान् परस्य च ध्यायेत् तस्य पापं सदा मुनिः॥"

इति ॥३॥

आह-केष्वव्यक्तलिङ्गिना व्यक्ताचारेणावमतेन भवितव्यमिति?। तदुच्यते-

सर्वभूतेषु ॥४॥

अत्र सर्वभूतशब्दो वर्णाश्रमिषु द्रष्टव्यः। कस्मादुच्यते वर्णाश्रमिष्विति?। भूतेषु इत्युक्तं, नतु देवतिर्यग्योनिम्लेच्छादिषु। कस्मात्। व्यक्ताचारविमानदानादानविरोधात्। उक्तं हि-

> "[धन्यो देशो] यत्र गावः प्रभूताः
> मेध्यं चान्नं पार्थिवा धर्मशीलाः।
> पुण्या नद्यः सर्वलोकोपभोग्याः
> तांस्तान् देशान् सिद्धिकामो व्रजेत॥"

भूतेष इति सामीपिकं सन्निधानम्। भूतसमीपे भूताभ्यासे भूतानामध्यक्ष इत्यर्थः। सामीपिकव्याख्यानेनावमानदेशादिस्पष्टतरत्वादस्य विध्याचरणम्। असुरेषु [अ॰ ४, सू॰ १०] इत्याचरणज्ञापकाच्च ॥४॥

आह-अवमतेन सर्वभूतेषु किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-चरितव्यम्। यस्मादाह-

परिभूयमानश्चरेत् ॥ ५॥

अत्र परि सर्वतोभावे। पगक्ष्याः परीक्ष्या इत्यर्थः [?]। भूय इति बहुधा।

---

१. मनुस्मृतिः २-१६२?, १६३

यष्टिमुष्ट्यादिभिः संयोजनं परिभवः। कायिक इत्यर्थः। **मान** इति साधककाल-कर्माभिधाने। परिभूयमानेनैव। स परिभवो दरिद्रपुरुषराजाभिषेक इव द्रष्टव्यः। कनकपाषाणवद् इन्द्रकीलकवच्च भवितव्यम्। **त्वेरद्** इत्यर्जनमधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च निन्दित इति गर्हिताभ्याख्याने चरितव्यमित्यर्थः ॥५॥

आह-अवमतस्य परिभूयमानस्याचरतः किं तापशान्तिरेव, उत शुद्धिरप्यस्ति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

अपहतपाप्मा ॥६॥

भवतीति वाक्यशेषो वचनाधिकाराद् गम्यते। अत्र **अप** वर्जने आघाते नाशे च। अपहता अन्यतनष्टा इत्यर्थः[?]। पाप्मानोऽत्र द्विविधाः सुखलक्षणाः दुःखलक्षणाश्च। [तत्र सुखलक्षणाः]-उन्मादः मदः मोहः निद्रा आलस्यं कोणता अलिङ्गः ·नित्यमसद्वादित्वं बहुभोजनमित्येवमाद्याः। तथा दुःखलक्षणाः-शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगाद्याः। एवमेते पाप्मान आत्मगताः कार्यकरणेष्वादर्श-पतिरूपकवदभिव्यक्ताः। कृतस्नाः अपहताः [अन्यतमस्य] पाप्मानः सो यमपहतपाप्मा भवतीत्यर्थः ॥६॥

आह-किमवमानः परिभवशंच कायिकं मानसं साधनद्वयमेवास्य पापक्षय-शुद्धिहेतुः, आहोस्विद् वाचिकमप्यस्ति नेति?। उच्यते-यस्मादाह-

परेषां परिवादात् ॥७॥

अत्र परा नाम स्वपरसमयाधिकृता ये अवमानादिभि संयोजयन्ति, तेषाम्। परेषाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। आह-[स्वप] र-वाक्यावमानादिभिः शुद्धिरेवास्य, न तु वृद्धिः। सा च साधकस्य फलाभिधानाद् [1]'अतिदानादिष्वित्युच्यते, न पूर्वकृतसुकृतदानविवक्षया। **परि** इति च सर्वतोभावे। **वद** वादः। अव्यक्तो यं प्रेतो यम् उन्मेत्तो यं मूढो यं मूर्खो यं निद्राविष्टो वायुरुद्धो यं दुष्कामी असम्यक्कारी

---

१. ''पञ्चमु पवित्रंष्वावर्त्यमानंपु दशभिर्नमस्कारैः परमंश्वरायात्मसमर्पणं दानं, तदंवातिदानम् अनावृत्तिफलत्वात्। परमंश्वरनियंागाभिसन्धिना भस्मस्नानादिक्रियाणां यथाविहिकिरणं यागः, स एवातियागः। स्त्रविध्यर्भिनिविष्टस्यैव त्रिविधदुःखांपनिपातं सति अनुपायतः प्रतींकारमकुर्वतः सहिष्णुत्वं तापः, स एवातितापः', गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १७ व १८

असम्यग्वादी इत्येवमुग्रैर्वचोभिरभिघ्नन्तीति वादाः। वादाद इति निमित्तपञ्चमी द्रष्टव्या। तस्मादवमानादिभिः परान् संयोजयता स्वयमेवात्मा संयोक्तव्यः। अन्यथा पाशमात्रः स्यादिति[?] ॥७॥

[आह]-पाप्मनां वा जानपदेशात् सन्देहः। कस्य कार्य पाप्मनः [?]। कथं वा तेषां कार्यकरणेष्वभिव्यक्तानां परसमुत्थैरवमानादिभिर्निर्घातनं भवति?। तदुच्यते। यस्मा़दाह-

पापं च तेभ्यो ददाति ॥८॥

अत्र पापम् इत्यधर्मपर्यायः। तद्यथा-

"आगो परागो मुसलं दुरितं दुष्कृतं तरुन्।
पापं पाप्मानं वृजिनं स्तेयम् ....[ ]।"

इत्येकार्थवाचकाः शब्दाः। इह चोक्तं पापमिति। पापं च कस्मात्? पावक[पातक] पासकत्वात् पापम्। पावयति यस्मात् शिरोरोगदन्तरोगाक्षिरोगादिभिः, पातय नरकादिषु, पासयति वानिष्टाभि कार्यकरणाख्याभिः कलाभिरिति। अतः पावकपातकपासकत्वात् पापम्। एवं च बीजाङ्कुरवत् पापपाप्मनां हेतुहेतुमत्त्वोपनयो द्रष्टव्यः। बीजापापप्रसवाः पाप्मान इत्यर्थः। तेभ्य इति चतुर्थी सम्प्रदानार्था। अथ [ये] एवमवमानादिभिः संयोजयन्ति तेभ्यो ददाति प्रयच्छति, सङ्क्रामयतीत्यर्थः ॥८॥

आह-किमवमानादिभिः शुद्धिरेवास्य, न तु वृद्धिरिति। तदुच्यते-वृद्धिरप्यस्ति। यस्मादाह-

सुकृतं च तेषामादत्ते ॥ ९॥

अत्र सु प्रशंसायाम्। कृतम् इति धर्मपर्यायः। चशब्दः शुद्धिसमुच्चयार्थः पूर्वधर्मनियोगार्थश्च। तेषाम् इति। ये अवमानादिभिः संयोजयन्ति, तेषामित्यर्थः। तेषाम् षष्ठीग्रहणमनाभिव्यक्तस्य कृत्स्नस्यादानज्ञापनार्थम्। आदत्ते। आ ग्रहणे। स्वात्मनि करोति विषमं वा इहातुरवदित्यर्थः ॥९॥

आह-अतिदानाद्यतिपोवदवमानादिसाधनं गुणवचनं किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

तस्मात् ॥१०॥

इति। अत्र तस्माच्छब्दः अवमानादिसाधनगुणवचने। कथम्। यस्मादवमानादिभिः पापपाप्मनां क्षये शुद्धिः सुकृतादाने च वृद्धिर्भवति। यस्माच्च तन्निष्ठालौकिकशरीरेन्द्रियविषयादिप्रापकः[ ] ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तिरेकान्तेनात्यन्तिकी भवति। अतो ब्रवीति तस्मादिति ॥१०॥

आह-अथैतदवमानादिसाधनमेव कर्तव्यम्?। किं वा अव्यक्तावस्था [नाये? ने] नैव चरितव्यम्?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

प्रेतवच्चरेत् ॥११॥

अत्र पुरुषाख्यः प्रेतः, न मृताख्यः। कस्मात्। आचरणोपदेशात्। वद् इति किञ्चिदुपमा। उन्मत्तसदृशदरिद्रपुरुषस्नातमलदिग्धाङ्गेन रुढ़श्मश्रुनखरोमधारिणा सर्वसंस्कारवर्जितेन भवितव्यम् अतो वर्णाश्रमव्युच्छेदो वैराग्योत्साहश्च जायते। प्रयोजननिष्पत्तिश्च भवति। अवमानादि। चरेद् इत्याज्ञामधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च। संशयान्यत्वाच्चापुनरुक्तो यं चरशब्दो द्रष्टव्यः ॥११॥

आह-चरतोऽस्य के क्रियाविशेषाः?। का वार्थनिष्पत्तिः?। आचारणां वा को विस्तारः?। तदुच्यते-

क्राथेत वा ॥१२॥

अत्र यदा प्राप्तज्ञानः क्षीणकलुषश्च कृताभ्यनुज्ञः, तदा आचार्यसकाशान्निष्क्रम्यागत्य प्रत्यगारं नगरं वा प्रविश्य यत्र लौकिकानां समूहस्तत्र तेषां नातिदूरे नातिसन्निकर्षे यत्र च तेषां नोपरोधो दृष्टिनिपातश्च भवति, तत्र हस्त्यश्वरथमदातीनां पन्थानं वर्जयित्वोपविश्य निद्रालिङ्गशिरश्चलितजृम्भिकादीनि प्रयोक्तव्यानि। तत्रैवानेनासुप्तेन सुप्त इव भवितव्यम्। ततः प्राणरेचनस्यं वायोः कण्ठदेशे पुरुपुरुशब्दः कर्तव्यः। ततस्ते मनसा वा वाचा वा निद्राविष्टो यमिति लौकिकाः प्रपद्यन्ते परिभवन्ति च। अनेनानृताभियोगेनास्य यत् तेषां सुकृतं तदागच्छति। अस्यापि च यत् पापं तत् तान् प्रति। एवं क्राथनम्[1] इति इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनादिविभागे द्रष्टव्यः ॥१२॥

---

१. ''असुप्तस्यैव सुप्तलिङ्गप्रदर्शनं क्राथनम्'। गणकारिकाव्याख्या. पृष्ठ १९

आह-अविभक्ताभिधानादेव क्राथनस्पन्दनादीनां विभागसिद्धिः, हसितादिवत् [अ० १, सू० ८]। कस्माद् भाविचनं भवति?। उच्यते-पृथगभिधाने सत्यपि हसितगीतनृत्यवत् सन्देहः। पृथगभिधाने सत्यपि हसितगीतयोः पृथक् पृथक् प्रयोगः। अत्र विभक्तयोस्तु गीतनृत्ययोः। अध्ययनयन्त्रणयोश्च। तस्मात् पृथगभिधानमनुरतो वा विभागे भवतान्यदोषः[?]। ततः क्राथनक्रिययावमानादिषु निष्पन्नेषु क्राथनादि संसृष्टं समुत्सृज्य शीघ्रमुतातव्यम्। यथा लौकिकानां सम्प्रत्ययो भवति, किमप्यनेन स्वप्नान्तरे भयं दृष्टमिति। अत उत्थाय शिरःपाण्यादीनामन्यतम् स्पन्दितव्यम्। यस्मादाह-

स्पन्देत वा ॥१३॥

अत्र स्पन्दनमिति ज्ञानेच्छामधिकुरुते। कस्मात्?। ज्ञानेच्छाप्रयत्नपूर्वकं शरीरावयवाः स्पन्दयितव्याः। द्रष्टारो हि वायुसंसृष्टोयमिति लौकिकाः प्रतिपद्यन्ते [प] रिभवन्ति च। एवं [1]स्पन्दनम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। एवमादिसाधने सति, वा विकल्पे, रौद्रीबहुरूपीवत्। अवस्थानक्राथनोत्थानस्पन्दनादौ वाशब्दो द्रष्टव्यः ॥१३॥

आह-अभिप्रस्थितस्य धर्मसाधनं किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

मण्टेत वा[2] ॥१४॥

वेति पादवैकल्यमधिकुरुते। मण्टने च प्रयुक्त वक्तारो वदन्त्युपहतम् अस्य पादेन्द्रियम्। कृत्स्नस्याशुभस्य च वृत्तिरस्मिन्छरीरे उपलभ्यते। उक्तं हि-

"दारिद्र्यं [च] व्याधिभूयिष्ठता [च]
मूर्खत्वं चारूपता भ्रंशतापि।
देहात्पत्तिवर्णहीने कुले वा
प्रत्यादेशः कर्मणां दुष्कृतानाम्॥"

[द्रष्टारो हि उपहतपाद इति] प्रपद्यन्ते परिभवन्ति च। अनेनानृताभियोगेन यत् तेषां सुकृतं तदस्यागच्छति। अस्यापि च यत् पापं तान् गच्छति। एवं [3]**मण्टनम्** इति

---

१. "वायर्वभिभूतस्येव शरीरावयवानां कम्पनं स्पन्दनम्"। गणकारिकाव्याख्या पृष्ठ १९

२-३. "मन्दंत" इति सर्वदर्शनसङ्ग्रह-गणकारिकाव्याख्यानुसारी पाठः

क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनमण्टनादिविभागे द्रष्टव्यः ।।१४।।

आह-स्त्रीष्वधिकारिकर्मसाधनं किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

शृङ्गारेत वा ।।१५।।

अत्र शृङ्गारणमिति भावप्रसादमधिकुरुते। कथम्?। स्त्रीजनसमूहस्यानुपरोधं [न] नातिदूरं नातिसन्निकर्षे अधिदृष्टिनिपाते स्थित्वैकां रूपयौवनसम्पन्नां स्त्रियमधिकृत्यालोचनसङ्कल्पाध्यवसायाभिमानादयः प्रयोक्तव्याः। अयुक्ता [?] चेच्छावलोके हि केशसंयमनादीनि कामलिङ्गानि प्रयोक्तव्यानि। ततः स्त्रीपुन्नपुंसकादयो वक्तारो वदन्त्यब्रह्मचारी काम्ययमिति। अनेनानृताभियोगेनास्य यत् तेषां सुकृतं तदागच्छति, अस्यापि यत् पापं तत् तेषां गच्छत्येव। 'शृङ्गारणम् इति क्रिया। इत इत्यभियजने आज्ञायां नियोगे च। वाशब्दः क्राथनस्पन्दनमण्टनशृङ्गारणादिक्रियान्तराणां विकल्पे। क्रियान्यत्वाच्चपुनरुक्तो यं वाशब्दो द्रष्टव्यः ।।१५।।

आह-क्राथनादिक्रियाचतुष्कं यस्य नास्ति तस्य सामान्यत्वात्। उक्तं हि-

''यै हि वै दीक्षितं यजमानं पृष्ठतो पवदन्ति,
ते तस्य पाप्मानमभिव्रजन्ति।''

पृष्ठतःपदमग्रतः पार्श्वतश्च योज्यम्। तस्मात् क्राथेत वा स्पन्देत वा मण्टेत वा शृङ्गारेत वा। कस्मात्? अतियजनादिविशेषितत्वात्। कस्मात्? सर्वज्ञवचनाद् अर्थाविसंवादित्वाच्च लोकापरिग्रहाभाव ।।१५।।

आह-[किं] क्रियाचतुष्कमेवात्र कर्तव्यमिति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

[२]अपितत्कुर्यात् ।।१६।।

अत्र अपिशब्दः क्राथनादिसर्वक्रियासमुच्चयवचने। तद् इति अनैकान्ते। कुर्याद् इति कुशलां हासवृत्तिमधिकुरुते। यमानामविरोधिनां शुविरूपकाणां [?] द्रव्याणां काष्ठलोष्टादीनां ग्रहणधारणसंस्पर्शनादीनि कर्तव्यानि। ततस्ते वक्तारो

१. ''उपहतपादेन्द्रियस्येव गमनं मन्दनम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १९.

२. ''रूपयौवनसम्पन्नां स्त्रियमवलोकयन् कामुकमिवात्मानं यैर्लिङ्गैः प्रदर्शयति तच्छृङ्गारणम्''। —गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १९

वदन्ति असम्यक्कारी शुच्यशुच्योः कार्याकार्ययोरविभागज्ञ इति। अनेनानृताभियोगेनास्य धर्माधर्मयोश्च हानादान शुद्धिर्भवति ॥१६॥

आह-किं क्रियापञ्चकमेवात्र कर्तव्यम्। तदुच्यते-नं। यस्मादाह-

[1]अपितद्भाषेत ॥१७॥

अत्र अपिशब्दः सर्वेन्द्रियवृत्त्युपादानसम्भावने। तद् इति अनेकान्ते। भाषेद् इति वाक्यवृत्तिमधिकुरुते। इत्पदम् अपार्थकं पुनरुक्तं व्याहतं भाषितव्यमिति। ततस्ते वक्तारो वदन्ति असम्यग्वादी वाच्यावाच्ययोरविभागज्ञ इति। अनेनानृताभियोगेनास्य धर्माधर्मयोस्त्यागादानशुद्धिर्भवति ॥१७॥

आह-किं हसितादिवद् यथापाठक्रमेणैव क्राथनादयः प्रयोक्तव्याः?। किं वा प्रयोजनं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-परिभवादिनिष्पत्त्यर्थम्। यस्मादाह-

येन परिभवं गच्छेत् ॥१८॥

अत्र यच्छब्दः अतिक्रान्तापेक्षणे वीप्सायां च। परिभवः पूर्वोक्तः। गच्छेद् इत्यवमानपरिभवपरिवादाः प्राप्तव्या इत्यर्थः। एवमत्र व्यक्ताचार [अ० ३, सू० २] समासोक्तानां क्राथनादीनामाचाराणां विस्तरविभागविशेषोपसंहारादयश्च व्याख्याता इत्यर्थः ॥१८॥

आह-कियन्तं कालं परिभवादयः प्राप्तव्याः?। कीदृशेन वा?। तदुच्यते-

परिभूयमानो हि विद्वान् कृत्स्नतपा भवति ॥१९॥

अत्र परि सर्वतोभावे। भूय इत्यनेकशो वमानादयः प्राप्तव्याः। मान इत्यस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। हिशब्दः कृत्स्नतपउत्कर्षे। उत्कर्षापेक्षो द्रष्टव्यः। विद्या नाम [सा, या ग्रन्थार्थवर्तिपदार्थानामभिव्यञ्जिका विप्रत्वलक्षणा। न्यायात् पदार्थानाम-धिगतप्रत्ययो लाभमलोपायाभिज्ञः [अधिगतप्रत्ययस्य?] विद्वानित्युच्यते। कृत्स्नमिति प्रयोगप्राप्तौ पर्याप्तिमधि-कुरुते, न तु हर्षादिप्राप्तावित्यर्थः। कृत्स्नतपाः पर्याप्तपाः साधक इत्यर्थः। भवति इति भूतार्थवादो निस्संशयम्। यदा यमनियमेषु दृढो भूत्वा क्राथनादीन् प्रयुङ्क्ते तदा कृत्स्नतपा भवति। कृत्स्नस्य तपसो लक्षणमात्मप्रत्यक्षं वेदितव्यम् ॥१९॥

---

१. ''अपितद्भाषेत'' इति सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ''व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणम् अपितद्भाषणम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १९.

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्-

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ।।१९।।

इति। अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः ।।२०।।

किंपुनस्तद् ब्रह्मेति?। तदुच्यते-

अघोरेभ्यः ।।२१।।

अथवा ब्रह्मणा सह ब्रह्मसम्बन्धो भवति। कथम्? मनोग्रहणाद् रूपादिविहीना अर्थाः। किं तानि सुरूपाणि सलक्षणानि, विलक्षणानि, उत सलक्षणविलक्षणानीति?। किं परिमितानि, उत अपरिमितानि, उत परिमितापरिमितानि?। उच्यते-कारणत्वबहुत्वेनोक्तस्य भगवतो रूपनानात्वं वैलक्षण्यावैलक्षण्यं परिमितापरिमितत्वं चोच्यते-[1]अघोरेभ्यः। अकारो रूपाणां घोरत्वं प्रतिषेधति। अघोराण्यतिशान्तानि अनुग्रहकराणीत्यर्थः। एभ्य इत्यपरिमितापरिसंख्यातेभ्य इत्यर्थः ।।२१।।

आह-किमेतान्येव, एभ्य एव वा?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

अथ घोरेभ्यः ।।२२।।

अत्र अथशब्दो घोररूपोपाधिको द्रष्टव्यः। घोराणि अशिवानि अशान्तानि अननुग्रहकारीणीत्यर्थः। एभ्य इत्यपरिमितिपरिसंख्यातेभ्य इत्यर्थः ।।२२।।

आह-किमेतान्येव, द्विसंस्थानसंस्थेभ्य [?] एव वा। उच्यते-यस्मादाह-

घोरघोरतरेभ्यश्च ।।२३।।

अत्र घोर इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। द्वितीयो घोरशब्दो रूपेषु द्रष्टव्यः। तर विशेषणे। शानतरादिवत् [?]। तेभ्यो घोरेभ्योघोरेभ्यश्च यान्यन्यानि पशूनां सम्मोहकराणि तानि घोरतराणीत्यर्थः। एभ्य इत्यपरिमितासंख्ययातेभ्य इत्यर्थः। चशब्दो घोराघोररूपोपसंहारे द्रष्टव्यः। एतान्येव त्रिसंख्यानि रूपाणि नान्यानीत्यर्थः ।।२३।।

आह-कुतस्तानि रूपाणि करोति?। कुत्रस्थानि वा?। तदुच्यते-

---

१. ''अवितदभापंत'' इति सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ''व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणम् अपितदभापणम्''। गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १९

सर्वेभ्यः ॥२४॥

अत्र यानि रूप [रूपाणि] कारणे। सर्वत्वं कस्मात्। सर्वत्रानवकाशदोषात् सूच्यग्रे द्विनाभीयबदरवत्। किन्तु कारणशक्तेरव्याह-तत्वाच्च। सर्वत्र तानीत्यर्थः [] ॥२४॥

आह-रूपकरणे करणेष्वस्याप्रतिघात इति क्व सिद्धम्? ,तदुच्यते-इह। यस्मादाह-

सर्वसर्वेभ्यः ॥२५॥

अत्र शर्व[१] इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। सर्वः कस्मात्। विद्यादिकार्यस्य शरणाच्छर्व इत्युच्यते। सर्वं विद्यादिकार्यं रुद्रस्थम्। सर्वस्मिंश्च भगवांश्चोदकः कारणत्वेन सर्वत्र। सर्वशब्दः त्रिसंख्येष्वपि रूपेषु निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। एभ्य इत्यपरिमितासंख्येभ्य इत्यर्थः ॥२५॥

आह-अथैतां रूपविभूतिं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्?॥ तदुच्यते-

नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥२६॥

अत्र नाम इत्यात्मप्रयुक्त इत्यर्थः। ते इति कारणापदेशे। नमस्तुभ्यं नमस्ते। अथवा नमस्कारेणात्मानं प्रदाय धर्मप्रचयपरिग्रहमिच्छन्ति। अथ कतमो यं परिग्रहः? तदुच्यते-विशिष्टे परिग्रहात्। तदुच्यते-अत्र रुद्र इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रूपाणि यानि शरीराण्युत्पादयति तेभ्यो रूपेभ्यः इत्यर्थः। अत्र रूपव्यपदेशेन रूपिणि नमस्कारो द्रष्टव्यः। कस्मात्?। तदभिसन्धिप्रयोगात्। शिवपुरि उपस्थानवत्। एभ्य इति। अपरिमितासंख्यातेभ्य इत्यर्थः रूपनिर्देशार्थान्यत्वाच्च पुनरुक्तापुनरुक्ताभ्या शब्दा द्रष्टव्याः [] ॥२६॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये तृतीयोध्यायः सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्तः॥

---

१. ''शरण सर्वपशूनां वृतमपि सर्व ह्यशेषतो यस्मात्।
शरणाद् वरणाच्च हरः शर्वः परिकीर्तितो गुरुभिः॥''
कारणपदार्थे, गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ २७

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अतः परं चतुर्थमध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धेन कृत्वा वक्ष्यामः। आह-यद्येवं तदुच्यतां कतमस्य पदार्थस्य शेषेणायं चतुर्थोऽध्यायः सम्बध्यते। तदुच्यते-विधिशेषेण। कस्मात्?। इद पुरस्तादुक्तं-विद्वान् कृत्स्नतपा भवति ''अ॰ ३, सू॰ १९ इति। विद्या तपश्चोक्तप्रयोजने। तपोगोपनं नोक्तम्। तद् वक्ष्यामः। तथा कृत्स्नस्य तपसोऽर्जनम्, अर्जितस्य च तपसो रक्षणं नोक्तम्। तद् वक्ष्यामः। तथा वसत्यर्थो विदुपः सम्यक्साधनप्रयोगानुग्रहोऽवस्थानान्तरं, तथा अनुस्नानयन्त्रस्थस्य च वृत्तिपरिभवसाधनानि च तत्परिभवसमयानुगुणवचनविधिः प्रत्यवलोकनविधिः प्रशंसा च। तद् वक्ष्यामः। तदुच्यते-

गूढविद्या तपआनन्त्याय प्रकाशते ॥१॥

गुहू रक्षणे। रक्षितव्या च प्रकाशयितव्येत्यर्थः। गोपनं नामाप्रकाशनम्। विद्या पूर्वोक्ता स्वपरान्यप्रकाशिका प्रदीपवत्। लिङ्गैर्गोप्या गूढविद्या, साधके इत्यर्थः। आह-गूढविद्ये साधके का कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते-तपआनन्त्याय प्रकाशते इत्येष पाठः। अथवा कुरवोन्महितवत् तपोनन्त्याय प्रकाशत इत्येष वा पाठः। तस्मादत्र तपस्तदेव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। अन् [? आनन्त्यम्] इत्यपि नि[ष्ठा] योगपर्यायः [स?] गम्यते। तपःकार्यत्वाद् अतिगतिसायुज्यवत्। आह-किं परिमितेष्व-र्थेष्वानन्त्यशब्दः, उतापरिमितेषु, किं वा परिमितापरिमितेष्विति?। उच्यते-परिमितापरिमितेष्वर्थेषु आनन्त्यशब्दः। तत्र तावदीश्वरस्यैकैकशः परिमितेषु तेष्वेव विभुत्वादपरिमितेषु तथा परिमितापरिमितेष्वर्थेषु अभिव्यक्तास्य शक्तिः। तस्य कुशलाकुशलेषु भावेष्वानन्त्यशब्दः। यस्मादुक्तं-''न चैतास्तनवः केवलं मम इति''।

''तथा रुद्रः समुद्रो हि अनन्तो भास्करो नभः।
आत्मा ब्रह्म च वाक् चैव न शक्यं भेददर्शनम्॥

अनात्मविद्भिरध्यस्तां पङ्क्तिं योजनमायताम्।
वेदवित् पुनते पार्थ! नियुक्तः पङ्क्तिमूर्धनि॥

तथाच वेदवित्पङ्क्तिमात्मवित् पुनते द्विजः।
आनन्त्यं पुनते विद्वान् नाभा [ना]त्वं यो न पश्यति॥''

आनन्त्याय इति चतुर्थी। तस्मात् तप एतत् न तु विद्या कार्या। प्रकाशो नाम भावप्रकाश्यम्। न तु प्रदीपवत्। कथम्?। योगाधिकृतस्य प्रदीपस्थानीतयमानैजस्थानीयमावारकमभिभूय प्रकाशते [ ]। चक्षुः स्थानीयया विद्यया कुशलविवेकादिकार्यं माहात्म्यातिकार्यं महात्म्यातिगतिप्रकाशप्रवृत्तिस्मृति सायुज्यस्थित्यादिप्रकाशनं तपःकार्यमित्यर्थः। आह-स्वभावगुप्तत्वा दतीन्द्रियात्मगती विद्या गोप्येति?। तदुच्यते-अव्यक्तप्रेताद्यवस्थानैर्लिङ्गैर्गोप्या इत्यर्थः ॥१॥

आह-कानि पुनस्तानि विद्यालिङ्गानि, यैर्गुप्तैर्विद्या गुप्ता भवति?। तदुच्यते-व्रतादीनि। यस्मादाह-

गूढव्रतः ॥२॥

अत्र गूढं प्रच्छन्नमप्रकाशमित्यर्थः। व्रतं नाम-यदायतने स्नानहसिताद्यः साधनवर्गस्तद् व्रतम्। कस्मात्?। साकृतत्वाद् [?] यस्मादयं ब्राह्मणस्तथा प्रयुङ्क्ते, यथा लौकिकानां धर्मसाधनभावो न विद्यत इति, अतो गूढव्रत इति। आह-अव्यक्तप्रेतत्वादेव गूढत्वाप्राप्तेः पुनरुक्तमिति। उच्यते-अर्थान्यत्वादपुनरुक्तम्। तत्रावस्थानमात्रमेवाव्यक्तम्। इह तु स्नानहसितादिगोपनम्। अपिच तत्र निष्पन्नं लिङ्ग[म] व्यक्तम्। इह तु निष्पत्तिकाले च गोपनोपदेशः। न वाव्यक्तप्रेतत्वं वा विद्यालिङ्गम्। अतश्चापुनरुक्तम्। तस्माद् गूढव्रतोपदेशाय स्थानापदेशापवादाय स्थाने वस्तव्यम्। स्नानहसितादयश्च गूढाः कर्तव्यः। एवं विद्या गुप्ता भवतीत्यर्थः ॥२॥

आह-किं व्रतमेवैकं विद्यालिङ्गं गोप्यम्?, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

गूढपवित्रवाणिः ॥३॥

अत्र गूढा गुप्ता प्रच्छन्ना अप्रकाशेत्यर्थः। पवित्रा नाम सत्या संस्कृता, अर्घ्यहेतुः सम्पन्ना न तु विपरीतेत्यर्थः। सा [वाणी] गोप्या। किमर्थमिति चेत्?। तदुच्यते-जातिज्ञानतपः स्तवसूचनार्थम्। यथा शरदं कुररः सूचयति। उक्तं हि-

"शरदं कुररः प्राह वसन्तं प्राह कोकिलः।
प्राह वर्षा मयूरश्च वाक् पवित्राह ब्राह्मणम्।।

वागेव हि मनुष्यस्य श्रुतमाख्याति भाषिता।
दीपयन्ती यथा सर्वं प्रभा भानुमिवामला।।"

अतो जातिज्ञानतपः स्तवा भवन्ति। स्तविते चावसानादिमत्त्वयोः पुण्यपापक्षयवृद्धयोरभावः। अत एतदुक्तं-गूढपवित्रवाणिरिति ।।३।।

आह-किं व्रतं वाणी च द्वयमेवात्र [व्रत?] गोप्यम्, आहोस्विद् अन्यदप्यस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

सर्वाणिद्वाराणि पिधाय ।।४।।

इति अत्र सर्वशब्दो द्वारप्रकृतेर्निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। द्वाराणि क्राथनादीनि। द्वाराणि च कस्मात्?। धर्माधर्मयोरायव्ययहेतुत्वाद् द्वाराणि। द्वाराणीति बहुवचनं विज्ञानयन्त्रेन्द्रियवत्। पिधाय इति प्राक्साधनप्रयोगमधिकुरुते। कथम्?। अ[व] स्थानकालदेशक्रियाप्रयोगप्रयोजनान्तराणि विधिवद् विवेच्य यदा सम्यङ् मायया [अ० ४, सू० १२] सन्नाद्यभेदक्रमेण [?] प्रयुक्तानि तदा पिहितानि भवन्तीत्यर्थः ।।४।।

आह-केन तानि पिधेयानि?। तदुच्यते-

बुद्ध्या ।।५।।

यस्मादस्य श्रोत्रेन्द्रियवत् पिधायेति सम्यग् ज्ञानप्रयोगे सर्वज्ञेन भगवता विद्यानुगृहीतया बुद्ध्या पिधानमुक्तं, तस्मादत्र करणाख्या बुद्ध्येति, न ज्ञानाख्या। कथं गम्यते?। बुद्ध्येति तृतीयाप्रयोगात्। भस्मना स्नानवत्। न ज्ञानाख्या। यस्य विज्ञानाख्या बुद्धिर्न ज्ञानाख्या। कथं गम्यते? तस्य प्राग् ज्ञानोत्पत्तेरचेतनपुरुषस्तस्य ह्यज्ञानाद् असंबोध्यः स्यात् [?]। तस्मादत्र त्रिकं चिन्त्यते-पिधाता पिधानं पिधेयमिति। तत्र पिधाता साधकः। पिधानमस्य विद्यानुगृहीता बुद्धिः। पिधेयं व्रतं वाणी द्वाराणि चेति। क्रमवृत्तित्वाच्च बुद्धेरेव प्रयुङ्क्ते। शेषाण्यकर्तृत्वेनैवाप्रयुक्तानि। तदा पिहितानि भवन्तीत्यर्थः [?] ।।५।।

अत्रेदं विद्याज्ञानप्रकरणं परिसमाप्तिमिति।।

आह-क्रिमव्यक्तप्रेत इत्यवस्थानद्वयमेवात्र कर्तव्यम्?। वागादीनि वा गोपयित्वा साधकेन किं कर्तव्यम्?। उच्यते-

उन्मत्तवदेको विचरेत लोके ॥६॥

अत्र बुद्ध्या अन्तःकरणानां श्रोत्रादीनां च बाह्यानां वृत्तिविभ्रमः कर्तव्यो सति विषये विषयग्रहणम्।

अत्र-

"पञ्चोन्मादाः समाख्याता वातपित्तकफात्मकाः।
चतुर्थः सन्निपातस्तु अभिघातस्तु पञ्चमः॥"

एवं ग्रहबहुत्वे सति यो यं वातपित्तश्लेष्मणां समूहः सान्निपातिको यं महाग्रहः। एवं साधनप्रयोगः कर्तव्यः। तत्र यदि कश्चिद् ज्ञानजिज्ञासनार्थं दयार्थमनुग्रहार्थं वा पृच्छति, तं निवर्तयित्वा ब्रूयात् समयतः प्रविशस्वेति। ततो द्वारेण प्रविश्य विपरीतमविपरीत वा यदि कश्चिद् ब्रूयात् को भवानिति?, ततो वक्तव्यं माहेश्वरोऽहं कौमारोऽहमिति दुरत्ययं कुत श्च ममानेनेति। ततो जिघांसनार्थं मया स्पृष्टो न तु विषयक्रीडार्थं वा। ततः परिवर्जयति इत्येवं लौकिकपरीक्षकाणां सम्मोहनार्थमुक्तम्। **उन्मत्तवद्** इति। किञ्चिदुन्मत्तप्रेतवत् तस्यान्तःकरणादिवृत्तिविभ्रममात्रं परिगृह्यते। **एक** इत्यसंवहता चिन्त्यते। एकेनेतरेभ्यो विच्छिन्नेनासहायेनेत्यर्थः। आह-एकेन किं कर्तव्यमिति?। उच्यते-विहर्तव्यम्। यस्मादाह-**विचरेत**। अत्र विर्विस्तरे। चरेत्यार्जनमधिकुरुते धर्मार्जने। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। विस्तरनियोगविशेषतश्च विहर्तव्यमित्यर्थः। आह-क्व विहर्तव्यमिति। उच्यते-**लोके**। त्रिवर्णाश्रमिषु लोकसंज्ञा, न तु ब्रह्मलोकादिषु। कस्मात्?। उत्कृष्टेष्वसम्भावात्। लोके इति सामीपिकं सन्निधानम्। परवर्णा लोकास्तेषु तदध्यक्षेषु विहर्तव्यमित्यर्थः ॥६॥

आह-कां वृत्तिमास्थाय लोके विहर्तव्यम्?, सर्वभक्षमेव?। उच्यते-न। यस्मादाह-

कृतान्नमुत्सृष्टमुपाददीत ॥७॥

अत्र कृतग्रहणादकृतानां बीजकाण्डफलादीनां प्रतिषेधः। कृतं भिन्नोद्भिन्नाद्यं तद् भैक्षम् उत्सृष्टं यथालब्धं विधिना प्राप्तमुपयोज्यम्। अत्र कृतग्रहणादकृतप्रतिषेधः, अकृतप्रतिषेधाच्च कृत्स्ना हिंसा तन्त्रे प्रतिषिद्धा द्रष्टव्या। आह-किं तत् कृतं नाम बुद्धिघटाद्यम्?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-अन्नम्। तत्रान्नवचनादनन्नप्रतिषेधः तच्च द्वियोनिइन्द्राभिषिक्तम् इन्द्रियाभिषिक्तं च। तत्रेन्द्राभिषिक्तं व्रीहियवाद्यम्। इन्द्रियाभिषिक्तं तु मांसम्। तत् पञ्चविधम्-भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयं चोष्यमिति। तथा

षड्रसम्–मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायमिति। आह–तस्य कृतान्नस्यार्जनं कुतः कर्तव्यम्?। तदुच्यते-उत्सृष्टम्। अत्रोत्सृष्टग्रहणाद् भैक्ष्ययथालब्धप्रतिषेधः। किंकारणम्?। सूनादिदोषपरिहारार्थत्वान्नस्तेयप्रतिग्रहादिदोषात्[?]। तच्च त्रिविधमुत्सृष्टम्। तद्यथा-निसृष्टं विसृष्टमतिसृष्टमिति। तत्र सनिमित्तं परित्यक्तमन्नं पानं वा तन्निसृष्टम्। गोब्राह्मणादिनिमित्तं त्यक्तं विसृष्टम्। अतिसृष्टमन्यतः परित्यक्तम्। दयार्थमानृशंसार्थ वा यदि कश्चिद् दद्यात् तदपि ग्राह्यमेव। आह-अनेन साधकेन किं कर्तव्यमिति?। उच्यते-उपयोक्तव्यम्। यस्मादाह-उपाददीत। अत्रोपेत्यभ्युपगमे। अत्यन्तासन्मानसयन्त्रस्थंनत्यर्थः। आददीत इत्युपयोगे ग्रहणे च। विवक्षितसूत्रग्रहणे त्वावद् [?] भवति। तदुक्तं-

"संचित्वा नरमेवैनं [?] कामानामवितृप्तिकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति॥"

इति। उपयोगेऽपि नाथकणादवत्सं [?]। तस्मादुपयोक्तव्यमिति। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। तदुत्सृष्टं विधिप्राप्तमुपयोक्तव्यम्। अन्यथा हि विधिव्यपेतेन क्रमेण वृत्त्यर्जनं न कर्तव्यमित्यर्थः ।।७।।'

आह-व्रतादीनि गोपयित्वा सम्यक्साधनप्रयोगे उत्सृष्टोपयोगे च वर्ततः के वार्था निष्पद्यन्ते?। असन्मानप्रकरणस्य वा परिसमाप्तिः किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

उन्मत्तो मूढ इत्येवं मन्यन्ते इतरे जनाः ॥ ८॥

अत्र **उन्मत्तः** स एव। निरुक्तमस्य पूर्वोक्तम्। **मूढ** इति। मूर्ख अपरिज्ञाने। अव्यक्तोऽयं प्रेता यम् उन्मत्तेऽयं, मूढोऽयं मूर्खोऽयमिति वक्तारो वदन्तीत्यर्थः। इतिशब्दोऽर्थानां निर्वचनत्वात् प्रकरणपरिसमाप्त्यर्थः। एवं यस्मादवस्थानकालदेश-क्रियाप्रयोगप्रयोजनगोपनवसत्यर्थकृत्स्नतापसि त व्याख्यातानि। एवम् इत्यतिक्रान्तापेक्षणे। **मन्यन्ते** इत्यवधारणे। **इतरे** इति [ये?] गृहस्थब्रह्मचारिवा-नप्रस्थभिक्षुपाषण्डिनां ब्रह्मचर्याधिकृतानां ग्रहणम्। **जना** इति। जनी प्रादुर्भावे। जना इति वर्णाश्रमिणां जनानामधिकृतानां ग्रहणम्। उक्तं हि-

"जनेन हि जनो जातः जनं जनयसे जन!।
जनं शोचसि नात्मानं मात्मानं शोच मा जनम्॥"

इत्येवं वक्तारो वदन्तीत्यर्थः ॥८॥

अत्रेदमाधिकारिकमसन्मानचरिप्रकरणं समाप्तम्॥

आह-व्रतादीनि गोपयित्वा सम्यक्साधनप्रयोगे उत्सृष्टोपयोगे च ततः को गुणः? यं गुणं ज्ञात्वा अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्या वादा निष्पाद्या इति?। तदुच्यते-तं गुणं ज्ञात्वा वक्ष्यामः। अपिच अव्यक्तप्रेतोन्मत्ताद्यं ब्राह्मणकर्मविरुद्धं क्रमं दृष्ट्वा यावदयं शिष्यः एनमर्थं न ब्रवीति तत्तस्य हृदिस्थम् अशङ्कितमुपलभ्योत्तरं ब्रूम इति कृत्वा भगवानिदं सूत्रमुवाच-

असन्मानो हि[१]यन्त्राणां सर्वेषामुत्तमः स्मृतः ॥९॥

अत्र **अकारो** मानप्रतिषेधे। **मानो**ऽत्र द्विविधः। जात्यभिमानो गृहस्थाभिमानश्च। तत्र जात्यभिमानो नाम ब्राह्मणोऽहमिति। पूज्यत्वादूर्ध्वगमनादीनां कार्याणामुच्छ्रितत्वात् त्रयाणामपि वर्णानामुपदेशेन गुरुत्वाद् यज्ञकर्तृत्वात् त्रैलोक्य-स्थितिहेतोः ब्राह्मणोऽहमिति प्रथमो मनो जात्युत्कर्षात्। तथा ब्राह्मणानामपि गृहस्थादीनां पूज्यत्वात् तत्कृतमानश्च। एतच्च मानद्वयमव्यक्तलिङ्ग [अ० ३, सू०१] वचनात् प्रतिषिद्धम्। तथा-

''वित्तं बन्धुर्यशः[२] कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥''

एतानि चैकवासःप्रेताचरणगूढव्रतोपदेशिना [अ० १, सू० १०; ३, ११; ४, २] सूत्रतः प्रतिषिद्धानीत्यतो मानो न कर्तव्यः। सन् इति प्रशंसायामस्तित्वे च। अग्रे तदसन्मानचरिप्रकरणविशिष्टं च [?]। हिशब्दोऽयमुत्तमोत्कर्षापेक्षो द्रष्टव्यः। यन्त्राणि अग्निष्टोमादीनि मासोपवासादीनि च गृहस्थादीनां शुद्धिवृद्धिकराणि। यन्त्राणि च कस्मात्?। यन्त्रं कर्मादयः। यस्मादयन्त्रा लौकिका अमर्यादावस्था भवन्तीत्यतो यन्त्राणि। **यन्त्राणाम्** इति षष्ठीबहुवचनम्। आह- [मूढप्रभृति?] बहुवचनप्रयोगात् सन्देहः। अथ कियतां यन्त्राणाम्?। तदुच्यते-**सर्वेषाम्**। अत्र सर्वेषामित्यशेषाणामित्यर्थः। सर्वेषामिति षष्ठीबहुवचनम्। आह-षष्ठायाः साकाङ्क्षत्वात् सन्देहः। तेषां कारणात्मानो वर्तन्ते [?]। तदुच्यते-**उत्तमः**। अत्रोत्तम इति श्रेष्ठत्वं परमविशुद्धित्यागादानभावादिषु। उक्तं हि-

---

१. ''जन्तूनाम्'' इति सूत्रपाठः।
२. ''वयः'' इति मनुस्मृतिः २.१३६

"वरेण्यः सत्तमो मुख्यो वरिष्ठः शोभनोऽथवा।
उत्तमश्चापरार्धश्च स्वर्थः श्रेष्ठार्थवाचकाः॥"

श्रेष्ठः। इह चोक्तम् उत्तम इति। आह-असन्मानः सर्वयन्त्राणामुत्तम इति क्व सिद्धम्। उच्यते-इह। यस्मादाह-स्मृतः। अत्र स्मृत इत्युक्तपर्यायः। महेश्वरेणोक्तं प्रोक्तं कथितं वर्णितमित्यर्थः। विशिष्टः कस्मात्?। सर्वज्ञवचनादविसंवादित्वाच्च। नहि प्रत्यक्षदर्शिनां वचनानि विसंवदन्तीत्यर्थः ॥९॥

आह-अस्मिन् क्रमे उत्तमत्वेन व्याख्यायमाने क आद्यः शोधकः?। केन वा इदं विधानं चीर्णम्?। आचरता वा किं फलं प्राप्तम्?। सो स्मत्प्रत्ययार्थं वाच्यः तदुच्यते-

इन्द्रो वा अग्रे असुरेषु पाशुपतमचरत् ॥१०॥

अत्र देवतानां राजा इन्द्रः। कथं गम्यते?। असुरेष्वाचरणवचनात्। ब्राह्मणश्चायमिन्द्रः श्रेष्ठः। सूत्रे ब्राह्मण [अ० ४, सू० २०] ग्रहणात् शूद्रप्रतिषेधा [अ० १, सू० १३] च्च। इति परमैश्वर्ये धातुः। तस्येन्द्रः। इन्द्र उत्कृष्ट श्रेष्ठः। देवगन्धर्वयक्षराक्षसपितृपिशाचादीनां श्रेष्ठो न तु ब्रह्मादीनाम्। किन्तु स्वर्गिणां मध्ये ऐश्वर्येण विद्यया आज्ञया चेत्यतः श्रेष्ठत्वादिन्द्रः। वाशब्दः सम्भावने। अन्यैरपि देवश्रेष्ठैरिदं विधानमाचीर्णम्। कुतस्तर्हि युष्मदादिभिर्मनुष्यमात्रैः?। तस्मात् सम्भाव्योऽयमर्थः। आह-कदा चीर्णमिति?। उच्यते-**अग्रे**। अत्राग्र इति पूर्वकालमधिकुरुते। 'कुशिकेशान'सम्बन्धत् प्राक्। प्रथममरैश्चीर्णम्। कृतत्रेताद्वापरादिषु युगेष्वित्यर्थः। आह-केष्वाचीर्णमिति?। उच्यते-**असुरेषु**। अत्रासुरा नाम सुरेतराः स्तेययुक्ताः। प्राणापहरणाद् वा असुराः प्रजापतिपुत्रा विज्ञेयाः। असुरेष्विति। सामीपिकं सन्निधानम्। असुरसमीपे असुराभ्याशे असुराणामध्यक्ष इत्यर्थः। आह-किं तदिति?। उच्यते-**पाशुपतम्**। अत्र पशुपतिनोक्तपरिग्रहाधिकारेषु वर्तत इति पाशुपतम्। पशुपतिर्वास्मिन् चिन्त्यय इति पाशुपतम्।पशुपतिप्रापकत्वाद् वा पाशुपतम्। पाशुपतमिति समस्तस्य सम्पूर्णस्य विधानस्यैतद् ग्रहणम्। कस्मात्? व्यक्तलिङ्ग- पूर्वकत्वादव्यक्तादिक्रमस्य। तस्मात् कृत्स्नमिदमेव विधानमाचीर्णमिन्द्रेण दुःखान्तार्थिना शुद्धिवृद्ध्यर्थम्। धर्मबाहुल्यात् सुराणां भुव्याचीर्णम्। अचरदित्यतीतः कालः। अतीते काले चीर्णवानित्यर्थः ॥१०॥

---

१. दसवां गुरु
२. छठा गुरु

आह-इन्द्रेणासुरष्वाचरता किं फलं प्राप्तम्?। तदुच्यते-

स तेषामिष्टापूर्तमादत्त ॥११॥

स इतीन्द्रग्रहणम्। **तेषाम्** इत्यसुरनिर्देशः। **इष्टापूर्तम्** इति द्वन्द्वसमासः। इष्टं च पूतं चेष्टापूर्तम्। तत्र यन्मन्त्रपूर्वकेण विधिना दत्तं हुतं स्तुत्यादिनिष्पन्नं सुकृतं तदष्टिम्। यदमन्त्रपूर्वकेणैव तत् पूर्वम्। ॥११॥

इन्द्रेणासुरेभ्यः केनोपायेन दत्तमिति?। उच्यते-

मायया सुकृतया समविन्दत ॥१२॥

क्राथनस्पन्दनादिप्रयोगैः धिक्कृतस्य निद्राचिष्टो वायुसंस्पृष्टो मन्दकरी असम्यक्कारी असम्यग्वादीति योऽयं दुष्टशब्दोऽभियोगशब्दश्च निष्पद्यते, तस्मिन्ननृते **मायासंज्ञा**। मानसकायिकाभियोगे च। **मायया** इति तृतीया। **सुकृतया** इति। सुप्रशंसायाम्। तया सकृतया सम्यक् प्रयुक्तयेति साधकसाधनप्राधान्यम्। **अविन्दत** इति प्राप्तौ प्राधान्ये च। स तेषामिष्टापूर्तमादत्तेति। उक्तं हि-

> **''आक्रोशमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षति।**
> **स तेषां दुष्कृतं दत्त्वा सुकृतं चास्य विन्दति॥''**

इति ॥१२॥

आह-उत्तम इन्द्रः। स तेषामिष्टापूर्तमित्युक्ते परापदेशेनास्य वृत्तिर्निर्गुणीकृता। अथात्मापदेशोऽत्र किमस्ति नेति?। उच्यते-अस्ति। यस्मादाह-

निन्दा ह्येषानिन्दा तस्मात् ॥१३॥

अत्रावमानपरिभावाद्या **निन्दा**। कुत्सा गर्हा इत्यर्थः। **हि**शब्दो निन्दोत्तमोत्कर्षोपक्षेपे द्रष्टव्यः। उत्तमाधिकाराद् गम्यते। **एषा** इत्यतिक्रान्तापेक्षणे। अवमानपरिभवपरिवादाद्या निन्देत्यर्थः। **अनिन्दा** इत्यकारो निन्दितत्त्वं प्रतिषेधति। अनिन्दा अकुत्सा अगर्हा इत्यर्थः। अत्र तस्माच्छब्दः पूर्वोत्तरं चापेक्षते। तत्र पूर्वाकाङ्क्षयां तावत् कृत्स्ना निन्दा प्रकरणगुणवचने [?]। यस्मादिन्द्रस्यापि शुद्धिवृद्धिकारिणी आत्मापदेशंन परापदेशंन च भगवता असन्मानचर्यार्गुणीकृता तस्मादित्यर्थः। आह-निराकाङ्क्षानिर्देशात् सन्देहो यथा यथा वर्णितं तथा तथा च व्याख्यातम [?] ॥१३॥

निन्दाया अनिन्दितत्वं गुणं ज्ञात्वा साधकेन किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-

निन्द्यमानश्चरेत् ॥१४॥

अत्र **निन्दा** पूर्वोक्ता। निन्द्यमानेनैव निन्दायाः वर्तमानकाल इत्यर्थः। **चरेद्** इत्यार्जनमधिकुरुते। धर्मार्जने नियोगे च। संशयान्यत्वाच्चापुनरुक्तश्चरिशब्दो द्रष्टव्यः ॥१४॥

अत्रेदमानुषङ्गिकम् असन्मार्गचरिप्रकरणं परिसमाप्तम्॥

आह-निन्द्यमानश्चरेदित्युक्त्वा आद्यं विधानमाचरतः कोऽर्थो निष्पद्यते?। निष्पन्नेन वा कथमभिलप्यते?। तदुच्यते-

अनिन्दितकर्मा ॥१५॥

अत्र चर्योत्तरसम्बन्धाद् गम्यते यदेतदनिन्दितं कर्म धर्मः स एव निन्द्यमानस्याचरतो निष्पद्यते। अतः अनिन्दितकर्मा भवतीत्यर्थः ॥१५॥

आह-निन्द्यमानस्याचरतो निन्दितं कर्म भवतीति कः सिद्धम्?। तदुच्यते-इह। यस्मादाह-

सर्वविशिष्टोऽयं पन्थाः ॥१६॥

अत्र अयम् इति प्रत्यक्षे। यथायं पुरुषः ॥१६॥

यथाविधिश्चरिरिति याः क्रियाः, अत्राधिकृतस्यानिन्दितं कर्म भवतीत्याह भगवान्-

सत्पथः ॥१७॥

कस्मात्?। रुद्रसमीपप्रापणसामर्थ्यात्। अनावृत्तिप्रापणसामर्थ्याच्चाविकलः। तस्मात् सर्वज्ञवचनाविसंवादित्वाच्चायं **सत्पथ** इत्यर्थः ॥१७॥

आह-किमन्यत्र पन्थानो न सन्ति इति?। उच्यते-सन्ति। किन्तु,

कुपथास्त्वन्ये ॥१८॥

अत्र कु कुत्सायां भवति। कस्मात्?। कुशब्दप्रयोगाद् गम्यते। कुपुरुषवत्। पन्थानो विधय उपाया इत्यर्थः। तुशब्दो नावृत्त्युत्कर्षे। **अन्ये** इति। गृहस्थब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुपाषण्डिनां पन्थानः। ते कुपथाः ॥१८॥

न आह-अयमेव सत्पथः, शेषाः कुपथा इति क्व सिद्धम्?। किं वाऽस्य सत्पथत्वम्?। शेषाणां वा कुपथत्वं किमिति?। उच्यते-इह-यस्मादाह-

अनेन विधिना रुद्रसमीपं गत्वा ॥१९॥

अत्र **अनेन** इत्यनपेक्षणे। **विधिना** भस्मस्नानक्राथनादिनोपायेनेत्यर्थः। विधिनेति तृतीया। रुद्र इति कालोपदेशे। रुद्रस्य रुद्रस्वं पूर्वोक्तम्। **समीपम्** इति योगपर्यायः। कथं गम्यते?। विध्यनन्तरोक्तत्वात्। सति विधिविषयत्वे पुरुषेश्वरयोर्विषयाधिकारकृतं वियोगं दृष्ट्वा ज्ञानपरिदृष्टेन विधिनाध्ययनध्यानाधिकृतो विशुद्धभावः समीपस्थ इत्यर्थः। **गतिः** प्राप्तिर्भावस्येत्यर्थः। त्वा इति विधि कर्मणोर्निष्ठा ॥१९॥

आह-अत्रैवं विध्याचरणं समीपगमनं च कस्योपदिश्यते?। उच्यते-न तीर्थयात्रादिधर्मवत् सर्वेषाम् किन्तु संस्कारवद् ब्राह्मणस्यैव। यस्मादाह-

न कश्चिद् ब्राह्मणः पुनरावर्तते ॥२०॥

अत्र नकारोपदेशोऽन्याचरणप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थः। **कश्चिद्** इति गृहस्थाद्यः। स्थानमात्रवैलक्षण्यदर्शनाद् ब्राह्मणेष्वेव कश्चिच्छब्दः। गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो भिक्षुरेकवेदो द्विवेदस्त्रिवेदश्चतुर्वेदो गायत्रीमात्रसारो वानेन विधिना रुद्रसमीपं प्राप्तः सन् न कश्चिद् ब्राह्मणः पुनरावर्तत इत्यर्थः। **ब्राह्मणग्रहणं** ब्राह्मण्यावधारणार्थ, ब्राह्मण एव नान्य इत्यर्थः। क्षेत्रज्ञे च ब्राह्मणसंज्ञा। कस्मात्। उपचयजन्मयोगात् संस्कारयोगात् श्रुतयोगाच्च ब्राह्मणः। पुनः शब्दः पुनरावृत्तिप्रतिषेधे। यथा पूर्व संज्ञानादिभिर्गत्वा आवर्तते पुनः पुनः तथानेन विधिना रुद्रसमीपं गत्वा न सकृदावर्तते। पुनः पुनः सर्वथापि नावर्तत इत्यर्थः। आङ्इति स्वशास्त्रोक्तमर्यादामधिकुरुते, अभिविध्यर्थं च। ये चानेन विधिनाक्षपिताज्ञानकलुषपापमायादयः क्षीणाः ते पुनः पुनरावर्तन्ते। न तैः सह संयोगो भवति। न चापरं जन्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥२०॥

एवमध्यायपरिसमाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्-

अत्रेदं ब्रह्म जपेत ॥२१॥

अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः ॥२१॥]

आह-किं पुनस्तद् ब्रह्म?। तदुच्यते-कारणादिभावेनोक्तस्य भगवत एकत्वं साधको ज्ञात्वा तत्साधनसारभते-

तत्पुरुषाय विद्महे ॥२२॥

अत्र पूर्वं कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोपदिष्टस्य परामर्शः **तद्** इति। **पुरुषा** इति पौरुष्यानुपूरणाच्च पुरुषः। पौरुष्यमस्यानेकेषु रूपेष्ववस्थानात्। तत्संस्थानि रूपाणि अघोरादीनि। [1]तत्पपुरुषायेति चतुर्थी। यथा ग्रामाय तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति, तथा पुरुषाय तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति। विद्महे इति। विद् ज्ञाने। विद्महे जानीमहे उपलभामह इत्यर्थः ॥२२॥

आह-पुरुषबहुत्वात् संदेहः। अथ कतमस्मै पुरुषाय?।

महादेवाय धीमहि ॥२३॥

अत्र महादेवत्वं च पूर्वोक्तम्। महादेवायेति चतुर्थी। **धीमहि** इति। धीङ् संश्लेषणे। ध्यायेमहि लीयामहे ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां संयुज्यामह इत्यर्थः। अत्र धी इति ज्ञानशक्तिपर्यायः। यया सर्वपदार्थानां तत्त्वमधिगच्छति, सा ज्ञानशक्तिः। महि इति क्रियाशक्तिपर्यायः। यया विधियोगाचरणसमर्थो भवति सा क्रियाशक्तिरित्यर्थः ॥२३॥

आह-अथैते दृक्क्रियाशक्ती महादेवात् साधकः किं स्वशक्तितः आसादयति?, आहोस्वित् परशक्तितः?, उतोभयशक्तितः। तदुच्यते-परशक्तितः। यस्मादाह-

तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥२४॥

तद् इति दृक्क्रियाशक्त्योग्रहणम्। **नो** इत्यात्मापदेशे। अस्माकमित्यर्थः। **रुद्र** इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। इत्यादिकर्मणि। चुद प्रेरणे। चोदनं नाम ज्ञानक्रियाशक्तिसंयोगः। याद् इति लिप्सा। संयोजयस्व मामित्यर्थः। उक्तं हि-''रुद्रस्येच्छापूर्वको यो योगो ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां पश्वादिषु सम्भवः, तच्चोदनमाहुराचार्याः ॥२४॥

एवमत्र भगवत्कौण्डिन्यकृते पञ्चार्थभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः
सह ब्रह्मणाऽग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति॥

---

१. ''सर्वविद्यादिकार्याणां व्याप्ताधिष्ठातृत्वं पूरणं, यथेप्सितानन्तशरीरादिकरणशक्तिः पौरुष्यं, तदुभयं भगवतः पुरुषत्वमुच्यते''। -गणकारिकाव्याख्या -पृष्ठ ११

अथ पञ्चमोऽध्यायः

इदानीं पञ्चमाध्यायमवसरप्राप्तं सम्बन्धं कृत्वा वक्ष्यामः। यस्मादाह-असङ्गयोगी इत्येव तावत् पञ्चमस्याध्यायस्यादिरिति। इदानीं पञ्चमस्य चतुर्भिरध्यायैः सह सम्बन्धं कृत्वा व्याख्यानं परिष्यामः। आह-चतुर्विधत्वात् सम्बन्धस्य संदेहः। इह चतुर्विधः सम्बन्धो भवति। यद्यथा-सूत्रसम्बन्धः प्रकरणसम्बन्धोऽध्यायसम्बन्धो दूरस्थश्चेति। उक्तं हि-

> ''सूत्रप्रकरणाध्यायैः सम्बन्धस्त्रिविधः स्मृतः।
> दूरस्थश्चार्थशेषेण पूर्वात् सम्बन्ध इष्यते।।''

एवं चतुर्विधः सम्बन्धो भवति यस्माद्, अतो नः संशयः कतमोऽयं सम्बन्ध इति?। तदुच्यते-न तावदयं सूत्रसम्बन्धो न प्रकरणसम्बन्धो न दूरस्थसम्बन्धः। किन्त्वयमध्यायसम्बन्धः। आह-यद्येवं तस्माद् उच्यतां, कतमस्य पदार्थस्य शेषेणायं सम्बन्धः कथ्यते?। योगशेषेण। आह-अस्मिन् योगपदार्थे किं शेषम्?। किं वा नियतं शेषत्वेन यत् सम्बध्यते?। तदुच्यते पूर्व चतुर्ष्वध्यायेषु कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोक्तस्य भगवत एकत्वं नोक्तम्। तद् वक्ष्यामः। तत्र कारणत्वं तावदुक्तं-पतिः सन् आद्यो जातो भवोद्भव [अ॰ १, सू॰ ३८, ४० व ४४] इति। बहुत्वमुक्तं-वामो देवो ज्येष्ठो रुद्रः कामी शङ्करः कालः कलविकरणो बलप्रमथनः सर्वभूतदमनो मनो मनः [अ॰ २, सू॰ १-४, ६, २० व २३-२७] इति। नानात्वं चोक्तम्-अघोरो घोरो घोरतर [अ॰ ३, सू॰ २१-२३] इति। एवं कारणत्वबहुत्वनानात्वेनोक्तस्य भगवत एकत्वं वक्ष्यामः। यादृश महेश्वरे योक्तव्यं तत्तत्त्वनिर्देशं करिष्यामः। उक्तं च-''उभयथा यष्टव्यः'' [अ॰ २, सू॰ ९]। अथ कीदृशे महेश्वरे उभयथा यजनादयः कर्तव्याः?। तदुच्यते-यादृशे महेश्वरे उभयथापि यजनादयः कर्तव्याः, भक्तिसमीपं देवनित्यता नित्ययुक्तता अध्ययनं ध्यानं स्मरणं सायुज्यं चित्तस्थितिर्द्रिष्टव्या, तथा वक्ष्यामः। यथा चायमात्मा दोषादिविशिष्टः शुद्धो युज्यते, तथा वक्ष्यामः। तन्निष्ठायोगलक्षणं. निष्ठायोगक्रियायोगयोः प्रतिविभागं वसत्यर्थे वृत्तिबल च तद् वक्ष्यामः। तथा

समीपप्राप्तस्य चित्तस्थितिं च वक्ष्यामः। अत एभिरुक्तशेषैः पञ्चमोऽध्यायः सम्बध्यते। यस्मादाह-

असङ्गः ॥१॥

अत्र अकारः सङ्गप्रतिषेधे। अत्र सङ्गो नाम यदेतत् पुरुषे विषयित्वम्। तेन विषयित्वेन योगादधर्मेण चायं पुरुषो यदा अध्ययनध्यानादिभ्यश्यवति। दृष्टान्त-श्रवणप्रेक्षणलक्षणो वनगजवत् त्रैकाल्यमिक्ष्यर्थः [?]। [1]असङ्गित्वमप्यतीतानागत-वर्तमानानां विषयाणामननुचिन्तनं भिक्षुवत्। एवं महेश्वरं भावस्थिति-स्तदसङ्गित्वमित्यर्थः ॥१॥

आह-किमसङ्गित्वमेवैकमुक्तं नान्यल्लक्षणम्?। उच्यते-यस्मादाह-

योगी ॥२॥

इति। अत्र [2]योगो नाम-आत्मेश्वरसंयोगो योगः प्रत्येतव्यः। उक्तं हि-

> "शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः।
> क्रियमाणैर्न बुध्येत एतद् युक्तस्य लक्षणम्॥"

इति ॥२॥

आह-किं लक्षणद्वयमेवात्र युक्तस्योच्यते?। न। यस्मादाह-

नित्यात्मा ॥३॥

अत्र नित्यत्वविशेषणेनानित्यत्वं निवर्तते। नित्यत्वं नाम सति विभुत्वे पुरुषेश्वरयोर्मनसा सह गतस्यात्मताभावस्य वृत्त्याकारस्य विषय प्रति क्रमो क्षोपो ऽवस्थानं वृक्षशकुनिवत्। तस्मिन् निर्वृत्ते महेश्वरे युक्तो नित्य[3] इत्युच्यते। **आत्मा** इति क्षेत्रज्ञमाह। कथं गम्यते?। चित्तस्थित्युपदेशाद् योगार्थ विद्याचरणोपदेशाद् असङ्गयोगियुक्तात्मजमैत्रादीनां चेतने सम्भवात्, न त्वचेतनेषु कार्यकरण-प्रधानादिषु। तस्मिंश्चेतने आत्मशब्दः। आत्मा च कस्मात्?। अततीत्यात्मा। आपूर्य कार्यकरणं विषयाश्चेतयतीत्यात्मा। उक्तं हि-

---

१. "तांतलक्ष्यमाणस्य सङ्गस्यात्यन्तहानिरसङ्गित्वम्"।

२. "केवलरुद्रतत्त्वावस्थितचित्तत्वं योगित्वम्"। –गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १६

३. "अनुरुध्यमानचित्तवृत्तित्वं नित्यात्मत्वम्"। –गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १६

''यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् पुनः।
यच्चास्य सततं भवः तस्मादात्मेति संज्ञितः॥''

स च श्रोता स्प्रष्टा द्रष्टा रसयिता घ्राता मन्ता वक्ता बोद्धा इत्येवमादिः उक्तं हि-

''पुरुषश्चेतनो भोक्ता क्षेत्रज्ञः पुद्गलो जनः।
अणुर्वेदो मृतः साक्षी जीवात्मा परिभूः परः॥''

इति। तस्य सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नचैतन्यादिभिर्लिङ्गैरधिगमः क्रियते इत्यर्थ ॥३॥

आह-किं लक्षणत्रयमेवास्य युक्तस्योच्यते?। न। यस्मादाह-

अजः ॥४॥

अत्र अज इत्यर्थान्तरप्रादुर्भावप्रतिषेधोऽभिधीयते। अत्रार्थान्तरं नाम शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा तरम् अध्ययनध्यानस्मरणादयः [च]। तेषु न जायत इति अजः[1] ॥४॥

आह-किं लक्षणचतुष्कमेवास्य युक्तस्योच्यते?। न। यस्मादाह-

मैत्रः ॥५॥

अत्र मैत्र इति समतायां भवति। यथा मैत्र आदित्यः। सर्वभूतस्थिते च महेश्वरे स्थितचित्तः इच्छाद्वेषविनिवृत्तो प्रवृत्तिमान् मैत्र इत्युच्यते। तस्मात् कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकालमेवासङ्गादिभावेन जायते ॥५॥

आह-अथ कथं पुनरेतद् गम्यते। यथा कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमकाल-मेवासङ्गादिभावेन जायते?। उच्यते-गम्यते। यस्मादाह-

अभिजायते ॥६॥

अत्र अभिशब्दो विशेषणे। को विशेष इति चेत्। तदुच्यते। यस्मादयं सङ्गी आयोगी अनित्यात्मा अनजो मैत्रश्च भूत्वा असङ्गादिभावेन जायत इत्येष विशेषः। जायते इति। जनी प्रादुर्भाव। तस्मात् कार्यकरणवानेव चित्तस्थितिसमका-लमेवासङ्गादिभावेन युगपज्जायते। अवश्यादिवद् [अ॰ १. सू॰ २८] इत्यर्थः ॥६॥

---

१. ''अप्रादुर्भावचित्तत्वम् अजत्वम्''। -गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १६

असङ्गादिभावे को सावभ्युपायो येन जायते?। उच्यते-

इन्द्रियाणामभिजयात् ॥७॥

अत्र जितता जयः। तस्माज्जयादसङ्गतादि भवति। अत्र परिग्रहतयेश्वराणि इन्द्रियाणि बुद्ध्यादीनि वागन्तानि त्रयोदश करणानि। तेषामभिजयादित्यर्थः। आह-कथं बुद्धि [? द्ध्यादि] सिद्धिरिति चेत्?। तदुच्यते-सिद्धत्वात्। अत्र मतिबुद्धिपिधानस्थापनोद्देशाद् घटपटवत् सिद्धत्वाच्च बुद्धिः सिद्धा। तथा परोपदेशात् स्वात्मपरात्मप्रतिविभागदर्शनात् सुरोऽ हं नरोऽहमिति भिन्नवृत्तित्वाच्चाहङ्कारः सिद्धः। तथा मनः प्रवर्तते मनोजवी मनो मन इति संकल्पविकल्पवृत्तिनानात्वं च सिद्धम्।. एवं त्रिकालवृत्त्यन्तःकरणं पुरुषस्य व्याख्यातम्। तथा बुद्धीन्द्रियाणां श्रोत्रं व्याख्यातम्। परपरिवादादि [अ॰ ३, सू॰ ७] वचनाद् उच्चैरुभयथा प्रमुखे द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं समन्ताच्छब्दव्यञ्जनसमर्थं सिद्धम्। तथातितपोपदेशात् [अ॰ २, सू॰ १६] त्वग् अन्तर्बहिश्च शरीरं व्याप्य सन्निविष्टा स्पर्शव्यञ्जनसमर्था सिद्धा। तथा मूत्रपुरीषदर्शनप्रतिषेधात् [अ॰ १, सू॰ १२] कृतान्नादिवचनाच्च [अ॰ ४, सू॰ ७] चक्षुः उच्चैरुभयथा प्रमुखे द्विरधिष्ठाने संनिविष्टं घटरूपादिव्यञ्जनसमर्थं सिद्धम्। तथा मांसलवणोपदेशाद् [अ॰ ५, सू॰ १६] जिह्वा तन्मुखे मांसपेश्यां सन्निविष्टा रसज्ञानजननसमर्था सिद्धा। तथा प्राणायामोपदेशात् [अ॰ १, सू॰ १६] घ्राणं प्रमुखे उच्चैरुभयथा द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं गन्धग्रहणसमर्थ सिद्धम्। एवमधिकारिवृत्तिभिर्बुध्यत्येभिः पुरुष इति बुद्धीन्द्रियाणि। तथा कर्मेन्द्रियाणि। मण्टनविहरणोपदेशात् [अ॰ ३, सू॰ १४; ४, ६] पादेन्द्रियमधस्ताद् द्विरधिष्ठाने सन्निविष्टं गमनक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा मूत्रपुरीषदर्शनप्रतिषेधात् [अ॰ १, सू॰ १२] पायिवन्द्रियं गुह्यप्रदेशे सन्निविष्टम् उत्सर्गक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा स्त्रीप्रतिषेधाद् [अ॰ १, सू॰ १३] उपस्थेन्द्रियं त्रिवलीगुह्यप्रदेशसन्निविष्टमानन्दक्रियासमर्थं सिद्धम्। तथा अपितत्कर्मोपदेशात् [अ॰ ३, सू॰ १६] हस्तेन्द्रियमुच्चैरुभयथा द्विरधिष्ठाने भुजान्तर्देशसन्निविष्टमादानक्रियासमर्थं सिद्धम्। अत्र विकारतद्वृत्तिभिः कर्मोत्पत्तिः पुरुषे इति कर्मेन्द्रियाणि। एवमेतानि त्रयोदश करणानीन्द्रियाणि सूत्रतो व्याख्यातानि। कस्मात्?। इन्द्रियाणामिति सामान्यग्रहणाद् विकरणवत् सामान्यप्रतिषेधाच्च। इन्द्रियाणाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। उक्तं हि-

''आदानाद् ग्रहणात् त्यागाद् रङ्गणाद् गमनात् तथा।
इङ्गनाद्रवणाच्चैव तस्मादिन्द्रियमुच्यते॥''

अभिजयाद् इति। अभिशब्दः अत्यन्तविजये वशीकरणे च। आक्रम्य वशीकर्तव्यानि। वायुकामक्रोधपाटलिपुत्रवत्। तस्मादकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतः कुशले योजितानि [यदा], तदा जितानि भवन्ति। तस्माद् उक्तम्-इन्द्रियाणामभिजयादिति। असङ्गादिजन्मनिमित्तत्वात् पञ्चमी द्रष्टव्या ॥७॥

आह-अन्यत्र साङ्ख्ययोगादीनाम् असङ्गादियुक्ताः मुक्ताः शान्तिं प्राप्ताः। निरभिलप्या मुक्ता इत्युच्यन्ते। मुक्त एव न युक्त इति क सिद्धम्?। तदुच्यते-इह। यस्मादाह-

रुद्रः प्रोवाच तावत् ॥ ८॥

तत्र **रुद्र** इति कारणापदेशे। रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। **प्र** इत्यभिधानविशुद्धौ। प्रसन्नेन्दियवत्। वच व्यक्तायां वाचि। **प्रोवाच** इति। एवं यत् साङ्ख्यं योगश्च वर्णयति असङ्गादियुक्ताः मुक्ताः शान्ति प्राप्ता इति, तदविशुद्धं तेषां दर्शनम्। तैमिरिकस्य चक्षुषश्चन्द्रदर्शनवत्। अयं तु युक्त एव न मुक्त इति विशुद्धमेतद्दर्शनं द्रष्टव्यम्। कस्मात्। सर्वज्ञवचनादविसंवादित्वाच्चैतद् गमयम्। एवमेतन्नान्यथेत्यर्थः। किञ्चान्य-दिदम् अथशब्दादि शिवान्तं प्रवचनं रुद्रप्रोक्तं **तावत्** सर्वतन्त्राणां श्रेष्ठम्। तस्मात् कारणशास्त्रयोः परप्रमाणभावोऽवधार्यत इत्यर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः ॥८॥

आह-किमेतानीन्द्रियाणि परिज्ञानमात्रादेव जितानि भवन्ति प्रधानवत्?। तदुच्यते न। ज्ञानेन वचनादिभिरेषां जयः कर्तव्यः, यस्मादेषां जये भगवता वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभाय वसता [?] इत्यतस्तज्जये वसत्यर्थ एव तावदुच्यते। यस्मादाह-

शून्यागारगुहावासी ॥ ९॥

इति। अत्र शून्यमेवागारं शून्यागारम्। शून्यं विविक्तं निर्जनमित्यर्थः। अगारम् इति गृहपर्यायः। अगारं गृहं वेश्म सदनमिति पर्यायः। गुहू संवरणे। प्रविष्टं साधकं आवरयति गोपयतीति गुहा। आह-आवरकत्वाविशेषाच्छून्यागारगुहयोरविशेष इति चेत्, तदुच्यते-मृत्तृणकाष्ठादिकृतम् अगारं, पर्वतगुहाद्या गुहा। तस्मान्नाविशेष इति। यथा सति विभुत्वे ज्ञत्वं साधर्म्यं पुरुषेश्वरयोः, सर्वज्ञत्वतो विशेषः। तस्मादायतनंऽविविक्तदोषं दृष्ट्वा शून्यागारं गुहायां वा यथोपपत्तितो विचार्य विविक्तं विविच्य यन्मात्रस्थानासनशयनादिभिरूपजीवति, तन्मात्र

संस्करणमर्यादयोपयोगक्रियाभिनिविष्टेन वस्तव्यम्। वसतिसंयोगाद् गुहावासी भवति। पुलिनवासिवत् ।।९।।

आह-तत् कथं ज्ञेयं, यथा जितानीन्द्रियाणि?। तेषां जितानां वा किं लक्षणम्?। तदुच्यते-

देवनित्यः ।।१०।।

अत्र देवो भगवान्। तत्र यदास्य भगवति देवे नित्यता। कथम्? अध्ययनध्यानाभ्यां देवेऽधिकृतस्य प्राधान्येन निश्चलता वर्तते। स्वल्पतरव्यवधाने पि अतियोगाभ्यासनिरन्तरप्राप्तिः। स्मृतिस्तु देवनित्यतेत्यर्थः ।।१०।।

आह-तत् कथं ज्ञेयं, यथा जितानीन्द्रियाणि। तेषां जितानां वा किं लक्षणम्? तदुच्यते–

जितेन्द्रियः ।।११।।

अत्र जितेन्द्रियत्वं नाम उत्सर्गनिग्रहयोग्यत्वम्। इन्द्रियाणि बुद्ध्यादीनि वागन्तानि त्रयोदश करणानि पूर्वोक्तानि। तानि यदा अकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्वा कामतः कुशले योजितानि हतविषदर्वीकरवदवस्थितानि भवन्ति, तदा देवनित्यो जितेन्द्रिय इत्यर्थः ।।११।।

आह-किं देवनित्यतैवास्य पदो निष्ठायोगः?। उच्यते न। यस्मादाह-

षण्मासान्नित्ययुक्तस्य ।।१२।।

अथवान्यो दूरस्थः सम्बन्धः। यस्मादुक्तं-

''यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थमपि तेन[१] हि।
अर्थतो न्यसमानानामानन्तर्ये प्यसङ्गतिः।।''

एवमिहापि दूरस्थः सम्बन्धः। कस्मात्?। इह पुरस्तादुक्तं विज्ञानानि चास्य प्रवर्तन्ते [अ॰ १, सू॰ २१] इति, एतैर्गुणैर्युक्त [अ॰ १, सू॰ ३८] इति च। [एतत्] कियता कालेनास्य ते गुणाः प्रवर्तन्ते। किं युक्तस्य, किं वियुक्तस्य?, किं युगपत्,

---

१. ''तस्य तत्। अर्थतां ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्'' इत्यन्त्र

क्रमशो वा?, किं सकलस्य निष्कलस्य वेति?। इत्येषामर्थानामनिर्वचनानां निर्वचनार्थमिदमारभ्यते। यस्मादाह-षण्मासान्नित्ययुक्तस्य। अत्र षड् इति सङ्ख्या। मासान् इति कालनिर्देशः। मनुष्यगणनया त्रिंशद्दिवसो मासः। द्वादस मासाः संवत्सरः। द्वादश पक्षा अर्धसंवत्सरः। षण्मासानिति। तस्मात् षष्ठप्रथममासयोरभ्यन्तरे। नित्ययुक्तस्य। [नित्य] सन्ततमविच्छिन्नमित्यर्थः। युक्त इति। आत्मेश्वरसंयोगो योगः। नित्ययुक्तस्य इति षष्ठी ।।१२।।

आह-अस्य युक्तस्य किं भवति?। तदुच्यते-

भूयिष्ठं सम्प्रवर्तते ।।१३।।

अत्र भूयिष्ठम् इति क्रमे प्रायः च भवति। यथा क्रमशो ददाति, आदित्यो वा गतो भूयिष्ठम्। तस्मात् सूच्यग्रेणोत्पलपत्रशतभेदनक्रमवत् क्रमाद् दूरदर्शनादयः प्रवर्तन्त इत्यर्थः। सम् इत्येकीभावे। निष्कलस्य कार्यकरणरहितस्येत्यर्थः। प्र इत्यादिकर्मण्यारम्भे भवति। युक्तोत्तरे प्रभावाद् गुणाः प्रवर्तन्ते इत्यर्थः। वर्तते कस्मिन्?। दर्शनं दृश्ये, श्रवणादि श्रव्यादिष्वित्यर्थः। तस्मात् षष्ठप्रथम-मासयोरभ्यन्तरे नित्ययुक्तस्य क्रमशो गुणाः संप्रवर्तन्ते। कुतः? महेश्वरप्रसादात्। अशिवत्वसंज्ञके विनिवृत्ते शिवत्वप्रसादाभ्यां गुणाः प्रवर्तन्ते। गुणशब्दो दूरदर्शनादिवचनः ।।१३।।

आह-का वृत्तिमास्थाय शून्यागारे गुहायां वासः कार्यः?। तदुच्यते-

भैक्ष्यम् ।।१४।।

भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं, कापोतवत्। तच्च नगरग्रामादिभ्यो गृहाद् गृहं पर्यटतो भक्ष्यभोज्यादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते। कृतान्नादि-[अ० ४, सू० ७] वचनाद् भैक्ष्यम्। भयक्षपणाद् भैक्ष्यम्। भिक्षावचनादभैक्ष्यप्रतिषेधः ।।१४।।

आह-आधारात्तु कृत्वा संदेहः, अथ कुत्र तद् भैक्ष्यं ग्राह्यम्?। तदुच्यते-पात्रे। यस्मादाह-

पात्रागतम् ।।१५।।

अत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं पात्रम्। अलाबुदारुवस्त्रादीनामन्यतमं यत् प्राप्यतं, तत् खलु हिंसास्तेयादिरहितेन क्रमेणाहारंयत्पर्याप्तं ग्राह्यम्। तस्मिन् तदफलकं पात्रे आगतं पात्रागतिमित्यर्थः ।।५।।

मांसमदुष्यं लवणेन वा ।।१६।।

तत्र भैक्ष्यवत् प्रसिद्धं मांसम्। यस्य माहिषवाराहादीनामन्यतमं यत् प्राप्यते तत् खलु, हिंसास्तेयरहितत्वात्। **लवणेन** वा। अत्र लवणं नाम सैन्धवसौवर्चलाद्यं मांमवत् प्रसिद्धम्। तदेतन्मांससमसंसृष्टं वा भैक्ष्यविधिना प्राप्तम्। **अदुष्यम्** अकुत्सितम् अगर्हितमित्यर्थः। वा विकल्पे। मांसेन वा लवणेन वा उभाभ्यामपि साक्षाद्वा अदुष्यमित्यर्थः ।।१६।।

आह-भैक्ष्यालाभकाले अपर्याप्तिकाले वा किमनेन कर्तव्यम्?। तदुच्यते-अपः पीत्वा स्थेयम्। यस्मादाह-

आपो वापि यथाकालमश्नीयादनुपूर्वशः ।।१७।।

अत्र आङ् आपः आपः। आङ् इति। अत्र संवृतपरिपूतादिमर्यादामधिकुरुते, कृतान्नोत्सृष्टवद् अपदान्तरितत्वात्। द्वितीयास्थाने प्रथमा द्रष्टव्या। **आपो**ऽत्र लोकादिप्रसिद्धाः। तृणादिव्यावृत्तमुदकमित्यर्थः। वा विभागे। अन्यद् भैक्ष्यम् अन्या आप इति। **अपि**शब्दः सम्भावने। अप्यपः पीत्वा स्थेयं, न तु शास्त्रव्यपेतेन क्रमेण वृत्त्यर्जनं कर्तव्यमित्यर्थः। यथा इतिशब्द समानार्थे। **यथा** भैक्ष्योपदेशं कृत्वा योगकर्मण्युद्यमः कर्तव्य इति व्याख्यातं, तथा अपः पीत्वेति। **कालो**ऽत्र द्विविधः। अलाभकालः अपर्याप्तिकालश्च। तत्र यदा ग्रामं नगरं वा कृत्स्नमटित्वा न किञ्चिदासादयति, सः अलाभकालः। अपर्याप्तिकालो नाम यदा भिक्षां भिक्षाद्वयं वा आसादयति, तदा अपः पीत्वापि स्थेयम्। आह-एवं स्थितेन किमनेन कर्तव्यम्?। तदुच्यते-उपयोक्तव्यम्। यस्मादाह-**अश्नीयादनुपूर्वशः** इति। अश्नीयादिति योग-क्रियानुपरोधेनाहारलाघवमर्यादामधिकुरुते। अश भोजने। अश्नीयादनुपूर्वशः। अनु-पृष्ठकर्मक्रियायाम्। अनुपूर्वश इति अतिक्रान्तापेक्षणे प्रकारवचने च। यथापूर्वं ग्रामादि प्रविश्य भैक्ष्यार्जनं कृत्वालाभकाले अपर्याप्तिकाले वा तदनु पश्चादपः पीत्वा स्थेयमिति कृत्वा भगवता एतदुक्तम् अश्नीयादनुपूर्वश इति। अत्र श्लोको निर्वचनः ।।१७।।

आह-शून्यागारगुहावस्थस्येन्द्रियजयेन वर्ततोऽस्य बलं किं चिन्त्यते?, किमकलुषत्वमेव?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

गोधर्मा मृगधर्मा वा ॥१८॥

अत्र गौर्लोकादिप्रसिद्धो मृगवत् खुरककुदविषाणसास्नादिमानिति। तथा मृगोऽपि गोद्रव्यवल्लोकादिप्रसिद्धः कृष्णमृगादीनामन्यतमः। तयोस्तु सति धर्मबहुत्वे समानो धर्मो गृह्यते, आध्यात्मिकादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम्। तदुत्तरत्र वक्ष्यामः। गोमृगधर्मग्रहणं तु परस्परविशेषणार्थम्। वा शब्दो विकल्पार्थः। क्रियासामान्यदृष्ट्या रौद्रीबहुरूपीवदेकधर्मेण चैकधर्मेण वा स्थेयमित्यर्थः ॥१८॥

आह-केन बलेनास्य कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते-

अद्भिरेव शुचिर्भवेत् ॥१९॥

अत्र अद्भिः आङ् इव अद्भिरेव। आपो जलमित्यादिप्रसिद्धाः पूर्वोक्ताः। **अद्भिरिति** तृतीया। **आङ्** इति पूर्वप्रसिद्धमात्रादिमर्यादामधिकुरुते। गोमृगवद् द्वन्द्वसहिष्णुत्वमर्यादायां च। **इव** इति उपमायाम्। यथा अद्भिश्च मृद्भिश्च प्रक्षालितानि वस्त्रादीनि शुद्धानि भवन्ति, तत्रत् ॥१९॥

गोमृगधर्मित्वेन बलेन शुचिर्भवतीति?। उच्यते-न। यस्मादाह-गोमृगयोरकुशलधर्मप्रतिषेधं कुशलधर्मे च नियोगं, सिद्धशक्तिप्रशंसया असिद्धशक्तिप्रतिषेधं च वक्ष्यामः। तदाह-

सिद्धयोगी न लिप्यते कर्मणा पातकेन वा ॥२०॥

असिद्धस्तु सर्वथापि वर्तमानो लिप्यत इत्यर्थः। अतो योगी सिद्ध इत्येवं प्राप्ते सुखमुखोच्चारणार्थमुक्तं **सिद्धयोगी** इति। अत्र योगो नामात्मेश्वरयोर्योगः। तेनायं योगी। सिद्धो नाम दर्शनाद्यैश्वर्यं प्राप्तः। स खलु वशीकरणावेशनपालनादिप्रवीणः। **न लिप्यते** न संयुज्यत इत्यर्थः। आह-केन न लिप्यते?। तदुच्यते-**कर्मणा**। अत्र कर्मणेत्युच्यते। कस्मात्?। कृतकत्वात्। कर्मणेति तृतीया। इष्टस्थानशरीरेऽन्द्रियविषयसम्बन्धकृतेन कर्मणा न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः। आह-अनिन्दितेन शुभेन कर्मणा न संयुज्यत इत्युच्यते, आहो अथकिमशुभेन कर्मणा लिप्यते नेति?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-**पातकेन**। अत्र पापाख्येन पातकेन वानिष्टस्थान-शरीरेन्द्रियविषयगतो शुभं भुङ्क्ते, तेनाप्यशुभेन कर्मणा न लिप्यते न युज्यत इत्यर्थः। **वा** विकल्पे। पातकेन वा अपातकेन वा समस्ताभ्यां वा वशीकरणावेशनपालनादिषु प्रवर्तमानो न लिप्यत न संयुज्यत इत्यर्थः। कस्मात्? सिद्धिसामर्थ्यात्। असिद्धश्चायं

योगी ब्राह्मणो गोमृगधर्मावस्थो यदि सर्वथापि गोमृगवत् प्रवर्तते, ततो लिप्यते। तस्माद् गोमृगयोरकुशलधर्मो न ग्राह्यः। कुशलधर्मश्च स्वाध्यात्मिकादिद्वन्द्व-सहिष्णुत्वं परिगृह्यते। तेनायं शुचिर्भवति। आहकिमस्याशौचम्?। तदुच्यतेद्वन्द्वै-र्योगव्यासङ्गकरैः कामक्रोधशिरोरोगादिनिमित्तैः शीतादिभिरन्यैर्वा। न लिप्यते न संयुज्यत इत्यर्थः। कस्मात्? प्राप्तबलत्वादित्यर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः ॥२०॥

आह-शून्यागारगुहावस्थस्येन्द्रियजये वर्ततः काः क्रियाः कर्तव्याः?। किं स्नानहसिताद्याः?, क्राथनस्पन्दनमण्टनाद्या वा?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

ऋचमिष्टामधीयीत गायत्रीमात्मयन्त्रितः ॥२१॥

अत्र ऋचम् ऋचामित्यप्यदुष्टः पाठः। अत्र ऋचा नामाघोरा। कथं गम्यते?। ऋङ्मध्यात्। सद्योजाततत्पुरुषेशानवदर्चिवर्चगीः [?] इष्टा चेयं, तत्र तत्र जप्तव्यत्वेन गुणीकृतत्वात्। पूर्वोत्तरसूत्रेषु जप्तव्यत्वेन गायत्र्या सहाध्यानादाशुभावसमाध्यासादनाच्च इष्टा। **अध्ययनम्** इति जप्यपर्यायः। **ईत** इत्याज्ञायां नियोगे च। मानसमेवा धीयीतेत्यर्थः। आह-किं ऋचैवैकाध्येतव्या?। उच्यते-न। यस्मादाह-**गायत्रीम्** इति। गायत्री नाम तत्पुरुषा। निरुक्तमस्याः पूर्वोक्तम्। मानसमेवाधीयीतेत्यर्थः। आह-कीदृशो धीयीतेति?। तदुच्यते-**आत्मयन्त्रितः**। आत्मयन्त्रणमिति प्रत्याहारपर्यायः। आत्मेति क्षेत्रज्ञ उच्यते। आत्मत्वमस्य चैतन्यम्। आप्तव्यं कार्यं करणं विषयाश्च। आत्मयन्त्रणमित्यत्र सति त्रिके युज्यते। यन्त्रणं नाम-यथायमात्मभावो ब्रह्मण्यक्षरपदपङ्क्त्यां युक्तो वर्तते, तदात्मा यन्त्रितो भवति। कथम्?। नृत्यप्रसक्तचित्तदृष्टान्तात्। कस्मात्। आत्मात्मभावयोरव्युच्छेदात्। गुणगुणिनोरपि तथा युगपद्भावः। कथम्?। यष्टुं प्रवृत्तो यन्त्रयितुं च प्रवृत्त एव भवति। भिक्षुवत्। तस्माद् यन्त्रणमेवैष प्रत्याहार इति ॥२१॥

आह-अत्र गायत्रीबहुत्वात् सन्देहः। कथमवगम्यते ऋचा अघोरेव वा तत्पुरुषेणति?। उच्यते-गम्यते। यस्मादाह-

रौद्रीं वा बहुरूपीं वा ॥२२॥

अत्र रौद्री नाम तत्पुरुषा। निरुक्तमस्याः पूर्वोक्तम्। वाशब्दो रौद्रीवहुरूप्योः प्रतिविभागे द्रष्टव्यः। **बहुरूपी** नामाघोरा। वा विकल्पे। तुल्यफलत्वात्। चेत्यत एका चैका वा। आत्मयन्त्रितोऽधीयीत इत्यर्थः ॥२२॥

आह-आत्मयन्त्रितस्याधीयतः का कार्यनिष्पत्तिः?। तदुच्यते-

अतो योगः प्रवर्तते ।।२३।।

अत्र **अत** इति कारणापदेशे। आत्मयन्त्रितोऽधीयीतेत्यर्थः। तस्मादनेन कारणेन हेतुना निमित्तेनेत्यर्थः। **योग** इति। आत्मेश्वरसंयोगो योग इति मन्तव्यः। प्र इत्यादिकर्मणि। **प्रवर्तते** इत्यस्य पूवोक्तोऽर्थः। अत्र श्लोको निर्वचनः ।।२३।।

आह-ऋचमधीयता ब्रह्मण्यक्षरपदपङ्क्त्यां किं युक्तेनैव स्थेयम्। आहोस्विद् दृष्टा अस्यान्या सूक्ष्मतरा उपासना क्रियाध्याननमःस्तव्यम्। उच्यते-दृष्टा। यस्मादाह-

ओङ्कारमभिध्यायीत ।।२४।।

अत्र **ओम्** इत्येष जप्यपर्यायो वामदेवादिवत्। **कार**शब्दोऽवधारणे द्रष्टव्यः। किं कारणम्?। उक्तं हि-

> ''प्रणवे नित्ययुक्तस्य व्याहृतीषु च सप्तसु।
> त्रिपदायां च गायत्र्यां न मृत्युर्विन्दते परम्।।''

इत्यत ओङ्कार एवावधार्यते ध्येयत्वेन न तु गायत्र्यादयः। **अभि**रभ्यासे। ओङ्कारसन्निकृष्टचित्तेन भवितव्यम्। ध्यै चिन्तायाम्। ध्यानं चिन्तनमित्यर्थः। उक्तं हि-

> ''ध्यै चिन्तालक्षणं ध्यानं ब्रह्म चोङ्कारलक्षणम्।
> धीयते लीयते वापि तस्माद् ध्यानमिति स्मृतम्।।''
>
> मुहूर्तार्धं मुहूर्तं वा प्राणायामान्तरे पि वा।
> ध्येयं चिन्तयमानस्तु पापं क्षमयते नरः।।''

ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। ओङ्कार[१] एव ध्येयो नान्य इत्यर्थः ।।२४।।

आह-ओंङ्कारो ध्येयः। को वा ध्यानदेशः?। कस्मिन् वा देशे धारणा कर्तव्या?। ध्यायमानेन वा किं कर्तव्यम्?। तदुच्यते-

---

१. ''दुःखान्तनिमित्तध्याने विषयत्वम् ओङ्कारत्वम्''।
गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

हृदि कुर्वीत धारणाम् ॥२५॥

तत्र हृदि इत्यात्मपर्यायः। कस्मात्?। पूर्वोत्तरसामर्थ्यात्। योऽर्थो यत्र मिलति स तत्र स्थापयितव्यः, स एवार्थो धारयितव्यः। किञ्च वेदप्रामाण्यादुक्तम्-

"[१]अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥"

अन्यत्रापि-

"आत्मा विजयते पुत्र आत्मा वै आत्मनः पिता।
आत्मप्रजो भविष्यामि परमं हृदयं हि सः॥"

अतो हृदयमात्मेत्युक्तम्-

"प्रकुरुते भावं बुद्धिरध्यवसायिताम्।
हृदयं प्रियाप्रिये वेत्ति त्रिविधा करणस्थितिः॥"

तथा लोकेऽपि सन्ति वक्तारो-हृदयं ते ज्ञास्यति। किमुक्तं भवति। आत्मा ते ज्ञास्यतीति। अतोऽवगम्यते हृदीत्यात्मपर्यायः। हृदीति औपश्लेषिकं सन्निधानम्। अत्र तु ओङ्कारो धार्यो नात्मा, किन्तु य एवात्मन्यात्मभावः। तस्यांङ्कारात् प्रच्युतस्य विषयेभ्यो वृत्तिविकारमात्रेण गतस्य प्रत्यानयनं प्रत्याहारः। प्रत्याहृत्य हृदि धारणा कर्तव्या। धार्य चोङ्कारानुचिन्तनम्। तत्रैव सुदीर्घकालमवस्थानमध्ययनम्। तद्धारणाहितं परं ध्यानम्। निष्ठायोगस्तु स्थापयित्वेति, [अ॰ ५, सू॰ ३८] वक्ष्यामः। **कुर्वीत** इति। डुकृञ् करणे। तस्य सप्तम्यन्ते कुर्वीतेति भवति। हृदि धारणा कर्तव्या। ईत इत्याज्ञायां नियोगे च। पादजानुकटिनासिकादिस्थानेषु धारणाकर्तव्यताप्रतिषेधार्थो नियोगः। हृदि धार्या, नान्यत्रेत्यर्थः ॥२८॥

आह-ओङ्कारः किं परम [?] विष्णुरूपा कुमारश्च, चतस्रो धर्मात्रा वा। उत समानपुरुष इति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

ऋषिर्विप्रो महानेषः ॥२६॥

अत्र ऋषिः इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। ऋषिः कस्मात्?। ऋषिः क्रियायाम्।

---

१. एकाग्निकाण्डं, प्र॰ २, ख॰ १२

ऋषित्वं नाम क्रियाशंसनादृषिः। तथा कृत्स्नं कार्यं विद्याद्यमीशत इत्यतः ऋषिः। तथा विप्र इत्येतदपि भगवतो नाम। विप्रः कस्मात्?। विद् ज्ञाने। विप्रत्वं नाम ज्ञानशक्तिः। व्याप्तमनेन भगवता ज्ञानशक्त्या कृतस्नं ज्ञेयमित्यतो विप्र इति। तथा महान् इत्यभ्यधिकत्वे। यदेतद् दृक्क्रियालक्षणमस्ति अनागन्तुकमकृतकमैश्वर्यं तद्गुणसद्भावः, सतत्त्वं तत्त्वधर्मः, तदकृतकं पुरुषवैतन्यवत्, तन्नान्यस्येत्यतोऽभ्यधिकः। उत्कृष्टोऽतिरिक्तश्चेति माहन्। [1]एष इति प्रत्यक्षे। एष यो मया पूर्वमोमिति श्रोत्रप्रत्यक्षीकृतोऽर्थः, असौ विष्णूमाकुमारादीनामन्यतमो न भवति। कस्मात्?। ऋषित्वाद् विप्रत्वाद् महत्त्वाच्चेत्यर्थः ॥२६॥

आह– ऋषित्वं विप्रत्वं च कीदृशे महेश्वरे चिन्तनीयम्?। कीदृशो वा ओङ्कारो ध्येयः तदुच्यते–

वाग्विशुद्धः ॥२७॥

अत्रापि [2]वाग्विशुद्ध इत्यपि भगवतो नामधेयम्। न अमी इत्यन्यो भगवान्। स यथा ह्यथो हित्वा वाणीं मनसा सह रूपरसगन्धविद्यापुरुषादिपरो निष्कलो ध्येयः। यस्मादुक्तम्–

> ''आकृतिमपि परिहृत्य ध्यानं नित्यं परे रुद्रे।
> येन प्राप्तं योगे मुहूर्तमपि तत् परो योगः[3]॥''

परमयोग इत्यर्थः ॥२७॥

आह-अथ यथायं बालवन्निष्कलस्तथा किं समानपुरुषः?। तदुच्यते- न। यस्मादाह-तदाप्ययं,

---

१. ''सर्वदा सर्वत्राविचलिस्विभावेन वर्तमानो भगवान् एष इत्युच्यते''।

२. ''गुणधर्मद्वारेण वाचः प्रवर्तन्ते यस्मादतस्तह्यतिरिक्तस्तदविशेषितश्च भगवान् विशुद्ध इत्युच्यते।
नित्यानागन्तुकैश्वर्ययुक्ते परमकारणे
यत्र वाचो निवर्तन्ते वारिवशुद्धः स कीर्तितः॥''-गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ ११

३. ''न स्वर्धुमी न फणिनो न कपालदाम
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म।
यत्रान्यदेव च न किन्चिदपास्महे तद्

महेश्वरः ॥२८॥

अत्रानाद्यज्ञानद्यतिना [?] ऋषित्वविप्रत्वसंज्ञकेन महता ऐश्वर्येण महेश्वर इति सिद्धम्। इह तु यदायं वाग्विशुद्धोनिष्कलस्तदा किं समानपुरुषवदनीश्वर इत्यस्य संशयस्य संव्युदासार्थमुच्यते महेश्वर इति। यस्मादस्यैश्वर्यं निष्कलस्यापि स्वगुणसद्भावः सतत्त्वं तत्त्वधर्मः। तदकृतकत्वं पुरुषचैतन्यवत्। अतस्तदाप्ययं महानीश्वरो महेश्वरः। तस्मादकृतक एव महच्छब्द इत्यतो महेश्वर इति।

एवमोङ्कारमिति ध्येयमुक्तम्। ध्येयगुणीकरणमुक्तम् ऋषिर्विप्रो महानेष इति। ध्येयावधारणमुक्तं वाग्विशुद्धो इति। ध्येयशक्तिप्रशंसा चोक्ता महेश्वर इति। एवं यस्मादिन्द्रियजये वर्तते, अतो वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभादयश्च व्याख्याता इति ॥२८॥

अतोऽत्र युक्तं वक्तुं-शून्यागारगुहाप्रकरणं परिसमाप्तमिति॥

आह-शून्यागारगुहायां यदा जितानीन्द्रियाणि देवनित्यता च प्राप्ता भवति, तदा किं तदेव भैक्ष्यं वृत्तिमास्थाय तत्रैवानेना दुःखान्तप्राप्तेः स्थेयम्?। आहोस्विद् दृष्टोऽस्यापि वसत्यर्थो वृत्तिर्बलक्रियालाभाश्चेति। उच्यते-दृष्टः। यस्मादाह-

श्मशानवासी ॥३०[1]॥

आह-शून्यागारगुहासुत्सृज्य प्रयोजनाभावात् श्मशाने संक्रान्तिरयुक्तेति चेत्?। तदुच्यते-न। योगव्यासङ्गपरिहारार्थत्वात्। इहावस्थानादवस्थानं प्राप्य ब्राह्मणस्य सर्वत्र वसत्यर्थवृत्तिबलक्रियालाभादयोऽयुतसिद्धा वक्तव्याः। तत्रादिधर्मा अप्यस्य तावदायतने वसत्यर्थः वृत्तिर्भैक्ष्यं बलमष्टाङ्गं[2] ब्रह्मचर्यं क्रियाः स्थानहसिताद्याः स्नानं कलुषापोहः शुद्धिः ज्ञानावाप्तिः अकलुषत्वं च लाभा इति। तथा असंन्मान [अ० ४, सू० ९] परिभवोपदेशात् [अ० ३, सू० ५] आयतने वसत्यर्थः वृत्ति रुत्सृष्टं बलमकलुषत्वम् इन्द्रियद्वारपिधानं च क्रिया इन्द्रियाणि पिधाय [अ० ४, सू० ४]

---

१. "ऋचम् " इत्यंकविंशस्य सूत्रस्य सूत्रद्वयकल्पनया तत्र तत्र सूत्रसंख्यायाः सूचितत्त्वात् तदनुसारेणेह सूत्रसंख्या निवेशिता।
रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य॥"
आचार्यहरिभद्रकृतषड्दर्शनसमुच्चये, -गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ २९

२. "अष्टाङ्गं १ ग्रहण, २ धारण, ३ ऊह, ४ अपोह, ५ विज्ञान, ६-वचन, ७ क्रिया, ८ यथान्यायाभिनिवेशनम।" गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १७

उन्मत्तवदवस्थानं पापक्षयाच्छुद्धिः लाभस्तु कृतस्नां धर्मस्तुल्येन्द्रियजयं वर्तते। तथा वसत्यर्थः शून्यागारगुहा वृत्तिर्भैक्ष्यं बलं गोमृगयोः सहधर्मित्वं क्रिया अध्ययनध्यानाद्या अजितेन्द्रियवृत्तितापोहः शुद्धिः लाभस्तु देवनित्यता जितेन्द्रियत्वं चेति। तथेहापि श्मशाने वसत्यर्थः वसन् धर्मात्मा यथालब्धमिति वृत्तिः क्रिया स्मृतिः अस्मृत्यपोहः शुद्धिः लाभस्तु सायुज्यम्। तथांत्तरत्र ऋषिरिति वसत्यर्थः बलमप्रमादः प्रसाद उपायः दुःखापोहः शुद्धिः गुणावाप्तिश्च लाभ इति। तथोक्तं च-

''पञ्च लाभान् मलान् पञ्च पञ्चोपायान् विशेषतः।
यस्तु बुध्यति पञ्चार्थे स विद्वान् नात्र संशयः॥

प्रथमो विद्यालाभस्तपसो लाभोऽथ देवनित्यत्वम्।
योगो गुणप्रवृत्तिर्लाभाः पञ्चेह विज्ञेयाः॥

अज्ञानमधर्मश्च विषयाभ्यासः स्थितेरलाभश्च।
अनैश्वर्यं च मला विज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे॥

वासो ध्यानमखिलकरणनिरोधस्तथा स्मृतिश्चैव।
प्रसाद इति चोपाया विज्ञेयाः पञ्च पञ्चार्थे॥

वासार्थो लोकश्च शून्यागारं तथा श्मशानं च।
रुद्रश्च पञ्च देशा नियतं सिद्ध्यर्थमाख्याताः॥''

तस्माद्युक्तमुक्तम्। स एव प्रागुक्तः सम्बन्धः श्मशानवासी इति। अत्र श्मशानं नाम-यदेतल्लोकादिप्रसिद्धं लौकिकानां मृतानि शवानि परित्यजन्ति तत्। शवसम्बन्धात् श्मशानम्। तस्मिन्नाकाशे वृक्षमूले यथानाभिष्वङ्गमर्यादया जितद्वन्द्वेन स्मृति क्रियानिविष्टेन वस्तव्यम्। वसतिसंयोगात्श्मशानवासी भवति, पुलिनवासिवदित्यर्थः ॥३०॥

आह-किमस्य गोमृगयोः सहधर्मित्वमेव बलम्?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

धर्मात्मा ॥ ३१॥

अत्र धर्मो नाम-य एप यमनियमपूर्वकोऽभिव्यक्तो माहात्म्यादिधर्मः, स पूर्वोक्तः। सोऽस्यात्मनि प्रचितः। तेन धर्मेण धर्मात्मा भवतीत्यर्थः ॥३१॥

आह-किमस्य भैक्ष्यमेव वृत्तिः। उच्यते-न। यस्मादाह-

यथालब्धोपजीवकः ॥ ३२॥

अत्र **यथा** इति समानार्थे। अम्लादिषु, जितेन्द्रियत्वात्। लब्धम् आसादितमप्रार्थितमित्यर्थः। **उप** इति समीपधारणे। तद् यथालब्धमन्नपानं श्मशानाद्निर्गच्छता। दिवसे दिवसे जीवनाय स्थितयर्थं तदुपजीवन् यथालब्धोपजीवको भवतीत्यर्थः ॥३२॥

आह-किं जीवनमेव परो लाभ इति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

लभते रुद्रसायुज्यम् ॥ ३३॥

अत्र **लभते** विन्दते आसादयतीत्यर्थः। **रुद्र** इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। साक्षाद् रुद्रेण सह संयोगः सायुज्यम्। भावग्रहणमात्मेश्वराभ्यामन्यत्र प्रतिषेधार्थम्। योगस्य सम्यक्त्वं सायुज्यमिति योगपर्यायोऽवगम्यते। धर्मात्म-[अ० ४, सू० ३१] वचनादतिगत्यानन्त्यवदित्यर्थः ॥३३॥

आह-तत् केनोपायेन लभते?। किमध्ययनध्या [?] नाभ्यामेव?। तदुच्यते-न। यस्मादाह-

सदा रुद्रमनुस्मरेत् ॥३४॥

अत्र **सदा** नित्यं सततव्युच्छिन्नमिति। रुद्रमिति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्रमिति द्वितीया कर्मणि। **अन** पृष्ठकर्मक्रियायाम्। पूर्वोक्तो ध्येयोऽर्थः सततमनुस्मर्तव्यः। **स्मृतिः** चिन्तायाम्। ऊष्मवदवस्थितस्य कर्मणश्च्युतिहेतोः क्षपणार्थं सततमनुस्मर्तव्यः। स्मृतिस्तु देवनित्यतेत्यर्थः। ततः क्षीणे कर्मणि तद्दोषहेतुजालमूलविशिष्ट प्रत्यासैक [?] निमित्ताभावात् सायुज्यप्राप्तौ न पुनः संसारः। अत्र श्लोको निर्वचनः ॥३४॥

आह-अज्ञानकलुषपापवासनादिप्रसङ्गप्रसरणसम्भवात् सन्देहः। [किं] सूक्ष्मवदवस्थिते कर्मणि क्षीणेऽत्यन्तविशुद्धः सायुज्यमासादयति, आहोस्विदविशुद्ध इति?। उच्यते-विशुद्धः। यस्मादाह-

छित्त्वा दोषाणां हेतुजालस्य मूलम् ॥ ३५॥

अत्र व्युत्क्रमाभिधानाच्छेदः क्रमशो योजनीयः। यन्त्रणधारणात्मकश्छेदो द्रष्टव्यः। किमर्थम्?। सूक्ष्मवदवस्थितस्य कर्मणः क्षयार्थं वसत्यर्थादिनिर्देशार्थत्वात्।

किञ्च अर्थानामनिर्वचनार्थत्वात् तत्र जप एव केवलोऽभिहितः। इह तु यत इन्द्रियाणि जेतव्यानि, यो जेता, यया जेतव्यानि, यथा जेतव्यानि, यत्प्रयोजनं जेतव्यानि, यस्मिंश्च जिते जितानि भवन्ति, तद् वक्ष्यामः। तथा यस्यात्मवृत्तिरध्ययनध्यानस्मरणादि च वक्ष्यामः। तथा यत आत्मा छेत्तव्यः छेत्तारं छेदकरणं छेद्प्रयोजनं छेद्यं छिरितं, यस्मिन्। छिन्ने छिन्नं भवति, तद् वक्ष्याम्ः। तदुच्यते-छित्त्वा। अत्र छेदो नाम आत्मभावविश्लेषणमात्रम्। विच्छेदवचनाद् गम्यते। त्वा इति शून्यागारगुहाव-स्थितस्याध्ययनध्यानधारणयन्त्रणादिकं गम्यते। आह-किं तत्?। केभ्यो वा छेत्तव्यम्?। तदुच्यते-**दोषाणां हेतुजालस्य मूलम्** इति। अत्र दोषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। कस्मात्?। कामार्जनादिमूलत्वात्। यस्मादुक्तं-

कामः क्रोधस्तथा लोभो भयं स्वप्नश्च पञ्चमः।
रागो द्वेषश्च मोहश्च.......॥

तथा अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादयो दोषाः। अर्जनं नाम प्रतिग्रहजय-क्रयविक्रयनिर्वेश्यादिषु वर्णिनां विषयार्जनोपायाः। एतेषु च विषयाणामर्जने वर्ततात्मपीडा परपीडा वा अवर्जनीये भवतः। तत्र यद्यात्मानं पीडयति, तेन इहैव लोके दुःखी भवति। स्यात् परं पीडयति, तत्राप्यस्याधर्मो दुःखादिफलः संचीयते। तच्च दुःखं नान्योऽनुभवति, कर्तैवानुभवति। अपिच किम्पाकफलोपमा विषयाः। तद्यथा श्रूयते-''लवणसागरसन्निकर्षे कालयवनद्वीपे किम्पाका नाम विषवृक्षाः। तत्फलान्यास्वादेनामृतोपमानि च केचिदज्ञानाद् गुडवद् भक्ष्यन्ति। भक्षितानि च तानि मूर्छां छर्दिं च जनयन्ति। तत्तीव्रदुःखाभिभूताः पञ्चत्वमापुः।''

''श्रुत्वा तु सुहृदां वाक्यं यो नरो ह्यवमन्यते।
स दह्यते विपाकान्ते किम्पाकैरिव भक्षितैः॥''

एवं किम्पाकफलोपमा विषयाः सेव्यमानाः सुखं जनयन्ति। परिणामे संसारे जन्मनिमित्तत्वाद् दुःखानि प्रतिपद्यन्ते। इत्येवं विषयाणामर्जने दोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्राणां वा यदि कश्चित्। तथाऽन्यः कथम्?। अस्त्वेष विषयाणामर्जने दोषः। स भवतु तेषाम्। न वयं तत् प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टो विषयदोषः। कश्चासांविति। उच्यते-रक्षणदोषः। अर्जितानामप्येषामवश्यमेवोद्यतायुधेन रक्षा विधातव्या। कस्मात्?। नृपदहनतस्करदायादसाधारणफलत्वात्। तत्रात्मपीडा। परपीडायां च य यथोक्तः। उक्तं हि-

"[1]स्वद्रव्यं पुरुषं चोराः [2]स्वमांसं पिशिताशिनः।
क्लेशयन्ति यथा घोरास्तथाहि विषया नरम्।।

क्लेशं समनुभुङ्क्ते च विषयाणां परिग्रहात्।
तेषामेव परित्यागात् सर्वक्लेशक्षयो भवेत्।।

आत्मदुःखोपघातार्थं त्यागधर्मं समाचरेत्।
नापरित्यज्य विषयान् विषयी सुखमेधते।।"

विषयाणामर्जनादौ दोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्राणां वा यदि कश्चित्। तथा अन्यः कथम्?। अस्त्वेष विषयाणामर्जनरक्षणादौ दोषौ भवतस्तेषाम्। न वयं तौ प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टतरो [दो?] विषयाणां दोषः। कश्चासाविति?। उच्यते-क्षयो दोषः। अर्जितानां सुरक्षितानामप्येषामवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यः [क्षयः]। विषयपक्षे च पुनर्विषयिणां तीव्रदुःखमभिव्यज्यते। मत्स्यादिवद् यथोदकक्षये नदीनां, तद्वत्। तस्मादशोभनम्। उक्तं हि-

"त्रय एव ह्रदा दुर्गाः सर्वभूतापहारिणः।
स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यं तेषु जाग्रथ ब्राह्मणाः।।

नास्ति ज्ञानसमं चक्षुर्नास्ति क्रोधसमो रिपुः।
नास्ति लोभसमं दुःखं नास्ति त्यागात् परं सुखम्।।"

इति। एवं विषयाणां क्षयदोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्राणां वा यदि कश्चित्। तथान्यः कथम्?। इति। सन्त्वेते विषयदोषाः। अयमन्यतरः कष्टतरो दोषः। कश्चासाविति?। उच्यते-सङ्गदोषः। यदि तावदर्जनं क्रियते रक्षणं च क्षये च पुनः पुनरर्जनं क्रियते रक्षणं च। यदि सङ्गदोषो न स्यात्। कथम्?। यावदयमिन्द्रिययुक्तो विषयानभिलषति, तावदस्य तृप्तिरुषशान्तिरौत्सुक्यविनिवृत्तिश्च न भवति। भूय एव विषयानन्वेष्टुमारभते। ततः पुनरतृप्त्यादयो भवन्ति तद्वत्। तस्मादशोभनम्। उक्तं हि-

"न[3] जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

१-२. "सद्रव्यं समांसम" इति स्यात्।

३. विष्णुपुराणे अंश ४, अ० १०

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् तृप्त्यै तस्माद् विद्वान् शमं व्रजेत्॥''

इति। एवं विषयाणां सङ्गदोषं ज्ञात्वा विरज्यते शतानां सहस्राणां वा यदि कश्चित्। तथान्यः कथम् इति। सन्त्वेते विषयाणामर्जनादयो दोषाः। ते भवन्तु तेषाम्। न वयं तान् प्रतिषेधयामः। अयं त्वन्यः कष्टतमो विषयाणां दोषः। कश्चासाविति?। उच्यते-हिंसादोषः। शक्यमेतेषां विषयाणामर्जनादि कर्तुम्, इन्द्रियलौल्यदोषोऽपि भवतु। यदि हिंसादोषो न स्यात्। कथम्?। एतेषामेव विषयाणामुपभोगे वर्तता अवश्यमेव हिंसादिदोषाः कर्तव्याः। कस्मात्?। नानुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः शक्यते कर्तुम्। तत्र शब्दनिमित्तं तावदयं क्रियते। यद्यथा-वीणानिमित्तं खदिरादीन् छिद्यमानान् दृष्ट्वा तन्त्रीनिमित्तं वा कांश्चिहिंस्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनो यं भूतवधः क्रियते क्रदनं कर्म क्रियते [स वक्तव्यो त्र ते न शोभनो यम्। यदा भिक्षाप्रदगृहेषु रम्यान् शब्दान् श्रोष्यसि, तत्र परः परितोषो भविष्यति। तथा] सूत्रादिनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। तद्यथा-कोशकारादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनो यं भूतवधः वदनं कर्म क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहेषु मृदुतरस्पर्शानि वासांसि प्राप्स्यसि, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति। तथा रूपनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। तद्यथा-अशोकादीन् वृक्षान् छिद्यमानान् दृष्ट्वा हस्तिनश्च दन्तनिमित्तं वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः क्रदनं कर्म क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहमलङ्कृतकवाटगोपुरं द्रक्ष्यसि, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति। तथा रसनिमित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। यद्यथातित्तिरिमयूरवराहादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहेषु षड्समांसप्रकारैर्भोक्ष्यसे, तत्र ते परः परितोषो भविष्यति। तथा गन्धमिनित्तं तावद् भूतवधः क्रियते। तद्यथा-[पञ्च] नखादीन् वध्यमानान् दृष्ट्वा यदि कश्चिद् ब्रूयाद् अशोभनोऽयं भूतवधः कदनं कर्म क्रियते। स वक्तव्योऽत्र ते न शोभनोऽयम्। यदा भिक्षदगृहेषु सुगन्धान् गन्धान् प्राप्स्यसि, तत्र ते परितोषो भविष्यति। एवं-

''कामः क्रोधश्च लोभश्च भयं स्वप्नश्च पञ्चमः।
रागो द्वेषश्च मोहश्च........॥''

इति। अर्जनरक्षणक्षयमङ्गहिंसादिमूलत्वादतोऽत्र शब्दादयो विषया दोषाः।

दोषाश्च कथम्? [दुष] चित्तवैचित्ये। दूषयन्तीति दोषाः। दूषयन्ति यस्मादध्ययनध्यानादिनिष्ठं साधकं विचित्तं कुर्वन्तीति दोषाः। दोषाणाम् इति षष्ठीबहुवचनम्। आह-किं दोषाणामेव दोषेभ्य एव वा छेत्तव्यमुक्तम्?। न। यस्मादाह-हेतुः। अत्र हेतुरधर्मः। कस्मात्?। चित्तच्युतिहेतुत्वात्। यस्मात् तेनाविष्टः साधकोऽध्ययनस्मरणादिभ्यश्च्यवतीत्यतोऽत्राधर्मो हेतुः। धर्मस्तु स्थित्यादिहेतुः। आह-कस्यायं हेतुः?। उच्यते-जालस्य। अत्र यदा अधर्मः कूटस्थो नारब्धकार्यस्तदा हेतुरित्युच्यते। यदा त्वज्ञानवासनावशाद्धुत्या स्थित्यादिभावमापन्नस्तदा जालाख्यां लभते। कस्मात्?। जालादिवत् समूहस्येत्यर्थः [ ]। अन्यस्य तन्मयकारणस्याभावात्। जालस्येति षष्ठी छेदनशेषत्वे वर्तते। अतश्छिन्नमेव भवति। कस्मात्?। दोषचित्तसन्निपातप्रभवत्वाद्धेतुजालयोः। आह-किं प्रतिसम्बन्धि दोषहेतुजाल-संश्लिष्टं भवति। तदा कथमभिलप्यते। तदुच्यते-मूलम्। अत्र मूलमित्युक्ते कस्येति भवति? दोषचित्तसन्निपातप्रभवत्वाद्धेतुजालयोः प्रवृत्तेरित्यतोऽवगम्यते संयोग-मूलमेवात्र मूलमिति ॥३५॥

आह-केनायं छेत्ता मूलच्छेदं करोति?। तदुच्यते-

बुद्ध्या ॥ ३६॥

अन्तःकरणाख्या बुद्धिरित्युक्ता। तया धर्मस्मृतिचोदनादिसहितया विद्यागृहीतया बुद्ध्या छेद्यं स्थाप्यं चेत्यर्थः ॥३६॥

आह-किं दोषादिसहगतवधादिविश्लिष्टमपि तत् परतन्त्रमुच्यते?। न। यस्मादाह-मूलाख्यायां निवृत्तायां,

संचित्तम् ॥ ३७॥

अत्र सम् इति दोषादिविश्लिष्टं स्वयमेव स्वगुणत्वेन परिगृह्यते, अग्न्युष्णत्ववन्नित्यानुबन्धित्वाच्चेत्यर्थः। आह-किं तद् इति?। उच्यते चित्तम्। अत्र चिती संज्ञाने, चेतयति चिनोति वा अनेनेति चित्तम्। चेतयति सुखं दुःखं पदार्थान्, चिनोति धर्माधर्मो अर्जयतीत्यतः चेतयति चिनोति वा अनेनेति चित्तम्। चित्तं मनोऽन्तःकरणमित्यर्थः। अत्र त्वेतेभ्यो दोषहेतुत्वादिभ्यो युगपच्छेत्तव्यं, विद्यमानेभ्यस्तु क्रमशः क्षणमिति ॥३७॥

आह-छित्त्वा तच्चित्तं किं कर्तव्यम्?। उच्यते-रुद्रस्थम्। यस्मादाह-

स्थापयित्वा च रुद्रे ॥३८॥

अत्र ष्ठा गतिनिवृत्तो। चित्तस्य रुद्रादव्यवधानं स्थितिरित्युच्यते। त्वा इति श्मशानाद्यवस्थस्य स्मृतिकर्मणो निष्ठा। च शब्दः समुच्चये। न केवलं छित्त्वा, स्थेयं, किन्तु स्थापयितव्यं चेत्यर्थः। रुद्रे इति कारणापदेशे। रुद्रस्य रुद्रत्वं पूर्वोक्तम्। रुद्र इत्यौपश्लेषिकं सन्निधानम्। रुद्रे चित्तमुपश्लेषयितव्यं नान्यत्रेत्यर्थः। एवं विषयेभ्यः इन्द्रियाणां जयः कर्तव्यः। अत्र यो जेता?, आत्मा। यया जेतव्यानि?, बुद्धया। यथा जेतव्यानि?, क्रमश्च। यत्प्रयोजनं जेतव्यानि?, चित्तस्थित्यर्थम्। यस्मिंश्च जिते जितानि भवन्ति?, चित्तं [?त्ते] इत्येतदपि व्याख्यातम्। एवं जपयन्त्रण-धारणात्मकच्छेदादिष्वपि योज्यम्। तथान्तःकरणवृत्तिमास्थाय कालविशेषनिमित्त-रश्मिमणिदीपवत्, तथात्प्रवृत्तिरध्ययनध्यानस्मरणादीनि चित्तस्थितिश्च व्याख्याता [?]। श्लोको निर्वचनः ॥३८॥

आह-कार्यकरणं च तच्चित्तस्थितिसमकालमेव रुद्रे स्थितानि तानि युक्तानि [?]। अथ किं तान्येव युक्तस्य लक्षणानि इति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

एकः क्षेमी सन् वीतशोकः ॥३९॥

अत्र धर्माधर्मयोर्वृत्त्योरुपरमे अवसितप्रयोजनत्वात् पक्वफलवत् सर्पकञ्चु-कवद् गतप्रायेषु कार्यकरणेषु रुद्रे स्थितचित्तो निष्कल एक[1] इत्यभिधीयते। तथा योगव्यासङ्गकरेऽधर्मे निवृत्ते दोषादिविश्लिष्टो निस्तीर्णकान्तारवदवस्थितो रुद्रे स्थितचित्तः2 क्षेमी[2] इत्यभिधीयते। तथा सूक्ष्मस्थूलसवाहायाभ्यन्तरसलक्षण-विलक्षाणासु क्रियासु विनिवृत्तासु रुद्रे स्थितचित्तो निष्क्रय[3]: सन् इत्यभिधीयते। आह-अथ निष्क्रियोऽयमिति कथमवगम्यते?। किं चात्र युक्तस्य लक्षण्यात्रयमेव?। उच्यते-न। यस्मादाह-वीतशोक[4]: अत्र शोकश्चिन्तेत्यनर्थान्तरम्। सा च चिन्ता द्विविधा भवति। कुशला चाकुशला च। तत्र कुशला नाम अध्ययनध्यानस्मरणाद्या। अकुशला नाम अनध्ययनाध्यानास्मरणाद्या। एवं जपयन्त्रणधारणादींश्च करिष्यामि

---

१. "शरीरादिवियुक्तत्वम् एकत्वम्।

२. मर्वाशङ्कास्थानातिक्रान्तत्वं क्षमित्वम्।

३. वाह्याध्यात्मिकक्रियाशून्यत्वं निष्क्रियत्वम।

४. समस्तचिन्तारहितत्वं वीतशोकत्वम्।" गणकारिकाव्याख्या, पृष्ठ १६

न करिष्यामीत्येवमनेकविधायामपि चिन्तायां विनिवृत्तायां व्यपगतशोको वीतशोक इत्यभिधीयते ।।३९।।

एवमत्र योगपदार्थः समाप्तः। कस्मात्?। अर्थानां निर्वचनत्वात्। यस्मादस्याध्यायस्यादावुद्दिष्टा ये पदार्थास्ते दोषच्छेदासङ्गस्थित्यादिषु व्याख्याताः। एवमनेन युक्तेन ब्रह्मादयो देवा देवा विशेषिता भवन्ति। तदसङ्गादिवचनात्।

आह-अथ सांख्ययोगमुक्ताः किं न विशेषिताः?। उच्यते-विशेषिताः। कथम्?। तद्ज्ञानातिशयात्। कथम्?। सांख्ययोगमुक्ताः कैवल्यगताः स्वात्मपरात्मज्ञानरहिताः समूर्छितवत् स्थिताः। अस्य तु ज्ञानमस्ति। यस्मादाह-

अप्रमादी गच्छेद् दुःखानामन्तम् ईशप्रसादात् ।।४०।।

इति। एवं कुर्वन् सर्वज्ञो स्थासंमोहं ज्ञापयति। उक्तं हि-

''कार्यकरणाञ्जनेभ्यो निरञ्जनेभ्यश्च सर्वपुरुषेभ्यः।
अप्राप्तान्तं पुरुषं योऽभ्यधिकं वर्णयत् स बुधः।।''

आह-गतं यद् गन्तव्यम्। अथ किमयमुपचारः?। उच्यते-न। अपरिज्ञानान्नास्माकं योगनिष्ठं तन्त्रम्। अपितु तत्कैवल्यव्यतिरिक्तोऽपि सर्वज्ञेनोच्यते [ ]। अप्रमादाद् गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादात्। अत्र प्रमादशब्दोऽनागतानवधानगतत्वं पारतन्त्र्यं च ख्यापयतीत्यर्थः। तदङ्कुरपरिरक्षणवदनागतकालप्रतीकारकारेण चैवायम् **अप्रमादी** शब्दो द्रष्टव्यः तस्माद् युक्तेनैवाप्रमादिना स्थेयम्। तथा वर्तमानेन माहेश्वरमैश्वर्यं प्राप्तमेवेत्युक्तम्। **गच्छेद्** इति। गतिः प्राप्तिर्भवति। गम्लृ सृप्लृ गतौ। प्राप्नोतीत्यात्मेति, पत्रपाण्डुताफलपाकवत्। कथम्?। तस्मिन्नेव प्रवर्ततो योऽयं दुःखापोहो गुणस्तत्रेयं गतिरिति संज्ञा क्रियते इत्यर्थः। **दुःखानाम्** इत्यत्र प्रसिद्धानि दुःखान्याध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं दुःखं शारीरं मानसं च। तत्र मनसि भवं मानसं क्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्यासूया द्वेष- मदमानमात्सर्यारत्याद्यविशेषादर्शनादिनिमित्तं तद् दुःखम्। तथा शारीरमपि शिरोरोग- दन्तरोगाक्षिरोगज्वरप्रतिमत्स्यातिसारकासश्वासोदरामयादिनिमित्तोत्पन्नं दुःखम्।

तथान्यदपि पञ्चविधं दुःखं भवति। तद्यथा-गर्भजन्माज्ञानजरामरणमिति। तत्र गर्भे तावद्-यदायं पुरुषो मातुरुदरं न्यस्तगात्रः खण्डशकटस्थ इव पुमान् नियमश्रममनुभवमानोऽवकाशरहितः आकुञ्चनप्रसारणादिष्वपर्याप्तावकाशः सर्वक्रियासु

निरुद्ध इत्येवमद्धारके अन्धतमसि मूढो बन्धनस्थ इव पुमान् अवश्य समनुभवति। कस्मात्?। चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा जन्मदुःखमपि। यदायं पुरुषो जायमानः पुरीषपङ्कमग्नवदनो मूत्रधाराभिरभिषिंच्यमानो देहे संवृतद्वारके योनिनिस्सरणसङ्कटेत्यर्थं पीड्यमानोऽस्थिमर्मबन्धनैः प्रघृष्यमाणो विक्रोशन् निनदंश्च जायते। पश्चात् पुनस्तस्यानुचितेन बाह्येन वायुना जननावर्तेन स्पृष्टस्य तीव्रं दुःखमभिव्यज्यते। राजपुष्टकादिवत्। तेन चास्य जात्यन्तरादिस्मृतिहेतुसंस्कारलोपो भवति। एवं जन्मदुःखं पुरुष एवानुभवति। कस्मात्?। चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा अज्ञानदुःखमपि। अहङ्कारसात्कृतगात्रो नजानन् कोऽहं कुतोऽहं कस्याहं केन वा बन्धनेन बद्धोऽहुमिति, किं कारणं किमकारणं किं भक्ष्यं किमभक्ष्यं किं पेयं किमपेयं किं सत्यं किमसत्यं किं ज्ञानं किमज्ञानम् इत्यज्ञानदुःखं पुरुष एवानुभवति। कस्मात्?। चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा जरादुःखमपि। यदायं पुरुषो जराजर्जरितः कृशशरीरः शिथिलीकृतनयनकपोलनासिका भूर्दशनावरणः क्रौञ्चजानुरिव निर्वण्णोऽक्षिदूषिकादिष्वपकर्षणादिष्वसमर्थो विहङ्ग इव लूनपक्षो लङ्घन प्लवनधावनादिष्वसमर्थः पूर्वातीतानि भोगव्यायामशिल्पकर्माण्यनुस्मरमाणः स्मृतिवैकल्यमापन्नो वश्यं क्लेशमनुभवति। कस्मात्?। चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च।

तथा मृत्युदुःखमपि। यदायं पुरुषो मरणसमये श्लथकरणः शिरोधरमवलम्बमानः श्वासनोच्छ्वसनतत्परः खुरुखुरायमाणकण्ठः स्वोपार्जितमणिकनकधनधान्यपत्नीपुत्रपशुसङ्घातः कस्य भविष्यतीत्यनुतप्यमानः विषयाननु दोदूयमानः सलिलादि याचमानो विरक्तवदनो मर्मभिश्छिद्यमानैरवश्यं क्लेशमनुभवति। कस्मात्?। चेतनत्वाद् भोक्तृत्वात् तन्मयत्वाच्च। न तु कार्यकरणानि। कस्मात्?। अचेतनत्वादभोक्तृत्वादतन्मयत्वाच्च। उक्तं हि-

''गर्भे प्रविशन् दुःखं निवसन् दुःखं विनिष्क्रमन् दुःखम्।
जातश्च दुःखमृच्छति तस्मादपुनर्भवः श्रेयान्।।''

इति। तथान्यदपि पञ्चविधं दुःखं भवति। तद्यथा-इहलोकभयं परलोकभयम् अहितसंप्रयोगः हितविप्रयोगः इच्छाव्याघातश्चेति। तथान्यदपि त्रिविधं दुःखं भवति। आध्यात्मिकमज्ञानं पुरुषे, आधिभौतिकं विषयित्वम्, आधिदैविकं च पशुत्वं त्रिविधम् अपरं प्राहुः। इत्येवमादीनि बाधनाया अप्रीतिफलाया जन्मनिमित्तत्वाद् दुःखानीत्युपचर्यन्ते। आह-चरणाधिकारेऽनतिप्रसादादशिवत्वसंज्ञके सर्वाण्यनति-प्रसादबीजत्वात् कुतो नात्यन्तनिवृत्तानि भवन्ति?। कस्मात् [?]। संहारं प्राप्तस्य निगळमुक्ताधिकारवन्मुक्तावतिशयितगुणप्राप्त्यर्थम् उच्यते-**गच्छेद् दुःखाना-मन्तम्**। दुःखानामत्यन्तं परमापोहो गुणावाप्तिश्च परं भवतीति। तदुभयमपि इत एव भवतीति। तदाह-**ईशप्रसादात्**। अत्रेश इत्येतद् भगवतो नामधेयम्। ईशः कस्मात्?। विद्यादिकार्यस्येशनादीशः। प्रसादो नाम सम्प्रदानेच्छा। तस्मात् प्रसादात् सर्वदुःखपोहो गुणावाप्तिश्चदिमुपाध्यन्तरात् परपरिवादादिवचनात् शुद्धिरिव युगपदित्यर्थः [ ]। एवमयमथशब्दः, पशुपतेरित्युद्दिष्टयोर्दुःखान्तप्रसादयोर्गच्छेद् दुःखानामन्त-मीशप्रसादादिति दुःखान्तं परिसमाप्तमिति ॥४०॥

एवमध्यायपरिसाप्तिं कृत्वा युक्तं वक्तुम्-

अत्रेदं ब्रह्म जपेत् ॥४१॥

इति। अस्य पूर्वोक्तोऽर्थः। विधिनैव पूर्वोक्तेन विधिना जप्तव्यम्। न तु दुःखान्तगतेन गणपतिवदि [अ॰ १, सू॰ ३८] त्यर्थः ॥४१॥

आह-कामित्वात् कृपया भगवता दुःखान्तो दत्तः स्वेच्छयैव, न पुनरदुःखान्तं करिष्यति। अथाशक्तस्तथाप्यस्य शक्तिव्याघातः पाचकवदकर्मापेक्षत्वं चोच्यते [?]। अत्र यथा नित्यो दुःखान्तस्तथा वक्ष्यामः। यथा च काङ्क्षतो लिप्सतश्च साधकाधिकारनिवृत्तिस्तथा वक्ष्यामः। पदार्थनिगमनार्थे चोच्यते-

ईशानः सर्वविद्यानाम् ॥४२॥

अत्र ईशनाद् ईशानः। अत्रेशनादीशान इत्युक्तं कारणम्। ईशानः प्रभुः धातेत्यर्थः। आह-कस्यायमीशानः?। तदुच्यते-सर्वस्येशानः। सर्वशब्दो विद्याप्रकृते-र्निरवशेषवाची द्रष्टव्यः। विद्यानां धर्मार्थकामकैवल्यतत्साधनपराणाम् ईशानः। विद्यानामिति षष्ठीबहुवचनम् ॥४२॥

आह किं विद्यानामेवेशानः?, न तु विद्याभिर्ये विदन्ति?। उच्यते

ईश्वरः सर्वभूतानाम् ॥४३॥

अत्र निरतिशय ऐश्वर्येण ईश्वरः। पुरुष चैतन्यवदित्यर्थः [?]। आह-कस्यायमीश्वरः। तदुच्यते-सर्वभूतानाम्। अत्र चेतनाचेतनेषु सर्वशब्दः न केवलं पृथिव्यादिषु, किन्तु सिद्धेश्वरवर्जं चेतनेष्वेव सर्वभूतप्रकृतेर्निरवशेषवाची सर्वशब्दो द्रष्टव्यः। कस्माद् भूतानि। भावनत्वाद् भूतानीत्युक्तम्। भूतानामिति षष्ठीबहुवचनम् ॥४३॥

आह-अत्र केचिद् विद्याभूतव्यतिरिक्तं ब्रह्माणमिच्छन्ति। तस्यायं किं प्रभुर्भवति अनेति?। उच्यते-प्रभुः। यस्मादाह-

[१]ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा ॥४४॥

अत्र यो यं विरञ्चिः परमः पतिः सर्वचेतनव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञः तस्मिन् **ब्रह्मसंज्ञा**। न तु प्रधानादिषु। कस्मात्?। अधिपतिवचनविरोधात्। ब्रह्म च कस्मात्?। बृंहणत्वाद् बृहत्त्वाद् ब्रह्मा। बृंहयते यस्माद् विद्याकलाभूतानि, बृहच्च तेभ्य इत्यतोऽधिपतिर्ब्रह्मा। ब्रह्मण इति षष्ठी। अधिरधिष्ठातृत्वे। तत्स्वाभाव्यात् संहते चासंहते च कार्य इत्यर्थः। पत्युः पतिः **अधिपतिः**। राजराजवत्। पतिः पालने, पतिर्दशने भोगे च। पालयते यस्माद् ब्रह्मादीन् ईश्वरः। पाति ब्रह्मादिकार्यम्। अधिपतिः ब्रह्मा। अधिपतिरीश्वरः। एवं बृंहयते यस्माद् विद्यादिकार्यं, बृहच्च तेभ्य इत्यतोऽधिपतिर्ब्रह्मा भगवानिति ॥४४॥

आह-अत्र कार्यकरणमहाभाग्यमेवात्र ब्रह्ममणि, चिन्त्यते, न तु साधकस्य लिप्सा लाभो वेति?। उच्यते-न। यस्मादाह-

शिवो मे अस्तु ॥४५॥

अत्र येषां साधिकारत्वादनतिप्रसन्नस्तेषामशिवत्वं दृष्ट्वा दुःखान्तं गतेषु च शिवत्वं दृष्ट्वा आह-**शिवो मे अस्तु** इति। मे इत्यात्मापदेशे। ममेत्यर्थः। अस्त्विति काङ्क्षायाम्। काङ्क्षति लिप्सति मृगयतीत्यर्थः ॥४५॥

आह-कियन्तं कालं भगवानस्य शिवो भवति?। तदुच्यते-नित्यम्। यस्मादाह-

---

१. ''ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा'' इति तैत्तिरीयपाठः।

सदा ।।४६।।

अत्र सदा नित्यं सन्ततमव्युच्छिन्नमित्यर्थः ।।४६।।

आह-कमेवमाह?। को वास्य शिवो भवतीति?। उच्यते-

शिवः ।।४७।।

अत्र शिव इत्येतदपि भगवतो नाम। शिवः कस्मात्?। परिपूर्णपरितृप्तत्वाच्छिवः। तस्मात् सदाशिवोपदेशान्नित्यो दुःखान्तः। कारणाधिका- रनिवृत्तिः। तदर्थं नित्यो दुःखान्त इति सिद्धम् ।।४७।।

एवमेते पञ्च पदार्थाः कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः समासविस्तरविभागविशेषोपसंहारनिगमनतश्च व्याख्याताः। उक्तं हि-

"आदौ यद् भवति समासोक्तं मध्ये तस्य विस्तरतश्च विभागतश्चोपनयनिगमनेन सतामप्येष निश्चयः"

इति। अत्र तावत् पतिरिति कारणपदार्थस्योपदेशः समासेन। विस्तरस्तु-वामो देवो ज्येष्ठो रुद्रः कामो शङ्करः कालः कलविकरणो बलविकरणोऽघोरो घोरतरः सर्वः शर्वः तत्पुरुषो महादेव ओङ्कार ऋषिर्विप्रो महानीश ईशान ईश्वरोऽधि- पतिर्ब्रह्मा शिव इत्येवमाद्यो विस्तरः। विभागोऽपिअन्यत् पतित्वम् अन्यदजातत्वम् अन्यद् भवोद्भवत्वमित्याद्यो भगवानीश्वरः। कारणाधिकारे यस्मादाह-ईश्वर सर्वभूतानामिति। एष उपसंहारः-सार्वकामिक इत्याचक्षते। निगमनम्-ईश ईशान ईश्वरोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिव इति।

तथा पशुरिति कार्यपदार्थस्योद्देशः। तस्य विस्तरो-विद्या कला पशवः। उत्पाद्या अनुग्राह्यास्तिरोभाव्यकाल्प्यविकार्यमरुपदस्य बोध्यधिष्ठेयत्वे चेत्येवमाद्यः सूत्रविद्याधर्मार्थकामैर्भेदैर्दुःखान्तः विद्या [?]। कला द्विविधाः। कार्याख्याः करणाख्याश्च। तत्र कार्याख्याः पृथिव्याद्याः। करणाख्या बुद्ध्याद्याः। पशवश्च त्रिविधाः। देवा मनुष्यस्तिर्यञ्चः। तत्र देवा अष्टविधा ब्रह्माद्याः। मानुष्यं चानेकविधं ब्राह्मणाद्यम्। तिर्यग्योनि च पञ्चविधं पशुमृगाद्यम्। पशवः साञ्जना निरञ्जनाश्च। एवमाद्यो विस्तरः। विभागोऽपि-अन्या विद्या अन्याः कलाः अन्ये च पशवः इत्येवमाद्यो विभागः। विशेषः-अन्येषां प्रधानादीनि कारणानि, तानीह शास्त्रे कार्यत्वेन व्याख्यातानि। तत्र प्रधानं कारणमन्येषां, तदिह शास्त्रे पश्यनात् पाशकत्वात्

कार्यत्वेन व्याख्यातम्। तथा पुरुषः कारणमन्यत्र, इह शास्त्रे पशुत्वात् कार्यत्वेन व्याख्यातः। तथा कर्ममध्यत्वात् कालः स्वभावः उपसंहारवत् [?]। भूतानि विकार्यत्वात् कार्यत्वेन व्याख्यातानि। इत्येष विशेषः। उपसंहारः-सार्वकामिक इत्यर्थः। निगमनं-विद्याकलाभूतानि ब्रह्मेति।

तथा योगमिति योगपदार्थस्योद्देशः। तस्यैवं, चरतः, योगः प्रवर्तते [अ० १, सू० १९, २०] उभयथा यष्टव्यः [अ० २, सू० ९] अत्यागतिं गमयते [अ० २, सू० १७] नान्यभक्तिस्तु शङ्करे [अ० २, सू० २०] एवं, देवनित्यतानित्ययुक्तता अध्ययनं ध्यानं स्मरणं नित्यसायुज्यमिति विस्तरः। विभागः-क्रियालक्षणं क्रियोपरमलक्षणं दूरदर्शन श्रवणमननविज्ञानानि [अ० १, सू० २१], गणपतिः [अ० १, सू० ३८] भूयिष्ठं संप्रवर्तते [अ० ५, सू० १३] सिद्धः, गच्छेद् दुःखानामन्तम् [अ० ५, सू० २०, ३९] इत्येवमाद्यो विभागः। ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्च। तत्र ज्ञानशक्तिः श्रवणाद्या। क्रियाशक्तिः मनोजवित्वाद्या। इत्येवमाद्यो विभागः। विशेषः-अन्येषां कैवल्यम्, इह तु विशेषो विकरणमिति। प्रतिकरण पति कैवल्यधर्मातिशक्तिर्निष्कलमैश्वर्यमित्येष विशेषः। उपसंहारः-इत्येभिर्गुणैर्युक्तं इति। अतो यावन्ति वाक्यविशेषाणि सन्निकृष्टविप्रकृष्टानि निर्वचनानि तानि च सर्वनिर्वचनानीति कृत्वा युक्तमुक्तम्।।

एवमत्र श्रीभगवत्कौण्डिन्यविरचिते श्रीमद्योगपाशुपतशास्त्र-सूत्रव्याख्याने पञ्चार्थभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः।। सह ब्रह्मणा ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिसमाप्त इति।।

शुभम्

॥ श्री ॥

पाशुपतसूत्र[1]

श्रद्धेय भगवत् कौण्डिन्य[2] विरचित

भाष्य सहित [पाशुपतसूत्र][3]

प्रथम अध्याय

[प्रारम्भ में][4] अब इसलिये[5] पशुपति के[6] पाशुपत[7] योग-विधि की व्याख्या करेंगे ॥१॥

---

१. महेश्वर के अट्ठाइसवें कायरूपी योगावतार लकुलीश द्वारा उपदिष्ट सूत्ररूप में ज्ञान-''पाशुपतसूत्र'' के नाम से विख्यात है। द्रष्टव्य-लकुलीशधारा, भाग-२

२. पाशुपत सूत्रों के भाष्यकर्ता जो राशिकर नाम से विख्यात थे एवम् आचार्य परम्परा के सत्तरहवें आचार्य थे। द्रष्टव्य-कौण्डिन्य एवं पञ्चार्थ भाष्य-खण्ड-२।

३. अत्रैव

४. अथ शब्द यहाँ प्रारम्भ अथवा मङ्गल सूचक है। शाङ्कर भाष्य के अनुसार ''अर्थान्तर प्रत्युक्तः एव अथ शब्द श्रुत्या मङ्गल प्रयोजनोऽभवति। १/१/१। अथ निर्वचनम् अथ योगानुशासनम् ''अथ'' शब्द आदि में ब्रह्मा के कंठ से निःसृत माना गया है–
''ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिका बुभौ ॥

५. सर्वदर्शन संग्रहनकुलीश पाशुपतदर्शनम्
'' अत्राथ शब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षः। पूर्व प्रकृतश्चगुरुं प्रतिशिष्यश्च प्रश्नः। यह पूर्व प्रसङ्ग का द्योतक है, तो अर्थ होगा ''अस्मात् कारणात्''।

६. सम्पूर्ण विश्व के अधिपति, रुद्र महेश्वर हैं। द्रष्टव्य– शतरुद्रीय, श्वेताश्वतर ३/१-२, ४/१०, ६/७; अमरकोष ''शम्भुरीपः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।

७. पशुपति सम्बन्धी सिद्धान्त या शदर्श।

मङ्गल श्लोक :

"जिसने समग्र कल्याणार्थ[१] ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण विश्व का सृजन किया, उस विश्वरूप सभा के अधिपति पशुपति को सिर से प्रणाम है। अर्थ की चरमोत्कृष्टता से परिपूर्ण, सर्वोत्तम ज्ञान की पराकाष्ठा वाले पञ्चार्थ[२] का क्रमबद्ध रूप से [पूर्वाचार्यों की परम्परानुसार][३] मुझ कौडिन्य द्वारा भाष्य किया जाता है।"

कहा है:-

भगवान् पञ्चार्थ को कहते हैं।

पूर्वपक्षः- अब इसका आदिसूत्र [प्राथमिक सूत्र] क्या है?

उत्तरपक्षः- यहाँ कहा जाता है-

"अब इसलिये हम पशुपति के पाशुपत योग विधि का व्याख्यान करेंगे।" उपर्युक्त [यह] प्रथम सूत्र [पाशुपत] शास्त्र के प्रारम्भ में उद्घोषित होता है। तत्पश्चात् पद विभाजन किया जाता है। तत्सम्बन्धी [पशुपति सम्बन्धी] उपयोगी योग विधि का व्याख्यान करेंगे, ऐसा कहा गया है।

सूत्र में आठ पद हैं तत्सम्बन्धित अथ और अतः ये दो शब्द नैयातिक [प्रासंगिक अथवा अकस्मात्] हैं। पशुपतेः [पशुपति के] इस प्रकार का पद, परिग्रह हेतु [मूलाधार के रूप में] कहा जाता है। पाशुपत, इस प्रकार का कथन तद्धिवत [पूर्वपक्ष अथवा पशुपति से संश्लिष्ट] है। इसी प्रकार योगविधि सामासिक है। 'वि' तथा 'आङ्' दो पद [उपसर्ग] हैं। ख्यास्यामः यह [कथन] आख्यातिक [उद्घोषित या अभिव्यक्त] है।

---

१. अद्वैत होने के कारण हितार्थ आत्मकल्याणार्थ होगा। 'तत् त्वम् असि' सम्पूर्ण विश्व उसी का रूप है उसी के कल्याण हेतु शतरुद्रीय के अनु० विश्वरूपेभ्यो नमः"।

२. पाशुपत सूत्र भाष्य [अत्रैव] पृ० ६, १४६; पञ्चार्थ-कार्य कारण, योग, विधि दुःखान्त।

३. आचार्य परम्परा लकुलीश के राशिकर पर्यन्त १७ आचार्य। द्रष्टव्य -लकुलीश एवम् उनकी परम्परा, भाग-२

प्रश्न है- किस अभिप्राय से पद विभाजन किया जाता है?

उत्तरः- अर्थ की प्रसिद्धि [अभीष्ट की प्राप्ति] के लिये। पदों में अर्थ की प्रसिद्धि कैसे? [हो जायेगी] पृथक् पृथक् [विभिन्न] आशययुक्त पद होते हैं। जैसा कि अधोवक्तव्य है [इस प्रकार कहा है]:-

"जिस प्रकार सिर को ढँक लेने से नग्न शरीर वाला मनुष्य पहचाना नहीं जाता उसी प्रकार पद विग्रह से तिरस्कृत [रहित] सूत्र भी स्पष्ट नहीं होता है।" अतएव अर्थ की अभिव्यक्ति हेतु पद विभाजन किया जाता है। यहाँ यह प्रश्न है कि [प्रतिपाद्य] मांगलिक [पाशुपत] शास्त्र का आदि- [प्राथमिक] क्या है?

अर्थात् पशुपतेः यह उस [पाशुपत] शास्त्र का आदि है। वह शास्त्र तन्त्र[1], ग्रन्थ[2] और विद्या[3] है। ग्रन्थ का अभीष्ट प्रापण [पशुपति सम्बन्धी ज्ञान] का उपाय है। जिसका परिमाण अथ [आरम्भ] से [पाशुपत शास्त्र, पशुपति शिव के ज्ञान] अन्त तक [अध्याय १-५] उपदिष्ट है। संख्या में पांच अध्याय पञ्च ब्रह्म[4] व अधिकरण भी हैं।

वचन, स्नान, शयन, उपदेश [अ० १, सू० १-३] के उद्देश्य से शिष्य तथा आचार्य के ज्ञापन हेतु 'अथ' और 'अतः' शब्द व्याख्येय हैं। कैवल्य को पहुँचे हुये [प्राप्त किय हुये] भी दुःख से परिपूर्ण देखे जाते हैं। कार्य-कारण के प्रत्यक्ष द्रष्टा होने के कारण [अ० ५ सू० २६] विप्रगुण युक्त होने से साध्य-साधन के प्रत्यक्षद्रष्टा जिज्ञासाओं के सम्यक् उत्तर देने वाले, ऐश्वर्ययुक्त लोक विषयों से मुक्त-माना [अ० २, सू० २६] कामित्व [गुण] युक्त [अभिलाषित शिवानुरक्त]

---

१. गुरु-परम्परया अधिगत ज्ञान को तन्त्र कहा गया है। तनुविस्तारे धातु से उणादि प्रत्यय लगने पर तन्त्र शब्द बनता है। कामिकागम के अनुसार " तनोति विप्रलान् अर्थात् तत्व मन्त्र समन्वितान् त्रृणं च कुरुते-तन्त्रमित्यभिधीयते।

२. जिसमें पशुपति सम्बन्धी ज्ञान संकलित है।

३. पशुपति सम्बन्धी ज्ञान विद्या है।

४. पञ्चार्थ भाष्य, अत्रैव, सद्योजात्, [प्रथमाध्याये] वामदेव [द्वितीयाध्याये] अघोर [अ० ३] तत्पुरुष [चतुर्थाध्याये] ईशान [पंचमाध्यायी यो रुद्राष्टाध्यायी अ० १०/५ ऊँ संद्योजातं प्रपद्यमि७-वामदेवाय नमो १०/८ अघोरभ्योथघोरेभ्यों:९-विपुरुषाय तवद्महे महादेवायधीमहि १०/१० ईशानः तै० आ० से उद्धृत]।

अनेकानेक आचार्यों में विशिष्ट यह [विवेच्य पाशुपत] आचार्य होंगे। एवम् ब्राह्मणत्व सम्पन्न [संस्कार और श्रुतयोग दोनों से ब्राह्मण] [अ० ४, सू० २४] स्त्रीपरिग्रह से विरत, इन्द्रियजयी तथा- ''बधिरता, अन्धापन, घ्राणशक्ति शून्यता, गूंगापन, मूर्खता, प्रमाद, शव वाहक या शव स्पर्शी, क्लीब, कोष्ठबद्धता, कुष्ठरोगग्रस्ता, गुदावर्त [बवासीर] लंगड़ापन''- इत्यादि दोषों से रहित, चेतनशील [जाग्रत] [संवेदनशील] सक्षम इन्द्रियों से युक्त ब्राह्मण ही शिष्य होता है। वह अन्य [प्रख्यात] शिष्यों की अनुवृत्ति वाला ही विशिष्ट शिष्य होगा। देव आदि [अन्य देवयोनियों] के लीलागुणयुक्तता [देवधर्मित्व] से लीला हेतु [लीला में ही] ईश्वर की प्रवृत्ति है। अर्थात् क्रीडाधर्मी प्रवृत्ति उसके ऐश्वर्य की लीला है यह उसका सहज स्वभाव है। प्रवचन एवं वक्तृत्व में आचार्य की प्रवृत्ति अनुग्रह हेतु ही होती है। तथा भजन [ईशगुणगान, वन्दना] धर्म कार्य अथवा भक्ति प्रेरणा, शिवानुरक्ति में आनन्दबोध एवं दुःखान्त प्राप्ति में शिष्य की निरन्तर प्रवृत्ति होती है, न कि धर्म, अर्थ, काम व कैवल्य [मोक्ष][1] साधन हेतु। कामित्व होने से [अ० १, सू० २४] आचार्य इन्द्र, कौशिक आदि आचार्यों से भी कमनीय, द्विव्य, चरमोत्कृष्ट ऐश्वर्य से युक्त, लीला के [सहज] स्वभाव का है। यहाँ ऐसा अर्थ है। अतएव धर्मप्रेरणा एवं उपलब्धि के संस्कार, वशीकरण इत्यादि [मोह-माया के वशीभूत] सांसारिक द्वन्द्वात्मक [दुःखाभिभूत] होने के कारण इन्द्र कौशिक आदि द्विव्य नहीं है अतएव वे शिष्य हैं।

शिष्यों की [प्रश्न रहित] प्रामाणिकता से कामित्व[2] गुण सम्पन्न [प्राणिमात्र के काम्य] [अ० १, सू० २४] अजन्मा होते हुए भी [अ० १, सू० ४०] वे भगवान् [पशुपति महेश्वर] मानव रूपी ब्राह्मण काया [शरीर] में अवतरित होकर प्रकट हुए[3] तथा अपने पावों से चलकर उज्जैनी आये [पहुँचे]-। कैसे [अर्थात् कैसे माने, उक्त तथ्य कैसे ज्ञात है] शिष्टों [अनुशासन] के प्रमाण से, प्रतीक [चिन्ह] दर्शन एवं अनुश्रुति से।

---

१. सांख्य दर्शन में मोक्ष को कैवल्य कहा गया है।, सांख्यकारिका [१७] पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च। १-२७
सांख्यदर्शन में यह कैवल्य दो प्रकार का [१] एकान्तिक [२] आत्यान्तिक कहा गया है।

२. कमु कान्तौकाम्यते जनैः इति कामः। कमनीय, एपणीय, जो शिव है।

३. द्रष्टव्य, लकुलीश धार, खण्ड २

संन्यास आश्रम के लक्षणों से युक्त होकर [विभूषित अथवा ग्रहण करके] उन्होंने [लकुलीश नामधारी कामरूपी महेश्वर ने] उपदेश किया। भस्मस्नान, अनुस्नान [अनेकशः स्नान क्रिया अथवा भस्मस्नानोपरान्त स्नान] निर्माल्य, एकवास ग्रहण [अ० १, सू० २-५ और १-१४] अधिकरण प्रसिद्धि हेतु अपने [पाशुपत] शास्त्र में कहे गये आयतन में शिष्य सम्बन्ध की सम्भावना के हेतु से पवित्र देश में [क्षेत्र में] भस्म की वेदी में निवास किये-वहाँ रुद्र के द्वारा प्रेरित कुशिक[1] भगवान ने आकर आचार्य में पूर्णरूपेण संतृप्ति [परितोष] एवं अलौकिक लक्षण देखे तथा विपरीत रूप में अपने को देखकर शरणागत होकर [भक्तिभाव से] मर्यादानुसार अपने जाति, गोत्र, ज्ञान एवं ऋणमुक्तता का प्रमाण्य सहित निवेदन करके, आचार्य की नियत समय तक प्रतीक्षा करके, वैद्य के समक्ष आतुर रोगी की भांति शिष्य [कुशिक] ने प्रश्न किया-भगवन्! इन आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, दुःखों की ऐकान्तिक अथवा आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव है या नहीं[2]?

---

१. लकुलीश के शिष्य कुशिक। द्रष्टव्य– लकुलीश एवं आचार्य परम्परा, खण्ड २

२. सांख्यकारिका ६८ में एकान्तिक और आत्यन्तिक कैवल्य का विवेचन है। –सांख्यकारिका में त्रिविध दुःखों का विवेचन है–
दुःखत्रयाभिघातज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे सा यार्था चेन्नैकान्तात्यन्तो भावात् ॥१॥
विष्णुपुराण (६/४/२/८) त्रिविध दुःखों की चर्चा है।
''यदा चर्मवत् आकाशम् वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा शिवम् अविज्ञाप दुःखस्य अन्तः भविष्यति ६/२०
शाङ्करभाष्य परमात्मानमविज्ञाय दुःखस्याऽऽधिभौतिकस्यान्तो विनाशो भविष्यति।
श्वेता० (१/२) में दुःख के ही प्रश्न को उठाया गया है–
''संयोग एषा न त्वाम आवात्माऽप्यनीशः सुखदुःख हेतोः ॥१/२ भाष्य
दुःखादिहेतुभूतस्याऽऽध्यात्मिकादि भेदभिन्नस्य जागतोऽनीशो न कारणम्।
पातञ्जल योगदर्शन में भी १/३१ [समाधिपाद] दुःख की चर्चा है। समाधिपाद १/३१ दुःखदौर्यस्याङ्गभेजत्वश्वास प्रश्वासा विक्षेपसह भुवः –व्यास भाष्य-''दुःखमाध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविक च।'' गौतम प्रणीत न्यास, सूत्र। १/१/२ में दुःख के ऐकान्तिक निवृत्ति से मोक्ष का उल्लेख है।
वैशेषिकसूत्र के प्रशस्तपाद भाश्य में भी दुःख की सत्ता का विवेचन है। द्रष्टव्य दुःखप्रकरण ३२। बौद्धदर्शन में दुःख की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है समस्त संसार व द्वादश निदानों की शृंखला बौद्धदर्शन का आधार है वहाँ दुःख को प्रथम आर्य सयय कहा गया। दुःख दुःखसमुदय, निरोध और निवार्ण तथा प्रतीत्य-समुत्पाद में त्रिविध दुःख की चर्चा है। द्रष्टव्य। सर्वदर्शन संग्रह बौद्धदर्शन २८

अतएव यहाँ कथित विषयों पर अधिकार [अनुग्रह] के लोभ में इतर के व्याज से उपदेश करने में ही योग्य साधक व शिष्य की उपदेश सिद्धि प्रकाश्य है। अतः कारण पदार्थ के ज्ञापनार्थ स्वयमेव भगवान [लकुलीश] उपदेश करने लगे। [प्रवचन करने लगे]-अथेति [अथ इति]।

यहाँ पूर्वप्रस्तुत विषय की अपेक्षा से ही अथ शब्द है।[१] कैसे शिष्य की जिज्ञासा से दिये गये प्रश्नोत्तर में, दुःखान्त है, ऐसा अर्थ [व्यक्त] है।[२]

[परन्तु] प्रश्न उठता है कि परीक्षित शिष्य के लिये दुःखान्त उपदेश की प्रतिज्ञा है। अथवा अपरीक्षित के लिये भी [ऐसा विधान] है?। तो इस सन्दर्भ में कहा गया है 'परीक्षित' शिष्य के लिये [ऐसा विधान] है। शिष्य के गुण कथन में अतः शब्द की प्रवृत्ति है [क्योंकि सत्पात्र शिष्य की जिज्ञासा से उत्तर अपेक्षित हुआ है] इस प्रकार का शिष्य ब्रह्मावर्त देशवासी[३] और कुलीन है, सक्षम इन्द्रिययुक्त है, और तत्वज्ञान की जिज्ञासा सम्पन्न है। पूर्व प्रसङ्ग में यहाँ 'अतः' [शब्द] दर्शनीय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि दुःखान्त कैसे प्राप्त होता है? किस उपाय से ऐसा सम्भव है? उत्तर में कहा गया है कि 'पशुपति' से, उनके अनुग्रह से। यहाँ 'पशुपति' से अभिप्राय पशुओं के पति से है तथा पशु से अभिप्राय सभी चेतन प्राणियों से है। [सिद्धेश्वर अर्थात् जीवन्मुक्त के अतिरिक्त][४]। पशु कार्य करण में बँधे हुये हैं।

[प्रश्न उठता है] कि उनका पशुत्व क्या है? तो कहा है कि अनैश्वर्य [ईश्वरत्व का अभाव] या बन्धन ही पशुता है। कारण शक्ति का सन्निरोध जिससे ज्ञात होता है वह अस्वान्तत्र्य[५] ही अनैश्वर्य या बन्धन है जो अनादि है। किन्तु

---

१. यहाँ अथ शब्द का अर्थान्तर प्रसिद्धि कह रहे हैं।

२. शब्दरूप ही प्रश्न और उत्तर है यहाँ अद्वैत की ओर संकेत है क्योंकि वस्तुरूप मल नहीं है।

३. जीओग्राफीकल डिक्शनरी-नन्दूलाला डे, पृ० ४०

४. ''सरस्वती और दृषद्वती के मध्य का क्षेत्र जो मनसंहिता अ० २ में ब्रह्मर्षि देश कहा गया है, कानपुर के विठूर के पास का गङ्गाघाट ब्रह्मतीर्थ कहा जाता है।

५. यहाँ पशु दो प्रकार के बताये हैं [१] वे जिनमें ईश्वरत्व का अभाव है तथा [२] वे जो तीनों प्रकार के मल से मुक्त हैं, जीवन्मुक्त अर्थात् सिद्धेश्वर।

प्रश्न यह है कि जीव का बन्धगुण जिससे वह बँधा हुआ है उसका लक्षण क्या है? [प्रश्नोत्तर में] कहा गया है कि-अज्ञानता अर्थात् बन्धन के कारण वह पशु है। कार्य एवं करण नाम की कलायें[1] ही पाश हैं[2] जिनको आगे के दृष्टान्त में कहेंगे। इससे बंधे हुये आवेण्ठित शब्द रस आदि विषयों के अधीन होकर जो रहते हैं उन्हें ही 'पशु' कहते हैं, इसीलिये ईश्वरत्व का अभाव या स्वेच्छेया व्यवहार रहित होना ही बन्ध है।

क्या जो करण-कार्य रहित है उसे पशुत्व से निवृत्ति प्राप्त हो पाती है?। ऐसा यदि कहा जाये तो इसका उत्तर होगा ''नहीं''। यह कथनीय है कि जो प्रलीन[3] हो जाते हैं वे भी पुनः पुनः [कार्य-करण] सम्बन्ध ग्रहण करते हैं, अथवा अन्य कुछ है। वे बंधे होने के कारण पशु हैं। विभुत्व रहने पर भी [व्यापक रहने पर भी] चित्त के साथ नित्य सम्बन्ध रहने के कारण भी शरीरयाग को वे आत्मरूप देखते हैं यदि ऐसा कहा जाय तो कहना होगा कि आभ्यान्तर शारीरिक चेतना रहती है बाहर की नहीं। कार्य-कारण रहित प्राणी भी कार्यकारण को समझ नहीं पाता [रहस्य का ज्ञान नहीं कर पाता] और न उसका त्याग कर पाता है। धर्म-अधर्म, रूप, बोध और देश-काल स्थिति आदि से वह निरपेक्ष नहीं है [इसलिये] उचित ही कहा है कि बंधने के कारण वह पशु है, जैसा कि कहा गया है-

''सांख्ययोग से जो मुक्त हो [कैवल्य प्राप्त हो] गये, ऐसे ब्रह्मादि से पशु-पक्षी पर्यन्त सबको पशु रूप स्मृत किया गया है।''

[यह भी प्रश्न है] कि पति कैसे है ?

उत्तर पक्ष-जो पशुओं की रक्षा और पालन करता है पति होता है परन्तु वह किस प्रकार रक्षा करता है?। कैसे पालन करता है?। तो ऐसा विभुत्व [व्यापकत्व] के कारण है। ऐसा मानने पर उस महाविभुशक्ति सम्पन्न होने के कारण पशु उसका अतिक्रमण नहीं कर पाता है [इसलिये उसका पतित्व सार्थक व युक्तिसंगत है] विप्रत्वाच्च [अ॰ ५, सू॰ २६-२७ ऋषिविप्रो महानेषः एवं

---

१. अपने इच्छानुकूल व्यवहार न करना, ईश्वरता का अभाव।

२. अंश, खण्डित ज्ञान, किञ्चित्कर्तृत्व।

३. पाश के सन्दर्भ में श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है–
श्वेता॰ २/८ ''अनीशश्चात्मावध्यते भोक्तृ भावात्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः''।
श्वेता॰ ४/१६ ''विश्वैरुपरिवेष्टितारं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः।''

वाग्विशुद्ध] से विदित है कि उसकी ज्ञानशक्ति अपरिमित और अनन्त है अतः वह उस शक्ति से अपरिमिति पशुओं को अपने नियन्त्रण में रखता है, इसीलिये पति है, पालन-पोषण व प्रभुशक्ति से पति है।

[ऐसा अर्थ] कैसे है? चूंकि प्रभुशक्ति उसके नियन्त्रण में है अतएव प्राणियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति, स्थिति, इष्ट शरीरेन्द्रिय सभी विषयों पर उसका अधिकार है, एतावता स्वातंत्र्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण उसको पति कहते हैं। समस्त कार्यों पर उसका अधिकार हैं इसलिये वह पशुपति है। यहाँ पशुपति शब्द को कार्य-कारण अनुग्रह आदि सभी ओर से सांकेतिक किया गया है[१], इस प्रकार अलौकिक अनुग्रह शक्ति सम्पन्न होने के कारण [वह] ''दुःखान्त' प्राप्त करा सकता है[२], न कि वैराग्य, धर्म या इससे विपरीत, अज्ञान अवैराग्य, अनैश्वर्य आदि के ग्रहण अथवा त्याग से [पतित्व प्राप्त होता है]।

किन्तु प्रश्न होता है कि कहाँ रहने से कौन सा कार्य करने से वह भगवान् अनुग्रह करते हैं? जिस स्थिति में रहकर वह [पति उस अलौकिक शक्ति का] सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है वह क्या है? इस तात्पर्य से ही उसे पाशुपत कहा गया है, पशुपति के द्वारा कहा गया या उनके द्वारा अपनाया गया या उसके विषय में प्रारम्भ किया गया जो ज्ञान-बोध है वह पाशुपत [दर्शन] है जैसे वैष्णव [विष्णु से वैष्णव] या मानव।

---

१. जिनका चित्त समवेत अथवा लीन हो गया, जिनके कार्य-कारण का लय हो गया वे भी कार्यकारण को पुनः ग्रहण करते हैं। यहाँ लीन शब्द योग के अर्थ में है। पतञ्जलि योगसूत्र [व्यासभाष्य] १/१ पृ० २ में चित्त की पांच अवस्थाओं की चर्चा है-१ क्षिप्त, २-विक्षिप्त, ३-विमूढ, ४-एकाग्र, ५-निरुद्धवस्था। एकाग्र अवस्थायें ही प्रलीन अवस्था होती है। श्वेता० उपनिषद् १/७ '' अत्रान्तरो ब्रह्मविदो निदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता।

शाङ्करभाष्य में 'बह्मलीन' को लय गता शब्द से अभिहित किया गया है। ''ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्माविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि विश्वाद्युपसंहार मुखेन लयं गता अहं ब्रह्मास्मि इति ब्रह्मरूपैणेव स्थिता इत्यर्थः'' समाधि के अन्तर्गत योगियाज्ञवल्क्य का कथन उद्धृत है- '' तदेवान्धीः प्राप्य परमात्मना। तस्मिन्प्रलीयते त्वात्मा सामाधिः स उदाहृतः। श्वेता० १/७ भाष्य; पातञ्जल योगसूत्र, समाधिपाद १/१९- भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

२. श्वेताश्वतर उपनिषद् में पशुपति की धारणा व्यक्त है।; ६/७ ''तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।

पूर्वपक्ष [प्रश्न] पाशुपत यह [दर्शन] क्या है?

उत्तरपक्ष-योग है, आत्मा और ईश्वर का संयोग है।[1] यह पुरुष द्वारा पाशुपतसूत्र एवं सिद्धान्तों तथा तत्सम्बन्धित प्रेरणाप्रद ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों के अध्ययनादि कार्यो तथा नैमित्तिककर्मो, उनके [पशुपति भगवान् के] अनुग्रह[2] से संयोग प्राप्तव्य है जैसे स्थाणु के प्रयत्न किये बिना बाज बैठ जाय। [अध्ययनादि प्रेरणाप्रद सिद्धान्तों एवं उसका अनुग्रह से] अर्थात् संयोग उभय कर्मज भी है उसकी कृपा और अपनी साधना दोनों से जैसे दो भेषों का परस्पर [युद्ध] मिलन अथवा संयोग। विषय में जिसकी अनुरक्ति और विरक्ति दोनों है, इसीलिये वियोग और संयोग दोनों का उपदेश है। जिस प्रकार क्रियायोग है।[3] यहाँ समाधिलक्षण नामक योग में संनियम अर्थात् निरोध नहीं है।

---

१. श्वेता० से तुलनीय–
६/२० तदशिवम् अविज्ञाय दुःखस्य अन्तः भविष्यन्ति।
६/२१ तपः प्रभावाद्देवप्रसादात् च ब्रह्महश्वेताश्वतर अथ विद्वान...। उपर्युक्त ''दुःखान्त'' केवल अभावात्मक अथवा निरोध नहीं है अपितु उसमें स्वातन्त्र्य की उपलब्धि होनी चाहिये जहाँ कारणशक्ति की असीमता है।

२. यहाँ आत्मेश्वर संयोग है जो पातञ्जलि योग से भिन्न है।-द्रष्टव्य-पातञ्जलयोग समाधिपाद २ ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः-युज् धातु से योग का अर्थात् संयोग और निरोध दोनों में प्रत्युक्त होता है। युज् भावादो छञ् कुत्वम्-जोड़ना या मिलाना।
श्वेताश्वतर उपनिषद् में योग संयोग अर्थ में ही प्रयुक्त है–
२/१ युञ्जानः प्रथम मनस्तत्वाय सविता धियः।
२/२ युक्तने मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
२/४ युञ्जते मन उत युञ्जते धियांविप्र विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
गीता में समत्वयोग इसी अर्थ में प्रत्युक्त है–
२/५३ समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।
५/२० स्थिरबुद्धि संमूढ़ो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।
५/२१ स ब्रह्मयोग युक्तात्मा सुखमक्षयमनुश्यते।।
यहाँ सांख्य योग भी इसी योग से अन्तर्गत है। –श्वेता० ६/१३

३. श्वेता० में महेश्वर के अनुग्रह और गुरुकृपा से आत्मेश्वरसंयोग की प्राप्ति का उल्लेख हुआ है–
६/२१ तपः प्रभावाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्मा। ह श्वेताश्वतरोऽथविद्वान्
६/२३ यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
३/२०...... धातुः प्रसादात् महिमानमीशम्।

[प्रश्न यह है कि]-क्या परिज्ञान मात्र से ही वह योग प्राप्त हो सकता है?

इसलिये उस पाशुपत योग की प्राप्ति के उपाय [मार्ग] को विशेष रूप से कहेंगे। यहाँ योगस्य विधि में षष्ठी तत्पुरुष समास है, सूक्ष्म, स्थूल, स्थलक्षण और विलक्षणा क्रियाओं को विधि कहते हैं [जो एक क्रियमाण कार्य है] इसीलिये उनकी संज्ञा यज्ञविधि है न कि सेना के वन की भांति। ऐसा कैसे है क्यों है? चूंकि क्रियायें क्षणिक हैं इसलिये उनका समुदाय विधि का कोई समुदाय एक साथ नहीं रह सकता किन्तु यदि यह कहा जाय तो वह विधि कैसे है। चूंकि किया जाने वाला है, किया जा रहा है, इस अर्थ में विधि है उपाय ही उपेय बन जाय अर्थात् साध्य ही साधन हो जाय, इस तात्पर्य से यह प्रयोग है।

इस प्रकार 'दुःखान्त' सहित कार्य, कारण, योग, विधि, ये पांच पदार्थ सामासिक रूप से उपदिष्ट हैं। इनका व्याख्यान विस्तर विभाग विशेष उपसंहार नियमन[1] रूप से होगा। इससे सिद्ध होता है कि व्याख्येय व्याख्यान भिन्न-भिन्न है। यहाँ ''वि'' उपसर्ग विस्तर, विभाग और विशेष अर्थ में है। विस्तर-प्रत्यक्ष अनुमान और आप्त वचन तीनों प्रमाणों में प्रत्युक्त किया जाता है।[2] यहाँ प्रत्यक्ष

---

१. क्रियायोग की चर्चा, पातञ्जल योगसूत्र, साधनपाद २/१ में है।
''तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि क्रियायोगः।'' तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये क्रियायोग हैं। योग या चित्त स्थैर्य को उद्देश्यकर जो क्रियायें की जाती है, वे क्रियायोग है।
[१] चित्तनिरोध [पतञ्जलि]
[२] आत्मेश्वर संयोग को उद्देश्यकर जो क्रियायें की जाती है वे क्रियायोग हैं।
[३] यह दो प्रकार का है-
[१] क्रियायोग
[२] क्रियोपरमयोग।

२. द्रष्टव्य-सर्वदर्शन संग्रह-नकुलीश पाशुपत दर्शनम्-तत्र समासो नाम धर्मिमत्राभिधानम्।. .... पञ्चानां परार्थानां प्रमाणतः पञ्चाभिधान विस्तर।.... लक्षणोऽसङ्करेणाभिधानं विभागः शास्त्रान्तरेभ्योऽमीषां गुणातिशयने कथनं विशेषः।
पञ्चार्थ भाष्य अ० ५/४७ में कहा गया है-
'' आदौ यद् भवति समासोक्तं मध्ये तस्य विस्तरश्च विभागतश्चोपनयनिगमनेन.... सातामध्येय निश्चयः।''
उपसंहार-सारसंग्रह करने की रीति है।
निगमन-अनुमान प्रक्रिया का पाँचवां अवयव है, निगमन का अर्थ है वैदिक उद्धरणों सहित।
परार्थानुमान का पाँचवां अवयव निगमन अथवा निष्कर्ष,। -न्यायसूत्र १.१.३२

दो प्रकार का है- १-इन्द्रिय प्रत्यक्ष, २-आत्मप्रत्यक्ष।[1] इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से शब्द, रूप, रस, गन्ध, घट आदि, व्याख्यान ताप, मूत्र, पुरीष, मांस-लवण प्राणायाम से सिद्ध है। आत्प्रत्यक्ष हसित, गीत, नृत्त डुंडुंकार नमस्कार जप्योपहारेणोपतिष्ठेत् [अ० १, सू० ८] परिभूयमानो हि विद्वान कृत्स्नतपा भवति [अ० ३, सू० १९] अप्रमादी गच्छेद्-दुःखानामन्तम् ईशप्रसादात् [अ० ५, सू० ४०] आदि वचनों से सिद्ध है जैसे किसी प्रस्थ से मापा गया ब्रीहि भी प्रस्थ कहलाता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के विषय और सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाली सामग्री पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, देश-काल और प्रवर्तना [प्रेरणा] आदि से अनुगृहीत होता हुआ प्रमाण उत्पन्न होता है।[2] आत्मप्रत्यक्ष तो चित्त और अन्तःकरण [मन, बुद्धि, अंहकार] सम्बन्ध द्वारा ही समूह धर्म, अधर्म, प्रकाश, देशकाल प्रर्वतना आदि स्मृति हेतुक है।[3] उत्पत्ति और अनुग्रह तथा तिरोभाव आदि कालों का भी कारण है। हेतुओं द्वारा कारण के पश्चात् कार्य की सर्जना अनुमित होती है, अतः ये सब सूत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं न कि बाह्य। वह अनुमान द्विविध है-दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट, दृष्ट दो प्रकार का पूर्ववत् और शेषवत् है।[4] पूर्ववत् अर्थात् पूर्वदृष्ट है जैसे यह वही छांगुर है जिसे पहले देखा था। शेषवत्-सींग आदि देखने मात्र से ही यह गाय है। इस तरह का ज्ञान है। सामान्यतोदृष्ट भी गतिमान, देशान्तज्ञान, आदित्य आदि ग्रहों की गति का अनुमान करना है। तीनों कालों में किसी वस्तु के ज्ञान में [अर्थ प्राप्ति में] निमित्त ही प्रमाण होता है। आगम का अर्थ महेश्वर से गुरु परम्परा या प्राप्त शास्त्र है। आगम अलौकिक व्यवहार का हेतु मान्य अथवा स्मृत है यह तथ्य रुद्र प्रोवाच तावत् [अ० ५, सू०

---

१. पातञ्जल योगदर्शन समाधिपाद ७ ''प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि'' तीनों प्रमाण स्वीकृत हैं। सांख्य का० में ३ हीं प्रमाण माने गये हैं-'' दृष्ट अनुमान आप्त वचनं च सर्व प्रमाण सिद्धत्वात्। -सा० का० ४

२. न्यायदर्शनम् गौतम प्रणीतम् वात्स्यायान भाष्य १.१.४ -'' इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं''
यहाँ आत्म प्रत्यक्ष विशिष्ट है। न्यायसार पृ० ११४ में प्रत्यक्ष को द्विविध माना गया है- ''तद्विविधम्-योगिप्रत्यक्षमयोगिप्रत्यक्षं चेति।''

३. न्यायसार, द्रष्टव्य तत्रैव पृ० ११५ ''योगिप्रत्यक्षं प्रकाशदेशधर्मद्यनुग्रहादिन्द्रियार्थ सम्बन्ध विशेषेण स्थूलार्थग्राह्यम्।''

४. अत्रैव।

८] के वचन से सिद्ध है। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीनों प्रमाणों में ही उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, ऐतिह्य, प्रतिभा[१] आदि प्रमाणों का भी अन्तर्भाव समझना चाहिये। इस प्रकार ये तीनों प्रमाण हैं और इन तीनों प्रमाणों के प्रमापयिता भगवान महेश्वर हैं। प्रमाता पुरुष प्रमेय कार्यकरण आदि पञ्चपदार्थ, प्रमितिं-संवित्, सम्यक् चिन्तन, सम्यक् बोध अर्थात् विद्या की अभिव्यक्ति। उद्देश्य और निर्देश के ज्ञान होने के कारण ''वि'' उपसर्ग विस्तर अर्थ में प्रत्युक्त होता है। विभागपद, पदार्थ, सूत्र प्रकरण आदि को अलग-अलग करना है। विशेष साध्य और साधन का पार्थक्य है। 'आङ्' उपसर्ग मर्यादा अर्थ में प्रत्युक्त हुआ है। जब तक कि पद से पद सूत्र से सूत्र, प्रकरण से प्रकरण, अध्याय से अध्याय-बोध न हो जाय, यहाँ तक की मर्यादावस्था है, ऐसा हम कहते हैं। ख्या [धातु] प्रवचन अर्थ में है। प्रतीत और अप्रतीत संज्ञाओं के द्वारा वेदादि वाङ्मय में सांकेतिकसंज्ञाओं से जिनका विधान किया गया है उनसे कुछ भिन्न संज्ञाओं द्वारा भी हम व्याख्यान करेंगे।[२] क्या भविष्यत् काल वाची है जिसकी सीमा का निर्देश नीचे किया जाता है-जब तक आचार्य, दीक्षा ग्रहण किया हुआ, परीक्षित ब्राह्मण व्रत उपवास आदि चर्याओं को सम्पन्न करके, महादेव के पञ्चमुखों में, दक्षिणामूर्ति में सद्योजात आदि सूत्र के द्वारा, अन्य चारों मूर्तियों से संस्कार करके, भस्म से पुनः संस्कार करता है, उत्पत्तिलिङ्ग आदि का विभेद करके मन्त्र सुनाता है-इस काल तक भविष्यकाल की व्याख्यास्यामः शब्द में निहित सीमा है। भविष्यकालवाची 'स्या' कहा जाता है 'मः' जो विभक्ति है, प्रतिज्ञा अर्थ में है। उत्थान आदि गुणों में पूर्णरूपेण व्यवस्थित व्याख्येयतत्व के सम्यक् क्रमशः वक्ता भगवान् ही हैं। स्थूलोपाय पूर्वक होने से, सूक्ष्मविधेय के ज्ञान का, पूर्व आश्रम के नियमों का प्रतिषेध करने के लिये, आश्रम मार्यादा का अतिक्रमण करते हुये, यम, नियम की सिद्धि करते हुये, पहले विधि को कहा जायेगा। इस तरह पदार्थों का उपन्यास समाप्त हुआ ।।१।।

यह कथन कि ज्ञात अंश का विधि के अनुरूप व्याख्यान करेंगे इसमें यह विचारणीय है कि इसका आदि क्या है? मध्य या अन्त क्या ह? विधि [क्रिया] कितने अङ्ग वाली है? प्रत्युत्तर में कहा गया है-

---

१. न्यायदर्शन में अनुमान के तीनों भेद किये गये हैं। वैशेषिकों में प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १६9 ''दृष्ट सामान्यतो दृष्टं च''।

२. यहाँ प्रतिभा विशेष रूपं से स्वीकार्य है।

भस्मनिशयीत [अ॰ १, सू॰ २] परिभूयमानाश्चरेत् [निन्दामध्यो], [अ॰ ३, सू॰ ५], उन्मत्तोमूढ इत्येवं मन्यन्ते इतरे जनाः [अ॰ ४, सू॰ ८] विधि है। यह विधि भी तीन अङ्गों वाली है–दान, यजन, तप। यदि प्रश्न हो कि यह कैसे ज्ञात हो रहा है?। जैसाकि सूत्र के आरम्भ से ही ज्ञात है–

भस्मना[1] त्रिषवणं स्नायीत भस्म से तीन समयों [प्रातःमध्यान्ह संध्या] में स्नान करें। ॥ २ ॥

भस्म एक सुन्दर द्रव्य है जो अग्नि और ईधन के संयोग से बनता है। वह परकृत भस्म भी गृहीत है। वह पार्थिव हो, भुक्त और दीप्तिमान हो। जैसे ग्राम से जाकर भिक्षा ली जाती है उसी प्रकार भस्म भी लेना चाहिये। स्नान, शयन, अनुस्नान आदि कृत्यों में उपयोगी और निष्परिग्रह होने के कारण तथा पाशुपत साधक सभी परिग्रहों से मुक्त रहता है एवं उत्कृष्ट, पवित्र, और हमारा साधन है इसलिये प्रभूत मात्रा में ग्रहण करना चाहिये। यदि प्रभूत मात्रा में न मिले तो स्वल्प ही ग्रहण करना चाहिये।

इसको तुम्बी या चमड़े के पात्र अथवा वस्त्र में रखना चाहिए।

यह प्रश्न है कि भस्म का क्या उपयोग करना चाहिये?

यह करण में तृतीया है इसलिये कर्ता की क्रिया का आदेश है जैसे बसुला से छीलना और बुद्धि के द्वारा आवरण, बुद्धयापिधानम्। यह प्रश्न होता है कि किस समय वे [भस्म स्नानादि] क्रियायें करनी चाहिये?। तीन समयों में, यहाँ द्विगुसमास है संख्यावाची है, सवन [शब्द से] काल निर्देश है। सन्ध्या तीन है [प्रातः मध्यान्ह और सायं] तीन सवन का, तीन सन्ध्या अथवा त्रिकाल अर्थ है। यहाँ तीन काल में क्या करना चाहिये?। भस्म से स्नान करें। पवित्रता सम्पादक स्नान, शरीर में आगन्तुक मल, तेल, चमड़े या गन्ध आदि का भस्म से अपकर्षण करना चाहिये। भस्म रूपी द्रव्य से सर्वाङ्गों का संयोग स्नान है। परमार्थ रूप से स्नान का विचार करने से यह केवल शरीर अपकर्षण मात्र ही नहीं है अपितु पुण्यजनक होने के कारण आत्मपवित्रता जनक एवं अध्यात्मिक धार्मिक कार्य

१. इससे सिद्ध होता है कि यह मत वैदिक है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में इसकी पुष्टि की गयी है।

Rashtriya Sanskrit Sansthan Deemed University Campus SRINGERI 15048

है [अ॰ ५, सू ३१] केवल [अ॰ १, सू॰ १८] स्नान, पाप आदि कालुष्य को दूर करता है। कार्यकरण [स्नान भस्म] के द्वारा व्यपदेश से आत्मा की व्याख्या करते हैं। 'इत' विभक्ति, आज्ञा, नियोग अर्थ में है। नियोग अर्थात् आदेशानुसार कार्य नियत होने के कारण यह नियम है। कैसे यह अर्थ प्राप्त है?। अन्यतन्त्रों में सिद्धि कीं गयी है क्योंकि भस्म से आत्मशुद्धि यह निःश्रेयस मार्ग का कारण है। भस्म से ही स्नान करना चाहिये अर्थात् पानी से नहीं करना चाहिये। यह आत्मसंस्कार जनक है।

प्रश्न है- क्या भस्म से केवल स्नान किया जाय? उत्तर है- अधोलिखित है-

भस्मनि शयीत

[भस्म में ही शयन करें] ॥ ३॥

यहाँ भस्म उसी प्रकार का है इसका निर्वचन पहले कर दिया गया है [अ॰ १, सू २] भस्म से [सप्तमी] औपश्लेषिक ढेर, भस्म संकलन का वाची है। ''इत'' विभक्ति आज्ञा और नियोग अर्थ में है। रात्री में भस्म संकलन पर ही शयन करना चाहिये अन्यत्र नहीं। कहा भी है-

''मृत्यु के भय से भीत मृग एक स्थान पर नहीं रहता, वे रात्रि में निद्रा नहीं प्राप्त करते, उसी प्रकार ध्यानलीन यति को संसारमय प्राप्त करके, उसे निद्रा नहीं प्राप्त करनी चाहिये।''

अपरञ्च विशेष अर्थ के साथ पाशुपतसाधक एक महान उद्देश्य की प्राप्ति में निरत है। कहा गया है-''उन व्यक्तियों को जिनको विशेष प्रयोजन प्राप्ति की इच्छा है उनके नेत्रों में चिरकाल तक निद्रा नहीं रहती, उत्तम जाति के घोड़ों के समान जो अर्धरात्रि में आधे लेटे रहते हैं उन व्यक्तियों की आंखों में निद्रा चिरकाल तक नहीं ठहरती जिन्हें अपना विशेष प्रयोजन प्राप्त करना है।''

इसलिये अच्छी तरह साफ किये हुये भूप्रदेश पर आवश्यक सामग्री का संयोजन कर, दिन में ही पवित्र कर, भस्म बिछाकर अध्ययन-अध्यापन आदि का अभिनिवेश रखता हुआ उनमें लगे चित्त से तथा प्रवचन, चिन्तन और भावानिवेश से थक जाने पर बाहों का तकिया बनाकर सद्योजात और पञ्चस्रोत आदि ऊर्ध्वमुख ज्ञान को सुसंस्कृत कर रात्रि में शयन करना चाहिये। यदि यह

पूछा जाय कि वह क्यों ऐसा करेगा? तो उत्तर होगा-तप के लिये उच्च भूप्रदेश में पवित्रमय उच्चभूमि में विश्राम के लिये रहना चाहिये। सम, विषम, निम्नोनन्त [सिर ऊँचा और पैर नीचा] भूमि में एक प्रहर और दो प्रहर सोना चाहिये यह अभिप्राय है ।।३।।

क्या भस्म के द्वारा स्नान और शयन दो ही प्रयोजन है या और कोई भी?। यदि तीनों सवनों में स्नान किया परन्तु उसके बाद भी अपवित्र रहा तो उसको दूर करने के लिये क्या किया जाय?।

अनुस्नानम् ।।४।।

मन्त्रादि स्नान के समान स्नान करें यहाँ 'अनु' पश्चात्कालीन कर्म के द्योतन के लिये होता है जैसे अनुयान और अनुगमन है। स्नान का तात्पर्य तो भस्मरूपी द्रव्य का संयोग ही है। तीन स्नानों के अन्तरालों में भोजन के कारण मुंह जूठा हुआ, छीकें आयी, थूक, नाक, कान आदि से मलमूल-पुरीष आदि का उत्सर्जन किया, इस कारण से अनुस्नान का विधान किया। यह किसके लिये है?। शौच के लिये, अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये। क्या भस्म ही एक वस्तु है जिससे अपने स्वरूप और चिन्हों की अभिव्यक्ति होती है। शक्ति के संवर्धन के लिये अथवा जो निहित है उसका कोई साधन है इसीलिये कहा गया-

निर्माल्यम् ।।५।।

यहाँ भस्म की तरह निर्माल्य लोकादि में प्रसिद्ध है, 'निर' यह उपसर्ग निर्मुक्त वाची है, माल्य यह पुष्प समूह का पर्याय है। वह दूसरे के द्वारा कारणमूर्ति पर चढ़ाया गया और वहाँ से उतारे गये जो कमल आदि है और जिनको नहीं धारण करना चाहिये वे निर्माल्य हैं। परन्तु भस्म और निर्माल्य से उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है यह कैसे सिद्ध हुआ? तो जैसा कि कहा गया है-

लिङ्गधारी ।।६।।

यहाँ पर वर्णाश्रम में भिन्न दूसरे व्यक्तियों के विशिष्ट आश्रम से सूचक चिन्ह होते हैं जैसे गृहस्थ के तीन दण्ड और बांस का दण्ड, जलसहित कमण्डलु, दाढ़ी मूंछे बाल आदि रहित रहना, यज्ञोपवीत आदि चिन्ह हैं। जैसे ब्रह्मचारियों के लिये दण्ड-कमण्डलु, मौञ्जी, मेखला, यज्ञोपवीत, कृष्ण मृगचर्म आदि चिन्ह हैं। वानप्रस्थ के लिये करीर [जलपात्र] वस्त्र, वलकल, दाढ़ी जटाधारण आदि

स्वरूप उनके चिन्हों की अभिव्यक्ति हैं, संन्यासी भिक्षु त्रिदण्ड, मुण्डीत केश, कमण्डलु, कषायवस्त्र, जलपवित्र, स्थल पवित्र चिन्ह हैं। इसी तरह यहाँ पाशुपत योग के प्रकरण में जो लिङ्ग [चिन्ह] कहा गया उसमें आश्रमों का प्रतिविभाग करने वाला भस्मस्नान, शयन, अनुस्नान, निर्माल्य एवं एकवास, अपने शरीर में लीन कर लिप्त है, आदि पाशुपत चिन्हों से लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। लीन होने के कारण, चिन्हित होने के कारण साधक लिङ्गधारी होता है जैसे दण्डधारी ।।६।।

पूर्वपक्ष– स्नान, शयन, अनुस्नान आदि कार्य कहाँ करने चाहिये,? निर्माल्य का अर्जन कहाँ से करना चाहिये?। लिङ्गधारी [साधक] को कहाँ निवास करना चाहिये। इस सम्बन्ध में कहा जाता है–

आयतनवासी ।।७।।

जो यहाँ प्रस्तुत है भस्म निर्माल्य की तरह आयतन भी लोकप्रसिद्ध है आङ्:[लुट] मर्यादा अर्थ [उपसर्ग] में है। चूंकि गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आदि सभी आश्रयी, प्रयत और नियत तथा साधु आचार सम्पन्न भी अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं। तथा शान्तिक पौष्टिक आदि क्रियाओं से यज्ञ करते हैं। यज्ञ करने के कारण ही आयतन कहा जाता है। परकृत आयतन में भी निवास करना चाहिये इसलिये वासी, आयतन का परिग्रह करें। भूप्रदेश, आकाश के नीचे, पेड़ के नीचे बाहर प्रदक्षिणा करके कहीं निवास करता हुआ सज्जनों की मर्यादा से आयतन वासी होता है जैसे पुलिनवास, इससे पुण्यफल की प्राप्ति शीघ्र ही होती है कहा है–

ग्राम में या अरण्य में भक्तों के रहने का [पाशुपत] पुण्यस्थान है। धर्म से तृप्त साधक का आवास अति उत्कृष्ट सिद्धि क्षेत्र है ।।७।।

प्रश्न यह है कि-उस आयतन में निवास करते हुये साधक की क्या क्रियायें होनी चाहिये?। क्या स्नानादि उपलेपन आदि अन्य कोई विशिष्ट क्रिया करनी चाहिये?। इनका क्या कोई विशिष्ट प्रयोजन है? उसे कह रहे हैं–

हसितगीतनृत्तडुंडुंक्कार नमस्कारजप्योपहारेणोपतिष्ठेत् ।।८।।

प्रारम्भ में तीनों सन्ध्याओं मे सद्योजाताहि मन्त्रों से संस्कृत कर भस्म लगाकर [स्नान करके] जप करते हुये आश्रम में जाना चाहिये। वहाँ पहुँचकर पूर्वाजप

के अनुसार प्रत्याहार हेतु ऊँ ऊँ ऊँ जपना चाहिये। हसित आदि करके जो पश्चात् में जप्य है उसी को उसके निगमन के लिये जपना चाहिये। यहाँ कंठ और होठों का फुलाना जो अट्टहास कहलाता है वही हसित है। यहाँ पर महेश्वर की सभा में गुणधर्मादि क्रियाओं के निमित्त क्रियाओं के चिन्तन तथा गान्धर्वशास्त्र के नियमानुसार नाम स्मरण गीत है। संस्कृत, प्राकृत, स्वनिर्मित या परनिर्मित जो कुछ गाया जाये गेय हैं। नाट्यशास्त्र के नियमानुसार हाथ, पैर आदि का उत्क्षेपण [ऊपर उठाना] सिक्रोड़ना, फैलाना, चलना इत्यादि क्रियायें हैं। नियमानुसार गेय के साथ ही साथ नृत्य का भी प्रयोग करना चाहिये। डुंडुंक्कार, जिह्वा के अग्र और तालु के संयोग से पुण्यजनक वृषभध्वनि की तरह निष्पन्न ध्वनि एक क्रिया है। डुंडुंकार है। कार शब्द हुडुकार को उपहार के अंग के रूप से निवृत्ति करने के लिये कहा गया। यह उपहार का एक अङ्ग है। नमस्कार अधर से मन्द उच्चारण के साथ करना चाहिये। मानस नमस्कार ही नमस्कार है। कार शब्द उपांशु से प्रतिषेध हेतु है। यह मानस भाव का अंग है। सद्योजाताद्विजोन्मन्त्रो की अक्षरपंक्तियों में मन से भाव संचार या विचार की क्रिया का नाम जप है। 'उप' यह विशेषण क्रियाओं के संकलन अर्थ में है। उपहरण का अर्थ उपहार है। साधक, अपने को केवल निमित्त मात्र रखते हुये इष्ट को अर्पित करता है उसे उपहार कहते हैं। उपतिष्ठेत् शब्द से उसका अर्थ है पास पहुँचना अर्थात् विधिपूर्वक प्रणाम करता हुआ विनत होता हुआ। तिष्ठेत् का अर्थ है एकाग्रता के साथ अर्थात् प्रत्याहार के द्वारा सम्पूर्ण दृष्यप्रपञ्च के अभाव में स्थित। सभी इन्द्रियों की वृत्तियों की क्रिया का प्रत्याहार करके शारीरिक मानसिक और वाचिक क्रियाओं से आहार करके मृत्यु के समान उपहार की स्थिति में रहना चाहिये। अपसव्यरूप से प्रदक्षिणा करना चाहिये। प्रश्न होता है–किसका निर्माल्य धारण करना चाहिये किस प्रकार के आयतन में रहना चाहिये? किसकी उपासना करनी चाहिये?

महादेवस्य दक्षिणामूर्त्तेः ॥ ९॥

यहाँ महान् अतिशय अर्थ में है, सभी क्षेत्रज्ञों में उकृष्ट तथा उससे भिन्न है अत: वह महान् है। ऋषि विप्रो महान् [अ॰ ५, सू॰ २६] ब्रह्मणोऽधिपति 'ब्रह्मा', [अ॰ ५, सू॰ ४४] सदाशिव है विशेषत्व है, जिसे आगे कहेंगे। यहाँ देव शब्द 'दिवु क्रीडाया' धातु से निष्पन्न है क्योंकि देव लीला स्वभाव का है जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है वैसे ही देव का धर्म लीला है। लीलामय भगवान ही विद्या,

कला, पशु संज्ञक त्रिविध कार्यों को उत्पन्न करता है अनुग्रह करता है और तिरोभाव करता है। ''बिना किसी प्रवृत्ति से प्रेरित हुये उस लोक के साथ जो विभिन्न प्रवृत्तियों से प्रेरित होता है, भगवान लोक [संसार] के साथ वैसे ही क्रीड़ा करता है जैसे बालक खिलौनें के साथ, देवस्य इस पद में षष्ठी विभक्ति है। यहाँ स्व-स्वामी भाव सम्बन्ध है। परिग्रह अर्थ में ही षष्ठी विभक्ति है। यहाँ दक्षिण शब्द दिशा के प्रतिविभाग अर्थ में आया है, आदित्य दिशाओं का विभाजन करता है, दिशायें मूर्ति को विभाजित करती हैं। मूर्ति का अभिप्राय है देव [शिव] के दक्षिण पार्श्व में उर्ध्वमुख उपस्थित होने पर स्वरूप उपलब्ध होता है अर्थात् वृषध्वज, शूलपाणि, नन्दिमहाकाल, उर्ध्वलिङ्ग इत्यादि लक्षण अथवा लौकिक जन महादेव के आयतन को ही मूर्ति कहते हैं। उस आयतन में ही उपस्थित होना चाहिये। दक्षिणमूर्ति शब्द के ग्रहण से पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में विद्यमान-मूर्तियों का प्रतिषेध होता है। मूर्ति के विधान से, मूर्ति के अभाव में विधि का लोप हो जायेगा। विधि का अर्थ है पूर्वोपदिष्ट भस्म स्नान के उपदेश से जल इत्यादि से विहित स्नान आदि विषयों का प्रतिषेध, भस्म शयन के उपदेश से विषय शयन इत्यादि का प्रतिषेध होता है। हसित आदि के उपदेश से अन्य उपहारों का प्रतिषेध किया गया है, निर्माल्य के उपदेश से प्रत्यग्र [ताजी, अभिनव] माला का प्रतिषेध किया गया है। भस्म में निर्माल्य के विधान से अन्य प्रकार के चिन्हों का प्रतिषेध किया गया है। महादेव शब्द के ग्रहण से अन्य देवता के प्रति भक्ति का प्रतिषेध किया गया है, दक्षिणमूर्ति शब्द के उल्लेख से पूर्व एवम् पश्चिम दिशा में विद्यमान मूर्तियों का प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार दीक्षामूर्ति ऐसा करने पर इस पाशुपत उपदेशकर्ता के पूर्वप्रसिद्ध नियम, इन नियमों से प्रतिसिद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार कीलक, प्रतिकीलक से, पुराण उदक, नव उदक से प्रतिसिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह भस्म प्रकरण समाप्त हो गया ॥

कहा है-''नियम के अभिधान से ही संशय उत्पन्न होता है कि जहाँ यम होते हैं वहीं नियम आते हैं क्योंकि दोनों मिथुन भाव से ही उपस्थित होते हैं। इसलिये ऐसा नहीं होना चाहिये किन्तु प्रश्न उठता है कि इस तन्त्र में कौन से यम माने जाते हैं तो कहा गया है अहिंसा आदि प्रसिद्ध यम हैं-यहाँ अन्य के मत में ही अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, असंव्यवहार तथा अस्तेय इन्हीं पाँच को यम

कहा जाता है[1] एवम् 'अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहारलाघव तथा अप्रमाद[2]-इन पाँच को नियम कहा जाता है।'

ऐसा हम लोगों में नहीं मान्य है क्योंकि नियम की निवृत्ति दिखाई देती है। इस तन्त्र में कालान्तरित नियम समाप्त हो जाते हैं क्योंकि 'देहपात से पूर्व यमों की निवृत्ति नहीं होती।' यह प्रश्न है कि- किस कारण से? तो उत्तर में कहा- हिंसादि दोषों के कारण। इसीलिये अहिंसादि दस नियमों का पालन करना चाहिये। किन्तु यदि इस प्रकार मानें तो नियमों के निवृत्त हो जाने पर भ्रष्ट-नियम व्यक्ति का पतन हो सकता है। इसीलिये कहा कि प्रयोजन के समाप्त हो जाने के कारण उसके पतन का अवसर नहीं आयेगा। चूंकि नियम प्रधान होते हैं इसलिये कहा गया है कि ''यमों में असक्त नियम वाला व्यक्ति पतित हो जाता है किन्तु नियमों के प्रति आलस्य भाव रखने वाला भी यदि यमवान है तो उसका पतन नहीं होता।'' इस कारण से यम और नियम की बुद्धि से समीक्षा करके, यम बहुल होकर के बुद्धि का अभिसन्धान करना चाहिये अतएव पतन का प्रसंग ही नहीं है। प्रसिद्ध यम अहिंसा इत्यादि हैं। प्रश्न यह है कि क्यों यमों को प्रसिद्ध कहकर स्वीकारते

---

१. अथर्वशिर उपनिषद् में ''महापाशुपतव्रत'' के अन्तर्गत भस्म की महिमा का अवगाहन है यथा- अथर्वशिर उ० ६७ ''व्रतम् एतत् पाशुपतम्। अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्व ह वा इदं भस्म मन इत्येतानि चक्षूंषि भस्मान्यग्निरित्यादिवा भस्म गृहीत्वा विमृज्याङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्व्रतमेतत् पाशुपतम्''।।६७।।
जाबाल्योपनिषद्, १९ शांभवव्रतम्।
जावाल्योपनिषद्, २२ भस्मधारणफलम्।
''त्रिपुण्ड भस्मना करोति यो विद्वान ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति।-२२ वृहद्ज्जाबालोपनिषद, भस्मस्नान विधि' १४, १५, १६, भस्मजाबालोपनिषद् द्रष्टव्यू प्रथम अध्याय। उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि औपनिषदिक काल से अन्तिम सोपान में ही पाशुपतों में भस्मधारण, स्नान और भस्म संस्कार की परम्परा विद्यमान थी जो लकुलीशपाशुपतो में पूर्णतः विकसित हुई उसे एक तान्तित्रिक परिवेश प्राप्त हुआ।

२. पातञ्जल योगदर्शनम्, साधनपाद, २९,३०, अष्टांग योग के अन्तर्गत यम-नियमों को परिगणित किया गया है यथा-''यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि ।। २९।। अहिंसासत्यऽस्तेयं ब्रह्मचर्य परिग्रहा यमा ।। ३०।। साधनपाद; यहाँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं।

हैं। अथवा यमों का सर्वज्ञ के द्वारा उक्त जो स्वरूप है उसको ही स्वीकारते हैं। यदि अन्यत्र प्रसिद्ध है तो कहाँ किसके माध्यम से इस विषय में चिन्तन किया जाता है। उत्तर [में कहा गया] है कि ''किये गये उपदेशों से''। जिसका उपदेश ''कृतान्नमुत्सृष्टमुपाददीत [अ. ४, सू. ४] सूत्र से किया गया है। जिनका प्रतिषेध नहीं किया गया अथवा किया गया है, इसीलिये सम्पूर्ण हिंसा तन्त्र में प्रतिसिद्ध माननी चाहिये। वह हिंसा तीन प्रकार की है–दु:ख उत्पन्न करना, अण्डभेद करना और प्राणनिर्मोचन करना। इसमें दु:खोत्पादन का तात्पर्य आक्रोश तर्जना, ताड़न, निभर्त्सन इत्यादि है। यद्यपि इसके बहुत से भेद हैं तो भी चार प्रकार के प्राणी [अण्डज, उद्भज्], पृथ्वी फाड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष इत्यादि, स्वेदज [ढ़ील इत्यादि] जरायुज [मनुष्य झिल्ली से उत्पन्न] के प्रति मानसिक, कायिक, कर्मों के द्वारा द्रोह करना, दु:खोंत्पादन नामक हिंसा है। इन प्राणियों के प्रति उक्त का न करना अहिंसा होती है। अण्ड-भेद से तात्पर्य है दाह, ताप, धू., धूमोपरोध इत्यादि के परिहार के लिये, अग्निकरण, आदान, सम्प्रदान, धौंकना, न करे और न करावे। प्राणनिर्मोचन का अर्थ है वस्त्र, छींका, भस्माधार, भिक्षापात्र इत्यादि का पुनः-पुनः सुव्यवस्थित करना। किन्तु सूक्ष्म विचरण करने वाले प्राणी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इस सूक्ष्म अंगों वाले प्राणी [धब्बे की तरह के प्राणी] पंख, चामर, तालवृन्त अथवा वस्त्रों से बार-बार साफ करने से विलीन हो जाते हैं वे हरित तृण अथवा असिञ्चित प्रदेश में विद्यमान रहते हैं। वसन्त, ग्रीष्म, हेमन्त तथा शिशिर के आठ महीने में भिक्षु को विचरण कना चाहिये। समग्र भूतों के प्रति दया की दृष्टि से वर्षा में एक स्थान पर निवास करना चाहिये।

> ''जो ब्राह्मण योग दीक्षित होकर वर्षा ऋतु में एक स्थान पर निवास करता है वह इस प्राजापत्य प्रायश्चित्त के द्वारा पापों से मुक्त हो जाता है।''

> ''यदि किसी आपत्ति काल में शारीरिक भय दिखे या कोई अन्य दुर्दिन हो या राष्ट्रभंग हो तो [विप्लव] वर्षा ऋतु में भी भिक्षु को विचरण करना चाहिये।''

> ''अन्धकार मार्ग की ओर तथा बिना देखे भू-भाग की ओर विचरण नहीं करना चाहिये, पवित्र जलों से अपने समग्र प्रयोजनों को नित्य सम्पन्न करना चाहिये।''

"अपवित्र जल का संग्रह करने वाला एक वर्ष मत्स्यवबन्ध[1] के द्वारा पाप को एक ही दिन में प्राप्त कर लेता है।"

दृष्टि से पवित्र स्थान पर चरण रखें, वस्त्र से पवित्र जल को पीयें, सत्य से पवित्र वचन बोलें और मन से पवित्र आचरण करें।[2]

"ब्रह्मत्व से प्राप्त जन भी यदि हिंसक है तो भी ब्रह्म से निवृत्त हो जाते [पुनः जन्म प्राप्त कर लेते] हैं। इसीलिये अपवित्र जल को योगवेत्ता कभी भी उपयोग में नहीं लाता।"

"नष्ट होने पर [यमच्युत हो जाने पर] नदी प्रवाह [किनारा] गृहस्थों का घर, या साधु-पुरुषों की मंडली इन स्थानों पर पवित्र भाव से एक बार भोजन ग्रहण करना चाहिये।"

"काण्ड, कन्द एवं खाने वाले खाद्य तथा पके हुये बीज इन सबको परिवर्जित कर देना चाहिये।"

"जब सभी भूतों [प्राणियों] के प्रति दारुण, द्रोह, मन, वचन, कर्म में न उत्पन्न हो तो तब वह योगी ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है।"

"जो स्थावर एवं चर प्राणियों की हिंसा नहीं करता है तथा सबको अपने समान देखता है, वह अमृत कल्प हो जाता है।"

"यज्ञ एवं दान से, तप एवं अग्निहोत्र से, ब्रह्मचर्य एवं सत्य वाक्यों से, वेद-विद्या के अध्ययन तथा व्रत से प्राप्त होने वाले व्रत हिंसक व्यक्ति को नहीं प्राप्त होते।"

"कोई व्यक्ति सोने के सुमेरुपर्वत तथा सम्पूर्ण वसुन्धरा तथा रत्न से पूर्ण समुद्र को दान कर देने पर भी अहिंसा के समान फल नहीं प्राप्त करता।",

इस प्रकार तन्त्र में अहिंसा प्रतिष्ठित हुई।

२. इसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी तन्त्र में सिद्ध है। कैसे? [किस कारण से] स्त्री के प्रतिषेध से [अ॰ १, सू॰ १३ स्त्री शूद्रं नाभिभाषेत्] और इन्द्रियों के जय

---

१. द्रष्टव्य– तत्रैव साधनपाद।
"शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधानि नियमाः॥३२॥

२. कुशल या विद्वान मनुष्य।

के उपदेश से [अ० ५, सू० ७ इन्द्रियाणांमभिजयात्] त्रयोदश करणों के अनुत्सर्ग [निग्रह] को ब्रह्मचर्य कहा गया है। विशेष रूप से यहाँ जिह्वा और उपस्थ अर्थ है। यहाँ विशेष ग्रहण किस प्रयोजन से किया गया है। अर्थात् त्रयोदश करणों के अनुत्सर्ग को ब्रह्मचर्य कहकर, जिह्वा एवं उपस्थ का विशेष ग्रहण किस प्रयोजन से किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रधान होने के कारण। अन्य करणों के मूल में इनकी प्रवृत्ति है, इन्हीं दोनों [जिह्वा एवं उपस्थ] के कारण अन्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। [परन्तु प्रश्न है] कैसे?। जिह्वेन्द्रिय अथवा उपस्थेन्द्रिय के विषय में आसक्त व्यक्ति तेरह कारणों के विषय में प्रवृत्त रहता है। इसीलिये कहा गया जिह्वा अथवा उपस्थ का विशेष रूप से निग्रह करना चाहिये।

चूंकि 'जिह्वा एवं उपस्थ के कारण ही समग्र देहियों का पतन होता है इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि जिह्वा एवं उपस्थ शत्रु के समान मानें।''[१]

अथवा सम्पूर्ण वृत्तियों में मन के होने के कारण मन का निग्रह कर लेने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निग्रह हो जाता है।'

कहा गया है-सभी इन्द्रियों, शुभ और अशुभ अवस्थाओं में, उनकी प्रवृत्ति के मूल में मन ही रहता है, यह मेरे लिये सुनिश्चित है। पुनः कहा गया है-''इन्द्रियों के द्वारा प्रसृत [प्रसारित] एवं इन्द्रियों से निवृत दुःख एवं सुख [प्राणी को प्राप्त होते हैं] इसलिये इन्द्रियों के विषयों से अपनी आत्मा का नियंत्रण, अपनी आत्मा से करना चाहिये।''

''जो भी स्वर्ग या नरक हैं वे सब इन्द्रियकृत हैं इनका निग्रह या विसर्जन क्रमशः स्वर्ग और नरक का प्रापक होता है।''

''इन्द्रियों के प्रसंग से ही निश्चित रूप से जन्म दुःख, मृत्यु का भय होता है अतः इन इन्द्रियों को जीतना चाहिये।''

''इन्द्रियों के प्रसङ्ग से ही निश्चित रूप से जन्म दुःख, मनुष्य दोषापन्न होता है किन्तु उन्हीं का नियन्त्रण कर लेने पर वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।''

---

१. द्रष्टव्य -पातञ्जल योगदर्शनम्, साधनपाद २९ एवम् साधनपाद ४९

''जो बुद्धि स्त्रियों में रमण करती है वह मानवों के बन्धन हेतु रज्जु का कार्य करती है। कृति जन इस रज्जु को तोड़ पाने में समर्थ होते हैं किन्तु दुष्कृति व्यक्ति इसका परित्याग नहीं कर पाता।''

''स्त्री के कारण व्यक्ति ग्रामों का परित्याग करता है। क्र्यों विक्रय करता है, समग्र अनर्थों की मूल स्त्री होती है इसलिये प्राज्ञ [बुद्धिमान] पुरुष स्त्री का आलिङ्गन नहीं करता।

''विष, अग्नि, तलवार, बाण, स्पष्ट रूप से भयङ्कर होते हैं किन्तु माया रूपी स्त्री इन सबसे भयङ्कर होती है।''

''अमेध्यता से पूर्ण [अपवित्रता], कीटाणुओं से भरपूर, स्वभाव से दुर्गन्ध प्रधान, अशौच एवं अध्रुव [क्षणभङ्गुर] मुत्र एवं पुरीष के पात्र शरीर में मूर्ख जन ही रमण करते हैं पण्डित जन नहीं।''

''स्त्री को देखकर व्यक्ति जितनी मादकता का अनुभव करता है उतनी मादकता का अनुभव सुरापान के बाद भी नहीं कर पाता है इसलिये दर्शनमात्र से मदपूर्ण कर देने वाली नारी को दूर से ही प्रणाम कर देना चाहिये।''

''अधोमुखी, दन्तविहीन, जघनों के बीच में विचरण करने वाले समग्र शास्त्रों से अचिकित्स्य भगसर्प [लिङ्ग] ने समग्र जगत को डंस दिया है।''

''लोमश [रोमयुक्त] कुरूप, दुर्गन्धपूर्ण, कुत्सित चर्म वाले, मृगी का पग भाग जिसका परिमाण है, ऐसे इस लिङ्ग ने सम्पूर्ण जगत को अन्धा बना रख्खा है।''

''नारी दीप्त अङ्गार के समान तथा पुरुष घृत से पूर्ण कलश के समान है जो इसमें आसक्त हुये, वे विलीन हो गये जो इससे तटस्थ हुये वे स्वर्ग गये।''

''जिस प्रकार अग्नि स्नेह से समृद्ध होकर महाज्योति को प्रकाशित करता है उसी प्रकार इन्द्रियों के निरोध से स्वात्म ज्योति का प्रकाशन होता है।''

ब्रह्मचर्य में ही धैर्य स्थित होता है तथा ब्रह्मचर्य में ही तप स्थित होता है इसलिये जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य में स्थित रहता है वह स्वर्ग में स्थित होता है।''

''जो ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे क्षीर का मधु का अमृत के

साथ सोम का पान करते हैं तथा मृत्यु के समक्ष अमर बन जाते हैं।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य तन्त्र में सिद्ध होता है।

३. तथा सत्य भी तन्त्र में सिद्ध होता है वह दो प्रकार का होता है उदाहरण के लिए परिदृष्ट वस्तु का वास्तविक कथन तथा वाक् सत्य इसमें परिदृष्ट भूतार्थ वचनरूपी सत्यतन्त्र में सिद्ध होता है। किस प्रकार से व्याख्यानों के उपदेश से [अ॰ १, सू॰] तथा विद्वानों के उद्देश्य से [अ॰ ३, सू॰ १९] इसी प्रकार वाक् सत्य भी तन्त्र में सिद्ध होता है। कैसे? वाग्विशुद्धि के उपदेश से [अ॰ ५, सू॰ २७] यहाँ अपने शास्त्र में उक्त कहने पर असत्य भी सत्य बन जाता है। कैसे शुद्धि के वृद्धि कर होने के कारण। जैसा कि कहा है-

''दया के लिये निगदित [उक्त] असत्य से यदि वह सम्पूर्ण प्राणियों के हित में है, स्वर्ग को प्राप्त करता है किन्तु यदि सज्जनों के विनाश के लिये, उक्त सत्य से भी स्वर्ग में नहीं जाता।''

पुनः कहा गया है -

''गो एवं ब्राह्मण के लिये, स्त्रियों के प्रति विवाहकाल में, प्राणों पर संकट के काल में तथा सम्पूर्ण धन के अपहार [चोरी] के काल में, ये पांच असत्य पातक नहीं होते।''

''सत्य बोलना चाहिये, प्रिय बोलना चाहिये किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये एवं असत्य प्रिय नहीं बोलना चाहिये, यह सनातन धर्म है। जैसा कि प्रतीत होता है ''प्राणियों के हित में उक्त असत्य भी सत्य हो जाता है उसी तरह-यहाँ हमारे स्वशास्त्रोक्त भाषणगत असत्य भी सत्य बन जाते हैं कैसे? विधि-विहित होने के कारण।

इस प्रकार यह भी तन्त्र में सिद्ध होता है।

४. असंव्यवहार भी तन्त्र में सिद्ध है। कैसे? अव्यक्त प्रेम [अ॰ ३ सू॰। एवं २], उन्मन्त मूढ़ों के उपदेश से [अ० ४ सू॰ ६, ८], इस लोक में अव्यक्त प्रेम एवं 'उन्मत्तमूढ़ संव्यहार नहीं करते। इसलिये असंव्यवहार तन्त्र में सिद्ध होता है। पुनः संव्यवहार दो प्रकार का होता है वह इस प्रकार - [१] क्रय-विक्रय संव्यवहार, [२] तथा राजकुल संव्यवहार। इसलिये एक के द्वारा भी अधिकृत आत्मपीड़ा या परपीड़ा अवर्जनीय होते हैं। इसमें यदि अपने को पीड़ित करता

है उससे इसी लोक में दु:खी होता है, यदि कहीं दूसरे को पीड़ित करता है तो दु:ख इत्यादि फलरूप अधर्म उसका बढ़ता है। इसलिये परलोक में भी तीव्र दु:ख का अनुभव करता है, अत: दोनों ही प्रकारों के संव्यवहार वर्जनीय है। कहा भी गया है –

''जो पाप करता है एवं जो पाप की प्रशंसा करता है, जो पाप में सहायक होता है वह समान रूप से पापी है।''

कहा गया है –'' विक्रय में महान दोष है विक्रय से ही व्यक्ति का पतन होता है। यही दोष क्रय में भी है इसलिये क्रय एवं विक्रय दोनों परित्याग कर देना का चाहिये।''

''जो व्यक्ति प्रच्छन्न [गुप्त रूप से] यह जानते हुये पाप कर्म करता है कि कोई नहीं जान रहा है वह व्यक्ति जनापवाद से विमुक्त हो जाता है किन्तु उस पाप से मुक्त नहीं होता।''

पुन: कहा गया है–

''आदित्य, चन्द्र, अनल, अनिल, द्यौ: [स्वर्ग] भूमि, जल, हृदय, यम, दिनरात्रि तथा दोनों सन्ध्यायें ये सभी तथा धर्म मनुष्य के चरित्र को साक्षात् जानता है। जो आरम्भशील नहीं है, दम्भी नहीं है तथा शास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट कर्मो को बिना हीन भाव से करता है तथा यम एवं नियमों में रत रहता है वह व्यक्ति अजर एवं अमर मुनि बन जाता है।''

इस प्रकार असंव्यवहार [अपाप] तन्त्र में सिद्ध होता है।

५. इसी प्रकार अस्तेय [अचौर्य] भी तन्त्र में सिद्ध होता है। कैसे? अवास के उपदेश से [अ० १, सू० ११] और अनुसृष्ट अन्न के प्रतिषेध से [अ० ४, सू० ७] यहाँ विद्यमान एक भी वस्त्र के जो गन्दगी से पूर्ण है उसका परित्याग करने की दृष्टि से अवास का उपदेश दिया जाता है। एक और भी बात है-परित्यक्त अन्न पान इत्यादि का उपयोग दीखता है इसलिये तन्त्र में अस्तेय सिद्ध होता है। स्तेय छ: प्रकार का होता है- १-अदत्तादान [बिना दिये हुए का ग्रहण करना], २-अनतिसृष्ट ग्रहण, ३-अनभिमत ग्रहण, ४-अनधिकार ग्रहण, ५-अनुपालम्भ, ६-अनिवेदितोपयोग। अदत्त के ग्रहण को अदत्तादान कहते हैं। अनतिसृष्ट ग्रहण है बालक, उन्मन्त, प्रमत्त, वृद्ध एवं दुर्बल जनों के वित्त का अपहरण। अनभिमत ग्रहण का अर्थ है-कीट, भ्रमर, पक्षी, पतंग इत्यादि का अनभिप्रेम द्रव्य का अपहरण।

अनधिकार प्रतिग्रह इस शास्त्र में बिना अनुज्ञा के गो, भूमि, सुवर्ण, द्विपाद एवं चतुष्पाद वस्तुओं का ग्रहण, अनुपालम्भ का अर्थ-कुहक, कल्कन, डिम्ब विस्मापन, वर्धायन इत्यादि के उपायों से दूसरे के सुवर्ण इत्यादि पदार्थों का ग्रहण है। अनिवेदितोपयोग का अर्थ है भक्ष्य-भोज्य, लेख्य, चोष्य, पेय में से किसी एक को भी गुरु को बिना दिये अपने उपयोग में लाना।

इस प्रकार स्तेय छः प्रकार का होता है। इन स्तेयों की परिवर्जना को आचार्यों ने अस्तेय कहा है। ऐसा होता भी है।

''जो यह धन है वह बाहर विचरण करने वाला प्राण ही है वह व्यक्ति उसका प्राण ही हर लेता है जो जिसके धन की चोरी करता है'' कहा गया है-''सर्वस्व अपहरण करने वाला, जीवन का अंत करने वाला ये दोनों ही समान कर्मा हैं इसलिये स्तेय को छोड़ देना चाहिये। चोर व्यक्ति के लिये दूसरा लोक नहीं है, दुरात्मा के लिये यह लोक नहीं है। समग्र भूतों के प्रति शंका रखने वाला द्रोहात्मा पाप ही होता है।''

''मृत्तिका, जल, यान, पत्र, पुष्प तथा फल इन सबकी पवित्रार्थी कार्यकारी व्यक्ति को चाहिये की असंवृत [अनढके] रूप से ग्रहण करे। नदी या वापी या कूप, तटाक, सरोवर इन सबके जल को प्रायश्चित्त कर्मपूर्वक असंवृत्त रूप से लेना चाहिये।''

इस प्रकार तन्त्र में अस्तेय सिद्ध होता है।

६. अक्रोध भी तन्त्र में सिद्ध होता है कैसे? शूद्र के प्रतिषेध से [अ० १, सू० १३], अतिताप के उपदेश से भी [अ० २, सू० १६] इस शास्त्र में आध्यात्मिक आधिभौतिक, आधिदैविक, मन एवं शरीरं में उपस्थित समग्र द्वन्द्वों की सहिष्णुता एवं अप्रतिकार होता है इसलिये अक्रोध की सहिष्णुता एवं अप्रतिकार होता है इसलिये अक्रोध भी तन्त्र में सिद्ध होता है। क्रोध ४ प्रकार का होता है, जैसे-

[१] भावलक्षणा

[२] कर्मलक्षणा

[३] वैकल्पकर

[४] उद्वेगकर।

भावलक्षणा का अर्थ है जहाँ असूया, द्वेष, मद, मान, मात्सर्य इत्यादि भावप्रवृत

होते हैं। कर्मलक्षणा का अर्थ है जिसमें कलह, बैर, संप्रहरण [मार-पीट] भाव प्रवृत्त होते हैं। वैकल्पकर का अर्थ है जिसमें पाणि, पाद, नासा अक्षि, अंगुली के प्रहरण के भाव प्रवृत्त होते हैं। उद्वेगकर का अर्थ है जिसमें स्वयं को या अन्य को प्राणरहित कर देता है। इस प्रकार ये चार क्रोध हैं। इनके परित्याग को आचार्यो ने अक्रोध कहा है। इसलिये देश जाति, कुल, धर्म सम्बन्धी निन्दा में करण, क्रिया में कार्य की निन्दा में, आहार की निन्दा, अधिकृत व्यक्ति को क्रोध नहीं करना चाहिये। इसमें देश निन्दा इस प्रकार की होती है- उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहकर अभिक्षेप करे कि जहाँ आप पैदा हुये वहाँ ब्राह्मण ही नहीं होते इसमें क्रोध नहीं करना चाहिये। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा कहने पर मन में तीव्र दुःख व्यक्त होता है तो यहाँ क्रोध क्यों नहीं होगा? उत्तर है नहीं होगा। कैसे? परिसंख्यान [परिगणना] के सामर्थ्य से। इस मनुष्य लोक में यह देश माता-पिता के कारण औपचयिक, कार्यपिण्ड एवं शरीर संज्ञक है वह शरीर उन्हीं से पैदा हुआ है। क्षेत्रज्ञ [आत्मा] तो चेतन, सर्वगत एवं शुचि है और जो कह रहा है, जो सुन रहा है दोनों का अन्तर [आत्मा] अविज्ञात है। अपरिदृष्ट अर्थ के विषय में आप ऐसा कहते हैं इसलिये क्रोध का निमित्त सम्भव न होने के कारण परिसंख्यान के सामर्थ्य से क्रोध नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार शेष में भी देखना चाहिये। कहा भी गया है–क्रोध करने वाला मनुष्य, सींग वाला, बड़े-बड़े नाखूनों वाला, बड़े-बड़े दांतों वाला, विकृत रुधिरपायी, राक्षस या पिशाच हो जाता है। पुनः कहा गया है'' कङ्क, गृध,शृंगाल, दंश, मसक [मच्छर] एवं सर्पो के प्रति भी मनुष्य क्रोध परायण हो जाते हैं क्रोध करने वाला व्यक्ति सर्वभूतों के प्रतिविद्वेषी और बहुत से शत्रुओं वाला, अल्प बन्धुओं वाला, क्रूरधर्मा एवं दुराचारी होता है' क्रोध से पाप कर्म को करता है, क्रोध से ही पापभाषण करता है, क्रोध से निर्लज्ज होता है, इसलिये क्रोध का परित्याग कर देना चाहिये। तथा और भी कहा गया है क्रोधी व्यक्ति जो जप करता है अथवा जो कुछ भी हवन करता है, तप तपता है या दान देता है एवं जो कुछ पूर्तकर्म [पोखरा इत्यादि उत्खनन] करता है उसका सब कुछ वैवस्वत अपहरण कर लेते हैं, उसके श्रुत [वेद ज्ञान] तथा शम [शान्ति भाव] भी मिथ्या सिद्ध होते हैं [वे पुरुष व्याघ्र, धन्य हैं जो उत्थित क्रोध] को बुद्धि से शान्त कर देते हैं जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि को जल से महात्मा शान्त कर देते हैं।''

''जिससे रूप का साक्षात्कार होता है उससे ही ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है उससे ही मनुष्य तप तपता है, जिससे तप तपता है उससे ही उसको सिद्धि प्राप्त होती है एवम् सिद्धि से ही क्षमा प्राप्त होती है।''

''क्षमा सर्वश्रेष्ठ मित्र है तथा क्रोध सबसे बड़ा शत्रु, क्षमा करने वालो के लिये यह लोक भी है तथा परलोक भी।'' इस कारण से क्षमा करना चाहिये।

अतः अक्रोध तन्त्र में सिद्ध होता है।

७. गुरुशुश्रूषा तन्त्र में सिद्ध होती है। कैसे? व्याख्यान के उपदेश से [अ॰ १, सू॰ १], विद्वानों के उपदेश से भी [अ॰ ३, सू॰ १९]। यहाँ उक्त विधि का व्याख्यान करूँगा [अ॰ १, सू॰ १] यहाँ आङ् का प्रयोग मर्यादा के अर्थ में किया गया है। म का अर्थ प्रतिज्ञा होता है, मुझमें है, मुझमें रहता है, यदि इच्छा करूँ कि रहे, यदि इच्छा करूँ कि रुके, इसीलिये तुम्हें बताऊँगा। उसमें इष्ट का अर्थ है अष्टांग ब्रह्मचर्य को मर्यादा में स्वीकार करता है। उदाहरण के लिये उत्थान प्रत्युत्थान, अभिवादन, गुरुकार्य हितकारी अनुत्तरोत्तरवादी जघन्य, संवेशी [सेवा करने से], प्रेषिताप्रेषित, सर्व कार्य कृतज्ञ, सर्व निवेदितात्मा, दक्ष, उदारतापूर्वक अनुराग करे, स्नान, उदवर्तन [कपड़ा धोना], संवाहन [पांव दबाना] इत्यादि क्रिया-विशेषणों से छाया के समान अनुगामी और इसके परे भी नित्य वह मैंने किया, यह मैं करूँगा या यह करूँ, इस रूप में गुरु से प्रतिदिन अनुमति लें और जो विद्या को गुरु को अधिकृत करके बहुतों के पास जाता है, इससे इसकी विद्या के दान से गुरु सेवित होते हैं। ब्रह्मचर्य के क्षीण होने पर भी गुरुओं के प्रति जो नियत गौरव का भाव है वही ब्रह्मचर्य है। कहा भी जाता है-

''गुरुदेव, स्वामी, माता, पिता, है यह निश्चय भाव जिसमें होता है कल्याण उससे दूर नहीं रहता।''

''चाक्षुष पदार्थ का प्रत्यक्ष अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा एवं ताराओं से होता है किन्तु गुरुजनों के वाक्यों से भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों का प्रकाशन होता है।''

उपदेशों के द्वारा या उपदेशकों के द्वारा, मार्ग, समुद्र एवं स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है किन्तु गुरु मोक्ष का दाता होता है।'' अमृत दाता गुरु की जो अवमानना करता है वह साठ हजार वर्षों तक नरक में रहता है। जहाँ गुरु का अपवाद या निन्दा हो, शिष्य दोनों कानों को बन्द कर ले या अन्यत्र चला जाय। जो सभी अवस्थाओं में नित्य आचार्य का पूजन करता है वस्तुतः शिव की ही पूजा करता है इसमें कोई संदेह नहीं है।''

आचार्य की मूर्ति की स्थापना कर के शिव ज्ञान देते हैं अतः कल्याणकाम व्यक्ति कभी आचार्य की अवमानना न करे। ग्रन्थ के अर्थ के ज्ञाता, योग के

मार्ग के निर्देशक, अपने आचार्य के लिए [ज्ञान-पूर्वक] अपने सम्पूर्ण अर्थ को देकर परितुष्ट करना चाहिए। यदि एक ऋक्‌वेद का मन्त्र या आधा ऋक्‌वेद का मन्त्र या एकचरण या एक अक्षर भी जिस गुरु से पढ़ा है या सुना है, निश्चित ही उसके प्रति गौरव का भाव रखना चाहिए। जिस प्रकार लिंगकर्त्री [स्त्री-पुरुष की निर्णायिका] माँ होती है, जिस प्रकार शास्त्रकर्ता पिता होता है किन्तु उनके प्रबोध [ज्ञान] का कर्ता गुरु होता है वही महत् आयतन है।

इस प्रकार गुरु शुश्रूषा तन्त्र में सिद्ध होती है।

८. वह शौच तीन प्रकार का होता है [तथा तन्त्र में शौच भी सिद्ध होता है। कैसे भस्मस्नान के उपदेश से [अ॰ १, सू॰ २]। उदाहरण के लिए गात्र शौच, भावशौच, तथा तीसरा आत्मशौच उसमें भस्मस्नान के उपदेश से प्रसिद्ध है, भस्म से गात्र शौच [शरीर शुद्धि] प्रश्न है जो आपने कहा कि प्रसिद्ध है भस्म से गात्रशौच-यह अयुक्त है। कैसे? पूर्व एवं उत्तर सूत्रों के व्याघम्त से, यहाँ पहले कहा आपने कि अहिंसा इत्यादि यम प्रसिद्ध है और यदि पुनः आप कहते हैं अप्रसिद्ध भस्म से गात्रशौच होता है तो इस कारण से यहाँ पूर्व एवं पश्चात् का समन्वय नहीं हो पाता। व्यांहत [खण्डित] भी होता है। यही दोष है, इसीलिए हमने कहा कि पूर्वोत्तर का व्याघात होता है। उसमें भस्म से गात्र शौच का प्रसिद्ध कहना अयुक्त है। उत्तर है यह दोष नहीं है। कैसे? प्रसिद्धि के दीखने से। इस शास्त्र के अतिरिक्त से, भस्म से, गात्रशौच प्रसिद्ध है। ऐसा ही कहा है ''संसर्ग से उत्पन्न, पितृ-मातृ जन्म, अन्नपान कृत देह को आश्रित करने वाले सांकर्य यदि अस्थि और मज्जा में भी प्रविष्ट हो गये हो तो इन सभी दोषों को भस्म जला डालता है।'' पुनः कहा गया है -''केश के कीड़ों से उत्पन्न और दुष्ट अन्न से सभी भस्म से धुएँ मात्र से भोज्य हो जाते हैं। ऐसा मनीषीगण कहते हैं।'' पुनः कहा गया है -''मद्य पीकर, गुरु पत्नी के साथ गमन करके, चोरी करके, ब्रह्महत्या करके भी साधक भस्म लेपन कर के भस्म की राशि में सोने वाला रुद्र भक्त सम्पूर्ण पातकों से मुक्त हो जाता है। ''जो इन्द्रियों को वश में करके नित्य आग्नेय [भस्म] स्नान करता है वह अपनी इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार करके परमगति को प्राप्त करता है।'' इस प्रकार अन्यत्र भी भस्म से गात्रशौच प्रसिद्ध है। अतः अहिंसा इत्यादि यम प्रसिद्ध हैं ऐसा कहना युक्तियुक्त है। तथा उपस्पर्शन, प्राणायाम, तथा यमकर्मों से [अ॰ १, सू॰ १४-१६] मति अकलुष हो जाती है इस प्रकार तन्त्र में भावशौच भी सिद्ध होता है। स्नान के अन्तर्गत दुष्ट

भाव को नष्ट नहीं कर सकता इसलिए भाव शुद्धि ही सर्वोत्तम शुद्धि है, शेष शुद्धियां श्रृंगार एवं मार्जन मात्र हैं। ''पाप से कलुपित चितजन सहस्त्रों मृतकाओं सैकड़ों जलकुम्भों से शुद्ध नहीं हो सकते हैं। सत्यशौच, तपशौच, इन्द्रियनिग्रह शौच सर्वभूतदयाशौच, जलशौच यह पांचवां है। जिनके लिए शौच ही सर्वोत्कृष्ट है। उनके मन में प्रतिग्रह, आरम्भ तथा इन्द्रियों के विषयों में स्पृहा [लोभ] उत्पन्न नहीं होती।'' ''जैसा कि कहा है– ''यदि कोई व्यक्ति अपनी कलुषित अन्तरात्मा से सर्वस्व दान कर दे तो भी उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती। भाव ही इसमें कारण होता है।'' ''पुरुष ज्यों-ज्यों अपनी मति को कल्याणी बनाता है त्यों-त्यों समग्र अर्थो की सिद्धि उसे प्राप्त होती जाती है इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार तन्त्र में भावशौच सिद्ध होता है तथा तन्त्र में आत्मशौच भी सिद्ध होता है। कैसे क्योंकि अवमान, पभिव, परिवाद इत्यादि से व्यक्ति अपहत पाप वाला होता है। [अ॰ ३, सू॰ ३-७]। इससे आत्मशौच तन्त्र में सिद्ध होता है। जैसा अन्य शास्त्रों ने भी कहा है- ''सम्पूर्ण पर्वत एवं वन से युक्त पृथ्वी में विद्यमान अपमान से साधन कुछ भी नहीं है ऐसा मनु ने कहा है।

इस प्रकार शौच तन्त्र में सिद्ध होता है।

९. इसी प्रकार आहार लाघव भी तन्त्र में सिद्ध होता है। कैसे? भैक्ष्य [अ॰ ५, सू॰ १४]। उत्सृष्ट [अ॰ ४, सू॰ ७] यथालाभ के उपदेश से [अ॰ ५, सू॰ ३२] स्वल्प भी बिना उपाय के अर्जित अलघु अर्थात् अधिक तथा उपाय से अर्जित वस्तु को लघु ही समझना चाहिये। कहा गया है–

> ''वाल्मीक के समूह के समान बिना क्रोध के तथा बिना असन्तोष के मधुकरी वृत्ति का चरण करना चाहिये यह सनातन तप है।''
>
> ''जो व्यक्ति सम्पूर्ण भोज्यों में व्यवहारतः भिक्षा का अन्न ही भक्षण करता है तथा अपने प्रशस्त कर्मों में भिक्षा का ही आदान करता है [यह सनातन तप है]। चारो वर्णो में भिक्षाटन करना चाहिये, पतितों का विवर्जन कर देना चाहिये और [मधुकरी भिक्षुक के लिये] दुग्ध, जल एवं भैक्ष्य अन्न तीनों निःसंशय समान हैं, जो भिक्षु यदि कुछ भिक्षाटन से बचे हुये अन्न का भक्षण करे तो ग्रास [कवल] ग्रहण करने के पश्चात् तीन-तीन प्राणायाम [पूरक, रेचक, कुम्भक] करें।''

''सम्पूर्ण अवस्थाओं में योगवेत्ता का सन्निधान [संग] नहीं करना चाहिये क्योंकि सन्निधान के दोषों से यति कीड़े जैसा तुच्छ हो जाता है। भैक्ष्य ५ प्रकार

का होता है- १-माधुकर [मधुकरी वृत्ति], २- असंकल्प [बिना संकल्प के प्राप्त], ३-प्राग्प्रवृत्त [पहले से ही जो प्राप्त होता रहा है], ४-अयाचित [बिना याचना के प्राप्त], ५-तत्तकाल में उपपन्न अर्थात् प्राप्त।''

''एक गृह से दूसरे गृह को पर्यटन करते हुये किसी गृह को छोड़ना नहीं चाहिये। दूसरे के वचन को सुनकर दुष्ट के घर को छोड़ देना चाहिये।''

''जो भिक्षुक अपतित एवं अदुष्ट [सज्जन] साधु के घर को छोड़ देता है वह अपने पुण्य को उसे देकर स्वयं दुष्कृत प्राप्त कर लेता है।''

''इसी प्रकार यदि किसी गृहस्थ के घर से कोई भिक्षुक निराश चला जाता है वह भिक्षु उस गृहस्थ के इष्ट एवं पूर्त से प्राप्त पुण्य को लेकर चला जाता है। यदि वैश्वदेव की बलि के पूर्व ही घर पर कोई भिक्षुक आ जाय तो वैश्वदेव के लिये अन्न पृथक रखकर भिक्षुक को विदा करना चाहिये। [क्योंकि] वैश्वदेव कृत दोषों को भिक्षु समाप्त कर सकता है किन्तु भिक्षुकृत दोषों को वैश्वदेव समाप्त नहीं कर सकते। इस दिन अथवा बारह दिनों तक लगातार जिस घर से भिक्षा न प्राप्त हो उस घर को वैसे ही छोड़ देना चाहिये जैसे ऊसर खेत को कृषक।'

''चार अक्षरों से संयुक्त 'भिक्षा देहि' का उच्चारण करना चाहिये। यह परिव्राजकों का धर्म है शेष क्रय-विक्रय मात्र है।''

''भिच्छा के इच्छुक भिक्षु को हँसना नहीं चाहिये तथा अभिप्रेक्षण अर्थात् ध्यानपूर्तक देखना नहीं चाहिये और केवल गोदोहन के समान काल तक ही ठहरना चाहिये। अधिक देर तक नहीं रुकना चाहिये। भिक्षुक जरा, मृत्यु, गर्भ तथा नरक से भी डरे हुये व्यक्ति को भी भय से मुक्त करता है इसलिये इसको भैक्ष्य कहते हैं।''

''दधिभक्षक, पयोभक्षक तथा और भी यावक [यव इत्यादि] के जो भक्षक हैं वे सभी भैक्ष्य भक्षक को सोलहवीं कला के बराबर नहीं होते । तप्त कान्चन के सामन गोमूत्र से बारह वर्षो तक निरन्तर जो यावक भक्षण करता है वह भी भैक्ष्य के समान नहीं हो सकता। जो अग्रजन्मा [ब्राह्मण] प्रत्येक मास में कुश के अग्र भाग से सोमरस का पान करता है और भैक्ष्य का व्यवहरण नहीं करता वह भैक्ष्य के समान नहीं होता, भैक्ष्य अन्न सवसे बड़ा श्रेय है। सबसे अधिक शुचि है। व्रतों के लिये श्रेष्ठ है तथा वही परागति है।'' जो

जल [अवरुद्ध] अपेय हो जाता है वह नदी में पहुँच कर पुनः पेय बन जाता है उसी प्रकार विधि पूर्वक आगत द्विजाति के पात्र के अन्तर्गत अन्नपान दूषित नहीं होता।''

''नमकीन या नमक विहीन, तरल या घृत रहित रसयुक्त अथवा विरस, सूखा अथवा द्रव किन्तु निरवद्य [शुद्ध] भैक्ष्य अन्न यदि भिक्षु भक्षण करता है तो वह भिक्षु के धर्म से च्युत नहीं होता।''

इस प्रकार उत्सृष्ट यथालब्ध अवसर प्राप्त होने के कारण प्रत्येक तन्त्र सिद्धान्त में सिद्ध है, सूत्र से अथ निर्देश करेंगे।

इस प्रकार आहार लाघव तन्त्र में सिद्ध होता हो है।

१०. और अप्रमाद भी तन्त्र में सिद्ध होता है। कैसे? अप्रमाद के उपदेश से [अ॰ २, सू॰ १२], जप्य के उपदेश से भी [अ॰ १, सू॰ ८], यहाँ यमों के विषय में नित्य रूप से प्रमादरहित होकर स्मृति सम्पन्न होना चाहिये। कहा गया है-''अप्रमाद, दम, त्याग, ब्राह्मण के लिए मानसरूपी रथ में शील रूपी रश्मि [लगाम] से समायुक्त होकर, ध्येय आत्मा रूपी गन्तव्य के लिये अश्व कहे जाते हैं।

इस ब्रह्मरूपी रथ पर आरूढ़ होकर गर्भ, जन्म, जरा से युक्त मृत्यु भय रूपी पाशों को काटता हुआ ब्रह्मभूत रूप से अवस्थित रहता है।'' इस प्रकार तन्त्र में अप्रमाद सिद्ध होता है। अहिंसा इत्यादि यम प्रसिद्ध है। प्रश्न है कि विशेष [भेद] दोष न होने के कारण यम इत्यादि प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ अहिंसा इत्यादि धर्म के साधन अन्य [शास्त्रों] के लिये भी हैं वे भी इस शास्त्र में भी कहे जा रहे हैं। इसलिये साध्य-साधन निष्ठाओं में भी भेद नहीं हुआ। कहा जाता है कि ऐसा नहीं है। अतिप्रसङ्ग तथा अनेकान्त दोषों के कारण। यदि धर्म के साधन के अस्तित्व मात्र की समान धर्मता के कारण अहिंसा यमों का त्याग करते हैं तब कार्य, कारण क्षेत्रज्ञ [आत्मा] धर्म-अधर्म-सुख-दुःख एवं संसार के अन्य पदार्थ इत्यादि भी त्याज्य हो जायेंगे। यदि आप कहें कि ऐसा नहीं है तो अनेकान्त दोष होगा। और भी, त्याग में कृति हिंसा इत्यादि की धर्म-साधना इत्यादि आ पड़ेगी। और भी, अति दान, अतियजन, अतितप, अतिगमन एवं अनावृत्ति इत्यादि के कारण [अ॰ २, सू॰ १५-१७ एवं अ॰ ४, सू॰ २०] यम के नियम गर्भ [अन्तराल] में होने के कारण विधि से सिद्ध है। नियम का विशेषण न होने के कारण भी भेद नहीं है। इन दोषों के कारण ठीक ही कहा है कि प्रसिद्ध

यम अहिंसा इत्यादि ही हैं, इसलिये कहा है महादेव दक्षिणामूर्ति के [अ० १, सू० ९] ऐसा ।।९।।

यहाँ यह यमप्रकरण समाप्त हुआ।

प्रश्न है उस आयतन में निवास करने की क्या मात्रा है? उस मात्रा को गृहस्थ इत्यादि के समान कहना चाहिये। उत्तर है-नहीं। क्योंकि कहा है-

एकवासा [एक वस्त्र]।। १०।।

यहाँ एक, यह संख्या वाचक है। वास यह आच्छादन के अर्थ में है उसके वस्त्र पाँच प्रकार के होते हैं– अण्डज, वोडज, वालज, वल्कज तथा चर्मज।

जो कुशल व्यक्ति के द्वारा साधन के रूप में ग्राम इत्यादि से निष्परिग्रह रूप से धारण किया जाता है वह कौपीन, वस्त्र, लज्जा के प्रतिकार के लिये मात्र एक ही वस्त्र ग्राह्य है चाहे वह एक पटल वाला हो अथवा अनेकपटल वाला हो। इसी सूत्र के सामर्थ्य से सभी द्रव्यों के परित्याग करने पर मात्र एक वस्त्र के परिग्रह का संस्कार शिष्य को करना चाहिये। प्रश्न है उसकी लज्जा निवृत्ति कब होती है?। उत्तर है ज्ञाने एवं कलुष के अभाव से। यहाँ जब [शिष्य] ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा उसका कलुष क्षीण हो जाता है उसकी लज्जा की निवृत्ति हो जाती है ।।१०।।

प्रश्न है क्या लज्जा के निवृत्त हो जाने पर भी एक ही वस्त्र का ग्रहण नियत है अथवा अनियत?। उत्तर है-अनियत्। जैसा कि कहा है-

अवासा वा [अथवा वस्त्र रहित]।। ११।।

यहाँ अकार वस्त्र के प्रतिषेध के लिये आया है। वस्त्र रहित, नग्न होकर यथाजन्म रूप में निष्परिग्रही होना चाहिये। प्रश्न है वस्त्ररहितता से आप का क्या प्रयोजन है?। तो आपको कहना चाहिये एक वस्त्र वाला। उत्तर है-निष्परिग्रह के लिये तथा अमंगल के ख्यापन के लिये दो प्रयोजन द्रष्टव्य हैं– सूत्र में वा शब्द सत्य एवं असत्य के विचार के लिये है। यदि असक्त हो तो बिना नग्न रहे एक वस्त्र वाला बने। यदि सक्त हो तो वस्त्ररहित नग्न होकरं यथाजन्म भाव से निष्परिग्रही बने। वा शब्द विकल्प के लिये नहीं है विकल्प का अर्थ असम्भव होने के कारण। प्रश्न है उस आयतन में निवास करने वाले व्यक्ति को देहपात के पूर्व तक ध्याननिष्ठ होकर शिला के समान आयतन से निकलना ही नहीं चाहिये अथवा उसके आयतन से भस्म, भैक्ष्य, उदक ऊर्जन इत्यादि के निमित्त ग्राम इत्यादि में प्रवेश दृष्ट है। उत्तर है दृष्ट है। क्योंकि-

मूत्र एवं पुरीष को नहीं देखना चाहिये ॥१२॥

यहाँ मूत्र एवं पुरीष [समास के कारण मूत्र पुरीष बना है] यहाँ च अर्थ में द्वन्द्व समास है। यहाँ मूत्र का अर्थ है जो यह उदर से पर्युसित बाहर निकलकर प्रवाहित होता है उसे मूत्र कहते हैं, मोचन के कारण इसको मूत्र कहते हैं मूत्रत्व के अभिसम्बन्ध के कारण ही मूत्र कहते हैं, लोकादि में यह प्रसिद्ध है। पुरीष का अर्थ है जो यह पीत, भक्षित एवं वलीढ़ आहार विशेषों का अध्यात्मिक अग्नि के द्वारा परिपक्व अपान [वायु] के द्वारा स्खलित होता है उसे पुरीष कहते हैं। पुर अर्थात् शरीर से निर्गत होने के कारण तथा पुरीषत्व के अभिसम्बन्धत्व के कारण इसे पुरीष कहते हैं, लोकादि में प्रसिद्ध है। न का प्रयोग दर्शन के प्रतिषेध के लिये किया गया है। अव उपसर्ग का अर्थ अपवर्जन, नाम के प्रतिषेध तथा जाति ग्रहण करने वाले अन्य इन्द्रियों के प्रतिषेध के लिये है। ईक्ष धातु दर्शन अर्थ में है। जो यह अपनी बुद्धिन्द्रिय चक्षु है उस चक्षु से एवं अपनी बुद्धि से मनुष्य इत्यादि के मूत्र एवं पुरीष को नहीं देखना चाहिये न कि गाय इत्यादि के।

प्रश्न है– क्या मूत्र एवं पुरीष का संदर्शन इत्यादि ही इसका प्रतिसिद्ध है?। उत्तर है– नहीं। क्योंकि कहा है–[सू० १३]

स्त्रीशूद्रनाभिभाषेत् [स्त्री एवं शूद्रों से अभिभाषण नहीं करना चाहिये] ॥१३॥

यहाँ स्त्री एवं शूद्र [समास से स्त्री शूद्र बना है] च अर्थ में द्वन्द्व समास है। यहाँ स्त्री का अर्थ है : वही लोकप्रसिद्ध स्तन, जघन एवं केशवाली, हावभाव विलास से युक्त पुरुष के भाव के अनुकूल स्वभाव वाली, दिव्य मानुषी अतिरति-रस वाली विषय की मूर्ति। इसलिये प्रतिषेध किया गया है। अनुभाषण पूर्वक ही इसकी प्राप्ति होती है। अतः कहा गया स्त्री से अभिभाषण नहीं करना चाहिये। शूद्र का अर्थ है लोकादि में प्रसिद्ध तीनों वर्णो का परिचारक। शोच एवं द्रोह के कारण शूद्र कहा .या। वह निश्चित रूप से निर्दय होता है इसलिये उसका प्रतिषेध किया गया है। क्यों? उसके द्वारा आक्रष्ट एवं अभिहत होने पर, क्रुद्ध होने पर उसके बध में प्रवृत्त हो जाता है इसलिये जाति, ज्ञान एवं तपस्या तथा शास्त्र की हानि होती है। सूचित होने पर अपमान इत्यादि के अभाव में अपमान

इत्यादि का अभाव हो जाने के कारण सूचि [शोक] एवं बृद्धि का अभाव हो जाता है।

अकलुष सूत्र में [अ॰ १, सू॰ १८] इसका दोष निर्देश करेंगे। नकार का प्रयोग भाषण के प्रतिषेध के लिये किया गया है। इसका अर्थ है अभिभाषण [स्त्री शूद्र से] नहीं करना चाहिये। अभिशब्द का अर्थ है प्रसंग। प्रतिषेध में जातिग्रहण करने पर अन्य प्रतिषेध का भी अर्थ सिद्ध होता है। भाष् धातु व्यक्त वचन के अर्थ में है जो यह कर्मेन्द्रिय वाक् है, उसी वाणी से इसीलिये अर्थ हुआ स्त्री तथा शूद्र से अभिभाषण नहीं करना चाहिये।

१३. प्रश्न है न अवेक्षण करना, न अभिभाषण करना चाहिये ऐसा करने पर क्या इस साधक को अन्ध एवं मूक की तरह रहना चाहिये?। उत्तर है नहीं, क्योंकि कहा है-

यदि अवेक्षण करे और यदि अभिभाषण करे ॥१४॥

१४. दोनों यदि यहाँ आशंका के अर्थ में हैं। अभिभाषण नहीं करना चाहिये इस कथन से निषिद्ध विषय में भी गुरु के लिये अथवा स्वयं के निमित्त भस्म, भैक्ष्य, उदक इत्यादि के अर्जन के निमित्त ग्राम इत्यादि में प्रविष्ट साधक को विष्ठा, मूत्र तथा स्त्री, शूद्र का दर्शन एवं अभिभाषण होगा, इस कारण से। इसीलिये सर्वज्ञ भगवान ने कहा कि यदि अवेक्षण करे यदि भाषण करे। अवश्य ऐसा होना चाहिये।

प्रश्न है– देखने पर और अभिभाषण करने पर अशुद्ध होने से निर्घातन [शुद्धि] क्यों करना चाहिये? उत्तर है-

उपस्पर्शन [क्योंकि कहा है उपस्पर्शन करवे] ॥ १५॥

१५. यहाँ उप उपसर्ग अभ्युगम अर्थात् सम्पर्क अर्थ में है। अभ्युपगमन से कलुष मति व्यक्ति के द्वारा यह अर्थ है। स्पृश्य का अर्थ है भस्म द्रव्य से गात्र का संयोजन मात्र। उदस्पृश्य यह स्नान का पर्याय है, वस्त्रसहित जल के स्पर्श के समान। वह भस्म से करना चाहिये, जल से नहीं। क्यों? पूर्वकथन एवं उत्तर कथनं में विरोध होने के कारण स्नान के अप्रासंगिक होने के कारण भी। उपस्पृश्य यह निष्ठा है ॥१५॥

प्रश्न है– यदि उपस्पर्शन करने के बाद भी कलुष क्षीण न हो तो उसका निर्घातन क्या करना चाहिये?। उत्तर है– निष्ठा शब्द के साकांक्ष होने के कारण प्राणायाम करना चाहिये क्योंकि कहा है–

प्राणायाम करके[१] ।।१६।।

यहाँ प्राण का अर्थ है जो यह मुख और नासिका से वायु निकलता है वही प्राण है उसी का आयाम अर्थात् निग्रह या निरोध प्राणायाम है[२]। उस प्राणायाम को पुरुष की वृत्ति के रूप में देखना चाहिये। क्यों? प्राणायाम के ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नपूर्वक होने के कारण। एकोद्घात् अर्थावा-द्विरुद्घात [एक श्वास अथवा दो श्वास] उसी प्रकार बीस बार, चौबीस बार [अथवा २४ बार] भी करना चाहिये। यहाँ बार [मात्रा] से तात्पर्य है, अक्षिनिमेष का काल और वह यथाशक्ति, यथा बल, प्रयोग में लाया जाना चाहिये। इसलिये उपस्पर्शन करके पद्मक, स्वस्तिक, उपस्थाञ्जलिक, अर्धचन्द्रपीठक, दण्डायत, सर्वतोभद्र इत्यादि आसनों में किसी एक आसन में बद्ध होकर प्राङ्मुख, उत्तराभिमुख बैठकर इन अङ्गों को सम्पन्न कर ग्रीवा को उन्नमित [उन्नयन] करके पूरण अथवा रेचकपूर्वक तब तक करना चाहिये तब तक कि वायु निगृहीत न हो जाय तथा साधक ध्यानीभूत हो जाय। यहाँ ध्यानीभूत का अर्थ है जब हाथी के समान वायु से अन्तशरीर पूर्ण हो जाय। निगृहीतो [संयमन] का लक्षण है जब कूर्म के समान अन्तशरीर में उच्छ्वास एवं प्रतिच्छ्वास आने लगे तथा साधक स्वच्छेन्द्रिय हो जाय तब मानना चाहिये कि वायु निगृहीत हो गयी। इसके पश्चात् नासिका से वायु को इस प्रकार धीरे-धीरे छोड़ना चाहिये जिससे नासापुट के पास स्थित कमल का पत्र भी कंम्पित न हो। यहाँ स्वास्थ्य [प्रश्नाक्राति] प्रभावित होने पर क्रमशः न्यूनाधिवाय करना चाहिये। अन्तर्भाव हो जाने पर आभ्यन्तर में वायु का भावन करना चाहिये। अन् धातु का अर्थ है प्राणम्। [श्वास लेना] आड् का अर्थ है आसनबन्ध के कारण पूर्णरूपेण निगृहीत कलुषक्षेपण विसर्गादि की मर्यादा। यम धातु बन्धन अर्थ में है इसलिये अर्थ हुआ बांधना चाहिये। डूकृम धातु को करण अर्थ [साधन] में और त्वा को कर्म-निष्ठा अर्थ में विच्छेद के समान देखना चाहिये ।।१६।।

---

१. द्रष्टव्य– "तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः।" साधनपाद ४९

२. द्रष्टव्य– रुद्राष्टाध्यायी ५ अ० १० उद्धृत तै० आ० से "ॐ" सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।

प्रश्न है– यदि प्राणायाम के करने पर भी कलुष क्षीण न हो तो इससे क्या करना चाहिये?। उत्तर है– जप करना चाहिये। क्योंकि कहा है–

रौद्री अथवा बहुरूपी गायत्री का जप करे ॥१७॥

यहाँ त्वा शब्द के सामर्थ्य से प्रतीत होता है कि प्राण संयमन के साथ जप भी करना चाहिये उपस्पर्शन के समान, इसलिये यहाँ रौद्री का अर्थ है तत्पुरुष सम्बन्धिनी। रौद्री क्यों? रुद्र का उपस्थापक होने के कारण रौद्री अथवा रुद्र का इसमें चिन्तन होता है अथवा रुद्र का प्रापक होने के कारण रौद्री कहते हैं। प्रश्न है सद्योजात इत्यादि अनेक प्रकार की रौद्री होती है उसमें कौन रौद्री? उत्तर है गायत्री। यहाँ जो रौद्री है वही गायत्री है, गायत्री कैसी-गीता अर्थात् गान करने वाले की रक्षा करने वाली। अथवा गायत्री छन्द में विद्यमान होने से गायत्री। यहाँ रौद्री शब्द के ग्रहण से वैदिकी इत्यादि गायत्री का प्रतिषेध होता है। किन्तु यहाँ गायत्री शब्द के ग्रहण से सद्य:जात इत्यादि का प्रतिषेध है। गायत्री को यह कर्म है, बहुरूपी का अर्थ है अघोरा। बहुरूपी कैसी? बहुरूप के उक्त परिग्रहों के प्रकारों में विद्यमान होने से बहुरूपी। अथवा बहुरूप इसमें चिन्तित होता है अथवा बहुरूप का प्रापक होने के कारण बहुरूपी। बहुरूपी को यह कर्म है। वा का अर्थ विकल्प है। दोनों की ब्रह्मता है, दोनों तुल्य अर्थ की साधक है तथा दोंनों ही महेश्वर परिगृहीत हैं अत: एक को अथवा अनेक को उपस्पर्शन करके जपे। यह मानसी क्रिया है। प्रश्न है– अस्पर्शन प्राणायाम एवं जप से अधिकृत कर्म की क्या कार्य निष्पत्ति है। उत्तर है-अकलुषता। जैसा कि कहा है–

अकलुषमति वाले का ॥१८॥

यहाँ जिसकी मति अकलुष है वह यह अकलुष मति बहुव्रीहि समास है, यहाँ अकार अकलुष के प्रतिषेध के अर्थ में है। भाव कालुष्य ही यहाँ कालुष्य है। कैसे प्रतीत होता है? प्राक्सिद्ध होने के कारण। यहाँ पहले ही कहा है न अवेक्षण करे, न अभिभाषण करे [अ० १, सू० १२ एवं १३]। ऐसा कहने पर अर्थत: प्रतीत होता है कि अवेक्षण एवं अभिभाषण करने पर द्वेष इच्छा एवं क्रोध उत्पन्न होते हैं। ये उत्पन्न होकर इन दोनों को अभिव्यक्त करते हैं-काले-तिल इत्यादि के दर्शन के समान। अभिव्यक्त होने पर यह कहा जाता है मैं कलुषित हूँ, मैं व्याहत हूँ, मैं मलिनीकृत हूँ। अत: मूत्र, पुरीष, स्त्री, शूद्र इत्यादि का द्वेष, इच्छा और क्रोध के निमित्त होने के कारण प्रतिषेध किया गया है। जब ये द्वेष

इत्यादि भाव बीज के क्षय हो जाने पर उत्पन्न नहीं होते तब परमभाव शौच समझना चाहिए कलुष मति का। कलुष नैमित्तिक है, निमित्त के अनित्य होने के कारण नैमित्तिक नित्य नहीं होता है, बीज के क्षय हो जाने पर अंकुर के समान। जहाँ कलुष उत्पन्न हो वहीं उपस्पर्शन इत्यादि करना चाहिये ऐसा नहीं है अपितु आयतन में करना चाहिये यदि उत्पन्न कलुष प्रध्वस्त हो जाय तो एतदर्थ नहीं करना चाहिये किन्तु जब शिरोरोगादि कें समान वह अवस्थित रहे तब करना चाहिये। यहाँ मत का अर्थ है बुद्धि। यहाँ की करण के व्यवदेश से आत्मशौच की व्याख्या की जा रही है यह अर्थ है। प्रश्न है–अकलुष मति साधक को क्या करना चाहिये?। उत्तर है–विचरण करना चाहिये। जैसा कि कहा है-

विचरण करने वाले का ॥ १९॥

यहाँ विचरण करने वाले का ऐसा कहने से धर्मार्जन अधिकृत होता है। भैक्ष्य चरण के समान तपश्चरण करना चाहिये, विहार करना चाहिये, तपस्या का अर्जन करना चाहिये अर्थात् एक जगह नहीं रुकना चाहिये। 'विचरण' करने वाले का इसमें वर्तमान काल है ।।१९।।

प्रश्न है– अकलुषमति होकर विचरण करने वाले इस साधक की क्या कार्य निष्पत्ति है?। उत्तर है-

इसके पश्चात् इसका योग प्रवृत्त होता है ।।२०।।

यहाँ इसके पश्चात् इसका प्रयोग चर्या के अपदेश के अर्थ में हुआ है अर्थात् इसके पश्चात् चर्याभिनिवेश के अनन्तर उससे उत्पन्न होने वाले धर्म से यह अर्थ है–इसका यह साधक के अपदेश के अर्थ में है जो यह–अकलुषमति विचरण करता है उसका यह अर्थ है प्रश्न है क्या होता है? उत्तर है–योग प्रवृत्त होता है। अर्थात् विचरण करने वाले का अध्ययन ध्यानादि स्वरूप क्रियायोग प्रवृत्त होता है यह अर्थ है। यहाँ आत्मा एवं ईश्वर के संयोग को योग समझना चाहिये। प्र उपसर्ग आदि कर्म के अर्थ में अर्थात् आरम्भ के अर्थ में होता है। जब अकलुषमति होकर विचरण करता है तब प्रवृत्त होता है ऐसा अर्थ होने से यहाँ किससे प्रवृत्त होता है विषयों से। प्रत्याहृत चित्त का [व्यक्ति का] जो प्रकृत होता है वही योग है। कैसे प्रवृत्त होता है? क्रमशः। किस साधन से प्रवृत्त होता है?-तपस्या रूपी साधन से। किसका प्रवृत्त होता है?-आत्मसाधक का। किसमें प्रवृत्त

होता है?। जो आत्मा में आत्मभाव रहता है वह महेश्वर में प्रवृत्त हो जाता है ऐसा अर्थ है।

इस प्रकार चूंकि द्रव्यावस्थान, काल, देश, क्रिया,-प्रयोग, उच्चावच प्रयोजन, यम-नियम वृत्ति, वसति अर्थ प्राणायाम प्रत्याहार निमित्त प्रतिषेध, संशय, निर्धातन, शौच, नियोग एवं फलोपाय व्याख्यात हुये इसलिये यहाँ आयतन प्रकरणं समाप्त हुआ।

प्रश्न है तन्त्र का क्या प्रयोजन है? उत्तर है, नहीं। ''योगनिष्ठता''। क्योंकि कहा है-उत्तर के युक्त होने तथा पदार्थ के वैलक्ष्य होने पर भी रंग, पताका इत्यादि के समान शिष्यों के प्रलोभन हेतु इसका आरम्भ किया जाता है-

दूरदर्शन श्रवण मनन विज्ञान इत्यादि इसके प्रवृत्त होते हैं ॥२१॥

यहाँ दूर का अर्थ है जो यह दर्शन इत्यादि विकरण पर्यन्त माह्रेश्वर ऐश्वर्य है इससे कदाचित् प्राप्त होते हैं। उसके एवं उसकी प्राप्ति में भी [साधनभूत]। दर्शन इत्यादि में आधिकारिक दूर शब्द को यहाँ समझना चाहिये। दूरदर्शन की प्राप्ति योग में प्रवृत्ति के कारणं होती है। प्रश्न है। यदि ऐसा है तो दर्शन इत्यादि को सूत्र से क्यों नहीं कहते? उत्तर है कहता हूँ [दर्शनम्] इसमें स्त्री सम्बन्धी दर्शन का चिन्तन नहीं होता है। अपितु द्रष्टा दर्शन एवं दृश्य के रूप में। यहाँ द्रष्टा का अर्थ है सिद्ध। दर्शन इसका सिद्धि [रूप] ज्ञान है, द्रष्टव्य रूप होते हैं इसलिये समग्र विषयों में संक्षेप या विस्तार रूप से विशेषतः दर्शन प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार श्रवण में भी स्त्री विषयक चिन्तन नहीं होता अपितु श्रोता, श्रवण एवं शब्द का चिन्तन होता है। श्रोता सिद्ध होता है श्रवण इसका सिद्धि ज्ञान है, श्रव्य, शब्द होते हैं।

अतः इस सिद्ध के श्राव्य अर्थों के विषय में संक्षेप या विस्तार में विशेषतः श्रवण प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार मनन में भी स्त्री विषयक चिन्तन नहीं होता अपितु मन्ता, मनन, एवं मन्तव्य का चिन्तन होता है। यहाँ मन्ता सिद्ध है मनन इसका सिद्धि रूप ज्ञान है एवं मन्तव्य पर-चित्त है। देव, मनुष्य एवं तिर्यक योनियों का तथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष स्वरूप चित्तों का वह मन्ता होता है [तथा विज्ञान में भी स्त्री का चिन्तन नहीं होता अपितु विज्ञाता, विज्ञेय एवं विज्ञानं को चिन्तन होता है। यहाँ विज्ञाता सिद्ध है विज्ञान इसका सिद्धिरूप ज्ञान है विज्ञेय

वृत्तियां हैं। इस सिद्ध के प्रवृत्त होते हैं अर्थात् स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं यह अर्थ है। इसको ज्ञान होता है अथवा नहीं होता है क्यों कहा है–

सर्वज्ञता ।।२२।।

यहाँ उक्त दृश्य श्रव्य इत्यादि में तथा अशेष सिद्ध ईश्वर, पशु इत्यादि के विषय में निर्विशेष वाची [समान] सर्वशब्द द्रष्टव्य है। ज्ञता इसमें भी स्त्री विषयक चिन्तन नहीं होता है अपितु ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञाय का चिन्तन होता है। यहाँ ज्ञाता सिद्ध है, ज्ञान इसका सिद्धिरूप ज्ञान है तथा ज्ञाय कार्य कारण एवं सिद्ध है अतः एक ही ज्ञान-सूक्ति अपरिमित ज्ञेयों [ज्ञेय पदार्थो] के माध्यम से एक ही के द्वारा अनेक रूप में उपचरित होती है जिस प्रकार स्फटिक पर प्रतिबिम्बित आदित्य सर्वतः प्रवृत्त होता है उसी प्रकार यह साधक भी सर्वतः प्रवृत्त होता है यह अर्थ है ।।२२।।

प्रश्न है– क्या यह सिद्ध पशु के समान ज्ञान मात्र से सन्तुष्ट होता है अथवा इसमें क्रियाशक्ति भी है कि नहीं?। उत्तर है–है, क्योंकि कहा है–

मनोजवित्व ।।२३।।

यहाँ आगन्तुक होने के कारण सर्वज्ञान शक्ति कही गयी है न कि ऋषित्व एवं विप्रत्व के समान [अ॰ ५, सू॰ २७]यह अर्थ है [क्यों?] यहाँ मनोजव के समान ऐसा प्राप्त होता है किन्तु उपमान के समान होने के कारण मनोजवित्वम् ऐसा कहा। मनोजव के सामन प्रश्न है इस सूत्र का क्या अर्थ है? उत्तर है जिस प्रकार मन में गतिशीलता होती है–आशुकारिता होती है उसी प्रकार इस सिद्ध के कर्तृत्व में शीघ्रता होती है न कि इस सिद्ध की प्रजापति के सामन तप के कारण होने से भावोत्तरा प्रवृत्ति होती है किन्तु भाव के बलीय होने के कारण प्रवृत्ति उत्पन्न स्वभाव होती है। 'करता हूँ' ऐसा कहने पर कृत [सम्पादित] हो जाता है। 'विनाश करता हूँ' ऐसा कहने पर विनष्ट हो जाता है। कैसे? दृक् एवं क्रिया दोनों का प्रतिघात होने के कारण। त्व यह भाव निर्देश होने के कारण इसकी शक्ति एवं सामर्थ्य दोनों अवगत होते हैं। ऐश्वर्य इस प्रकार का है। यह अर्थ है।

प्रश्न है– इस सिद्ध का कर्तव्य क्या है करण अर्थात् साधन क्या है? तथा किससे करता है? उत्तर है–

कामरूपित्व ॥२४॥

कामरूपी, यहाँ भी स्त्री विषयक चिन्तन नहीं होता अपितु कामी, काम एवं काम्य का चिन्तन होता है। यहाँ कामी सिद्ध है काम इसकी इच्छा है, तथा काम्य रूप है, कैसे? कमु धातु इच्छा अर्थ में होती है व्यक्ति जितने रूपां की एवं जिस प्रकार के रूपो की इच्छा करता है उतने एवं उस प्रकार के कार्य करता है। इसके आत्मायत्त हो जाते हैं। रूप के साधन पृथ्वी इत्यादि। करणों के विभु होने के कारण जहाँ-२ रूपों का अभिनिर्वतन करता है [सम्पर्क] वहाँ वहाँ इसके बुद्धि इत्यादि करणों को वृत्तिलाभ होता है-चक्षुरादि के समान दृष्टान्त से। अधिष्ठाता नहीं होता है यदि ऐसा कहें तो नहीं कह सकते, क्योंकि कहा है ''रूपी इति''। यहाँ रूपों में अधिष्ठित रहे वह रूपी है दण्डी के समान। रूपी, इस कथन से सभी रूपों का एक साथ वह अधिष्ठाता होता है। बिभु होने के कारण वह महेश्वर से अभिन्न होता है। यह रुद्रसायुज्य [अ० ५, सू० ३३] के निर्देश से भी प्रतीत होता है त्व [इस भावनिर्देश से प्रतीत होता है] इससे इसके शक्ति एवं सामर्थ्य का ज्ञान होता है। इस प्रकार इसका ऐश्वर्य है– यह अर्थ है ॥२४॥

प्रश्न है-परिमिति कृत्यों में अशक्ति दिखाने के कारण सन्देह है?। यह सिद्ध क्या अपने द्वारा कृत रूपों के संहार में सक्त होता है। अथवा विश्वामित्र इत्यादि के समान असक्त? कहता हूँ क्योंकि कहा है-

विकरण ॥२५॥

यहाँ वि शब्द का अर्थ है विनाश अथवा विनाकरण। [अर्थ हुआ साधक] विनाकरण होता है। जिस प्रकार विशिरथ तथा विरथ में होता है। करण के प्रतिषेध से कार्य का प्रतिषेध अपने आप हो जाता है। कैसे? क्योंकि करण विशिष्ट ग्राहक एवं सूक्ष्म होते हैं इसलिये विकरण यह कैवल्य है ॥२५॥

प्रश्न है– यहाँ सांख्य-योग इत्यादि के साथ ऐश्वर्य के द्वारा कार्यकरण का त्याग करके कैवल्य की निष्ठा अविशिष्ट है। इस शास्त्र में भी ऐसा ही है इसलिये तन्त्र सांख्य-योगादि से कैसे भिन्न है?। यदि आप कहे कि मति के निरतिशय [असीम] हो जाने पर मोक्ष में विषमता नहीं है तथापि अतिदान इत्यादि के द्वारा साध्य-साधन की निष्ठा से भेद होता है। इसीलिये यहाँ अविशिष्टता नहीं है। जैसा कि कहा है-

धर्मित्वमी ॥२६॥

यहाँ गुण धर्म से यह धर्मी होता है जो यह दर्शन इत्यादि से विकरण पर्यन्त इसका माहेश्वर ऐश्वर्य ईश के प्रसाद से स्वगुण से सम्पन्न होता है इसलिये यह गुण धर्म के कारण धर्मी होता है-कैसे ''त्व'' इस भाव निर्देश से प्रतीत होता है। वित्त कार्य एवं करण का भी वह ज्ञाता एवं कर्ता होता है अतः कैवल्य इत्यादि सर्व निष्ठरूप से विशेषित होते हैं। च शब्द का अर्थ है ज्ञान एवं क्रिया शक्ति का समारोपण। इस प्रकार इस सिद्ध का कामरूपी तथा विकरण वचन के कारण स्वकृत रूपों में इसकी प्रभुता, विभुता एवं गुणधर्मिता की व्याख्या हुई। इस युक्तोत्तर के पश्चात् गुरु प्रसाद से गुण प्रवृत्त होते हैं ॥२६॥

यहाँ यह आधिकारिक ऐश्वर्य प्रकरण समाप्त हुआ॥

प्रश्न है–क्या दूसरे देव, मनुष्य, तिर्यक योनि रूप अन्य व्यक्तियों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर भी इस सिद्ध का प्रभुत्व या विभुत्व होता है या नहीं?। उत्तर है-होता है। क्योंकि कहा है-

और सभी इसके वश में हो जाते हैं ॥२७॥

यहाँ सभी का अर्थ है विश्व शेष पशुधर्मा। और [च] का अर्थ है स्वकृत एवं परकृत कार्यों का समुच्चय अन्य देवता इत्यादि के रूपों पर भी इसका प्रभुत्व या विभुत्व है, इसके [अस्य] सिद्ध का यह अर्थ है। वश में [वश्याः] का अर्थ है विधेय। वशवर्ती हो जाते हैं यह अर्थ है– होते हैं [भवन्ति] यहाँ निःसन्देह भूतार्थवाद है।

प्रश्न है–क्या यह सिद्ध उनके वश में होता है अथवा नहीं?।

उत्तर है–नहीं जैसा कि कहा है–

और सभी के अवश हो जाता है ॥ २८॥

यहाँ भी सर्व शब्द पशुओं के विषय में ही है सबके यह न्यून परिग्रह के अर्थ में है और [च] शब्द अभ्यधिकता के अर्थ में है। अभ्यधिक, उत्कृष्ट और व्यतिरिक्त होता है यह अर्थ है। अवश यहाँ अकार भूतपूर्व वश्यत्व का प्रतिषेध करता है। होता है, यह निःसन्देह भूतार्थवाद है। जब सिद्ध गुणों से युक्त हो जाता है एवं ऐश्वर्य के प्राप्त कर लेता है तब सबके सामर्थ्य के अवश हो जाता है ॥२८॥

प्रश्न है–क्या अपनी शक्ति से अध्याक्रान्त होकर वश्य होते हैं अथवा गुरुशिष्य के समान धर्म की मर्यादा की रक्षा करते हैं?। उत्तर है–गुरु से समर्थ शिष्य अध्याक्रान्त नहीं होता। जैसा कि कहा है–

सबको आविष्ट [वश में] कर लेता है ॥२९॥

यहाँ भी सर्व शब्द पशुओं के विषय में ही निराशेष वाची देखना चाहिये। च शब्द [और] पूर्वोक्त समुच्चय में है। केवल इसके ही वे वश में नहीं होते अपितु इससे आविष्ट हो जाते हैं। यहाँ का 'आङ्:' यह आवेशन मर्यादा को अधिकृत करता है। विश धातु प्रवेश अर्थ में है। वह अर्थात् सिद्ध उसके [साधक के] ज्ञान एवं क्रिया के विभुत्व के विषय में भी शक्ति के संयोग से आवेश करके प्रत्यय [गान] लोप करने में समर्थ होता है यह अर्थ है ॥२९॥

प्रश्न है– क्या यह सिद्ध कभी उनके द्वारा आविष्ट होता है? अथवा नहीं? उत्तर है–नहीं। जैसा कि कहा है–

सबके लिये अनावेश्य होता है ॥३०॥

यहाँ भी सर्व शब्द पशुओं के विषय में ही है। सबके यह न्यून परिग्रह अर्थ में है। च शब्द अभ्यधिकत्व अर्थ में है। अभ्यधिक उत्कृष्ट–व्यतिरिक्त होता है यह अर्थ होता है। अनावेश्य यहाँ अकार भूतपूर्व आवेश्यत्व का प्रतिषेध करता है वह अनावेश्य धर्मा हो जाता है। व्याधिशेष के समान अवस्थान नहीं होता। होता है निःसन्देह भूतार्थवाद है ॥३०॥

प्रश्न है–कि क्या यह [सिद्ध] यक्ष, राक्षस, एवं पिशाचादियों के समान आवेशनमात्र से समर्थ होता है अथवा प्राणवियोग एवं यातना संयोग करने में भी समर्थ होता है। उत्तर है–समर्थ होता है। जैसा कि कहा है–

सभी इसके लिये बध्य हो जाते हैं ॥३१॥

यहाँ भी सर्व शब्द को पशुओं के विषय में निरवशेष वाची अर्थ में देखना चाहिये और शब्द समुच्चय के अर्थ में है। वे उसके न केवल वश्य एवं आवेश्य होते हैं अपितु बध्य भी होते हैं। अस्य यह सिद्धों के अपदेश में है। बध्य में वध् धातु प्राणवियोग एवं यातना अर्थ में है। प्राणों से वियोग एवं यातनाओं से

संयोग करने में समर्थ होता है यह अर्थ है। होता है यहाँ निःसंदेह भूतार्थवाद है। जब सिद्ध गुणों से युक्त हो जाता है, ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है तब वे सभी इसके बध्य हो जाते हैं यह अर्थ है-

प्रश्न है–क्या यह सिद्ध उनके लिये कभी बध्य होता है अथवा नहीं?। उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है-

सबके लिये अबध्य हो जाता है ॥३२॥

यहाँ भी सर्व शब्द पशुओं के विषय में है। सबके यह न्यून परिग्रह अर्थ में है और शब्द अभ्यधिकत्व अर्थ में है। अभ्यधिक उत्कृष्ट व्यतिरिक्त होता है, यह अर्थ है। अबध्य में अकार भूतपूर्व बध्यत्व का प्रतिषेध करता है जब सिद्ध गुणों से युक्त हो जाता है एवं ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है तब सबके लिये अबध्य हो जाता है– यह अर्थ है। इस प्रकार अत्यकृत देवादि शरीर रूपों में विभुत्व एवं प्रभुत्व व्याख्यात हुये ॥३२॥

यहाँ यह षट्सूत्री प्रकरण परिसमाप्त हुआ॥

प्रश्न है–क्या इस सिद्ध का यह ऐश्वर्य नित्य है?। अथवा पार्थिव जल सम्बन्धी, तैजस, वायु सम्बन्धी, आकाश, मनस आहंकारिक महत् आदि आत्मा आदि के सदृश अनित्य है? कहा जाता है-नित्य है। क्योंकि कहा है-

अभीतः [निर्भीक होता है] ॥ ३३॥

यहाँ अक्षय आदि [अ० १, सू० ३४] वचन विरोध के कारण अभीत चरित अर्थात् अध्ययन करके विचरण करता है इस पाठ की अनुपपत्ति होती है। इसलिये जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान काल का भय नहीं विद्यमान है इस कारण से अभीत कहा।

प्रश्न है–कि अभीत होते हुए भी ब्रह्म आदि के प्रलय काल में क्षय सुना जाता है इसलिये अभीत होने के कारण नित्य नहीं होता है अथवा अभीत का क्या लक्षण है? तो यहाँ कहा जाता है-

अक्षयः ॥३४॥

यहाँ अकार क्षय के प्रतिषेध में है। यहाँ क्षय का अर्थ है पुरुष के नित्य

होने पर भी इस ब्राह्मण का उन ऐश्वर्यों से पूर्व की अपेक्षा अपकर्ष है। अहंकार से सम्बद्ध महत् आदि तत्वों से अनित्य सम्बद्ध, यह तो इस नित्य माहेश्वर ऐश्वर्य से सम्बद्ध होने के कारण पुरुष अक्षय है, ऐसा उपचरित होता है। राजकोष के सदृश, कुडुम्बि द्रव्य के सदृश [गड़े हुये धन के समान]।

प्रश्न है– ईश्वर-ययाति आदि का भी जरा से अविभव होने के कारण क्या यह जीर्ण होता है अथवा नहीं? अथवा अक्षय का क्या लक्षण है?। तो कहा है–

अजरः ॥ ३५॥

यहाँ अकार वृद्धत्व का निषेध करता है। यहाँ वृद्धत्व जरा का अर्थ है। श्वेत बाल, स्खलित आदि कार्य हैं तथा इन्द्रियों की दर्शन एवं क्रिया शक्ति की हानि। कैसे? क्योंकि उसके फल के भोक्ता होने के कारण यह जीर्ण होता है। ऐसा उपचरित होता है। इस समय तो कामित्व के और विकरण धर्मित्व होने [अ० १, सू० २४-२६] के कारण [जरा नहीं है] अतएव अजर कहा जाता है।

प्रश्न है–अजर, देवादियों की संहार के पूर्व या पश्चात् मृत्यु देखी गयी है तो क्या इसकी मृत्यु होती है अथवा नहीं?। अथवा अजर का क्या लक्षण है? तो कहता हूँ–

अमरः ॥ ३६॥

यहाँ अकार मृत्यु के निषेध में है क्योंकि मृङ्ः धातु प्राण त्यागने के अर्थ में है [और मृङ्ः धातु से ही मर बनता है] यहाँ प्राण आदि की वृत्ति का निरोध मृत्यु कही जाती है क्योंकि उसके पल के भोक्ता होने के कारण, होने से, वह इसके कामी होने तथा विकरण धर्मी होने [अ० १, सू० २४-२६] के कारण [मरणशील] नहीं है इसलिये अमर कहा जाता है।

इस कारण अभीत अक्षय आदि वचन से ऐश्वर्य नित्य है [यह] सिद्ध होता है ॥३६॥ कहा है–

और सर्वत्र अप्रतिहत गति हो जाता है ॥३७॥

सर्वत्र अभिप्रेत पदार्थों में वर्तमान साधक का महेश्वर से भी अप्रतिबन्ध धर्मिता तथा अप्रतिघात [दूरी का अभाव] रहता है ॥३७॥

इस प्रकार इन गुणों से युक्त भगवान महादेव का महागणपति हो जाता है ॥३८॥

इन पूर्वोक्त अवश्यता, अनावेश्यता, अवध्यता, अभीतता अक्षयता, अजरता, अमरता, अप्रतिपातता, इत्यादि आठ सिद्धि स्वरूप गुणों से युक्त साधक भगवान महादेव का महागणपति हो जाता है। सभी पशुओं से अभ्यधिकता और ऐश्वर्य का अतिशय होने के कारण महत्व [महा] हो जाता है। गण, नन्दि महाकाल आदि हैं। सम्पूर्ण पशुओं आदि के कार्य का स्वामित्व ही पतित्व है ॥३८॥

इस अध्याय की परिसमाप्ति करके कहना युक्तियुक्त है-

यहाँ इस ब्रह्म का जप करें ॥३९॥

उन ब्रह्म से वह स्वयं बृहत् होता है। जप करे, यह मानस क्रिया है अर्थात् जप्य का प्रत्यवगमन [बार-बार चिन्तन] करना चाहिये। कहा है-"आप यज्ञों की अपेक्षा जप यज्ञ [१०] दसगुण विशिष्ट होता है। उपांशु [भुनःभुना करके पाठ करना] सौ गुणा अधिक होता है तथा मानस सहस्त्रगुण विशिष्ट होता है।" इसलिये मन से ही जप करना चाहिये। किसलिये? तो उत्तर है-अधर्म का विनाश, धर्म की अभिवृद्धि, अशुभों से व्यावर्तन एवं बह्म में अनवरत पद पंक्ति में उपनिवनार्थ मानस जप करना चाहिये। प्रश्न है-वह बह्म क्या है? उत्तर है-सद्योजात, अथवा यहाँ ब्रह्म एवं अध्याय का दूरस्थ सम्बन्ध। क्यों? पशुपति से, ऐसा कहने पर सन्देह है। क्या? नरपति, सुरपति, प्रजापति इत्यादि के समान इसका ऐश्वर्य अनित्य एवं आगन्तुक है और क्या इसका जन्म अथवा मृत्यु है या नहीं? उत्तर है- नहीं। क्योंकि कहा है-

सद्यः अजात् के प्रति प्रपन्न होता हूँ ॥४०॥

यहाँ सद्य, इस पद में दो अर्थ विचार के विषय बनते हैं। विद्यमान एवं आद्य, प्राप्ति एवं पालन के समान। यहाँ सत् का अर्थ है नित्य क्यों? विनाश के हेतु के अभाव के कारण, पति का पतित्व नित्य, ध्रुव एवं अविनाशी है अन्य का नहीं। इसलिये कहा जाता है सत्। प्रश्न है- क्या यह आदिमान होने पर भी नित्य है, मोक्ष के समान? उत्तर है-नहीं। क्योंकि कहा है आद्य। उससे पृथक पति का पतित्व हेतु के असम्भव होने के कारण आद्य एवं आगन्तुक है। अन्य का नहीं, यह अर्थ है। प्रश्न है-क्या नित्य एवं अनादि होने पर पुरुष समान जन्म लेता है? उत्तर है- नहीं क्योंकि अजात् कहा गया है। यहाँ अकार जन्म-मृत्यु के प्रतिषेध

अर्थ में है। जन्म मृत्यु से रहित भगवान निरञ्जन होता है, क्यों? साञ्जन वृत्ति के अलाभ के कारण। अन्य में निरभिमानिता नहीं आ सकती-इसलिये अजात यह कर्म है। प्रश्न है- इस सत्व, आद्यत्व एवं अजातत्व गुण को कारण के रूप में जानकर साधक को क्या करना चाहिये?। उत्तर है-प्रपत्ति करनी चाहिये। क्योंकि कहा है-

प्रपन्न होता हूँ। यह साधक का उपदेश है। जैसा, ''हे व्रत के प्रति अग्नि व्रत करता हूँ'' ऐसा कहा गया है। यहाँ प्र शब्द अन्य कारणों के विषय में सत्व, आद्यत्व तथा अजातत्व के प्रतिषेध के लिये एवम् अधिकता के लिये भी है, इसलिये सम्पूर्ण भावों के साथ अनासक्त होकर उस कारण रूप महादेव की प्रपत्ति करनी चाहिये। अर्थात् शरण में जाना चाहिये, यह अर्थ है ।।४०।।

प्रश्न है-प्रपन्न होकर क्या करेगा? अथवा क्या देगा? उत्तर है-पूजा करेगा एवं अपने को दे देगा। जैसा कि कहा है-

सद्य अजात के लिये प्रणाम है[१] ।।४१।।

प्रश्न है- सत्व, आद्यत्व, अजातत्व पूर्वोक्त है। सद्योऽजात में चतुर्थी है वही शब्द सम्भावना अर्थ में है। सत्व, आद्यत्व एवं अजातत्व धर्मों की सम्भावना करके कहा है-सद्यो जाताय वै नमः। नमः यह आत्मदान तथा पूजा अर्थ में है। नमस्कार से अपने को प्रदान करता है तथा पूजा करता है यह अर्थ है ।।४१।।

प्रश्न है- किस उद्देश्य से स्वयं को महेश्वर को प्रदान कर देता है। अथवा इसका दुःख क्या है? और यह महेश्वर से क्या चाहता है अथवा स्वयं उत्पादित अनुगृहीत तथा तिरोभावित पशुओं का वह पति है अथवा दूसरों के द्वारा? उत्तर है-स्वयं। क्योंकि कहा है-

भव भव में अतिभव नहीं[२] ।।४२।।

यहाँ भवे भवे इसमें वीप्सा [द्विरुक्ति] है। भव ऐसा कहने से विद्या, कला

१. रुद्राष्टाध्यायी, अ० १०.५
''भवे भवे नाति भवे .... ।।५।।

२. रुद्राष्टाध्यायी अ० १०.५
भवोद्भवाय नमः ।।५।।

एवम् पशुओं का समस्त ग्रहण होता हैं। भव क्यों भवन् कृत एवं भावन् कृत होने के कारण, क्योंकि ईश्वर उन सभी को देव मनुष्य एवं तिर्यक [पक्षी] के रूप में भावित करता है [उत्पन्न करता है]। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य का भव भावन होने के कारण भव कहते हैं और उसकी उत्पत्ति, अनुग्रह एवं तिरोभाव आदि बार बार देखकर भी भव कहते हैं। वीप्सा का अर्थ है प्रत्येक उत्पत्ति, प्रत्येक उत्पत्ति में, प्रत्येक अनुग्रह में, प्रत्येक तिरोभाव में। नाति भव में न कार कार्यत्व का प्रतिषेध करता है अर्थात् अतिशयीत भवों में मैं न होऊँ यह अर्थ है ।।४२।।

प्रश्न है– क्या भव से एकमात्र वियोग की इच्छा करता है? उत्तर है–नहीं। क्योंकि कहा है–

मुझे भजो ।। ४३।।

यहाँ भज् धातु अनुग्रह अर्थ में है, स्व प्रत्यय कारण के उपदेश में है। मुझे यह अपने अपदेश में है अर्थात् मुझे भजो, मेरी रक्षा करो, मुझे अनुग्रहीत करो यह अर्थ है।

प्रश्न है– किसको आमन्त्रित करता है? किसके प्रति प्रपन्न होता है? किसके लिये नमस्कार करता है? कौन उस पुरुष को भव से मोक्ष देता है और किससे कहता है कि मुझे भजो? उत्तर है– जैसा कि कहा है–

भवोद्भव[१] ।।४४।।

यहाँ भव से विद्या, कला, पशुओं का ही ग्रहण होता है। भगवान् चूंकि उसकी उत्पत्ति का कर्ता होता है अतः भवोद्भव ऐसा कहा है। यहाँ कारण उत्पादक, अनुग्राहक एवम् तिरो भावक धर्मी है तथा कार्य उत्पाद्य, अनुग्राह्य एवं तिरोभाव्य धर्मी है। यह कार्य एवं कारण का लक्षण है। इस कारण में प्रपत्ति इत्यादि क्रमोपयोगी रूप में द्रष्टव्य है ।।४४।।

इस प्रकार यहाँ भगवान् कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थ भाष्य में प्रथम अध्याय ब्रह्म के साथ ग्रन्थ एवं अर्थ दोनों ही दृष्टि से परिसमाप्त हुआ।।

---

१. रुद्राष्टाध्यायी अ० १०/५
भवोद्भवाय नमः ।।५।।

द्वितीय अध्याय

अब अवसर प्राप्त द्वितीय अध्याय को कार्य-कारण रूप से सम्बद्ध करके कहूँगा।

प्रश्न है– यदि ऐसा है तो कहिये कौन सम्बन्ध है? उत्तर है– जैसा कि पहले कहा गया है भवोद्भव।

श्रेष्ठ [वाम] ॥ १॥[१]

नामों में श्रेष्ठ, यह अर्थ है क्योंकि कहा गया है–वाम ''पुरुष हवज, श्रृंग, हबि, भूषण, लक्ष्म [चिन्ह] श्रेष्ठ एवं अवक्र इन नव अर्थों में प्रयुक्त होता है'' इति ।।१।।

प्रश्न है–इसकी प्रवृत्ति का क्या निमित्त है अथवा क्या प्रयोजन है?। उत्तर है–

देव का [देवस्य] ।।२।।[२]

यहाँ देव शब्द दिवु धातु क्रीड़ा अर्थ में है। क्रीड़ाधर्मी होने के कारण उसका निमित्त क्रीड़ा है। वह भगवान क्रीड़ाशील होकर ही विद्या, कला, एवं पशु संज्ञक तीन प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करता हुआ उनको अनुगृहीत एवं तिरोभावित करता है अत: देव कहा गया है, प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोजन का फल है उत्पत्ति इत्यादि। देवस्य में तत्धर्मी होने के कारण षष्ठी विभक्ति है ।।२।।

प्रश्न है–क्या यहाँ कारण में अद्वैत का विस्तार होता है अथवा दो अर्थों का अथवा अन्य भी हैं या नहीं? उत्तर है– क्योंकि कहा है–

१-२ द्रष्टव्य– रुद्राष्टाध्यायी, अ० १०.६
'वामदेवाय नमो'।

ज्येष्ठ का[1] ॥३॥

यहाँ पर होने के कारण ज्येष्ठ का प्रयोग किया। किनका एवं किनसे पर उत्तर है– सिद्ध एवं साधक पशुओं का। सिद्ध एवं साधक भाव के तदायत्त होने के कारण तथा सम्पूर्ण पशुओं की प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं स्थिति आदि के फल के तदापत्त होने के कारण वह ज्येष्ठ एवं परतर है, परतम, भी हैं। इसका ऐश्वर्य अकृतक अर्थात् वास्तविक है। कहा है–

''इसकी शक्ति दिक्–क्रिया स्वरूप होने के कारण इसकी नित्यता तत्वंधर्मी है, चूंकि यह सर्वभूतों में श्रेष्ठ है, इसलिये इसे 'पर' कहा जाता है, इस प्रकार पर होने के कारण वह ज्येष्ठ है, यहाँ भी तरुधर्मी होने के कारण ज्येष्ठस्य इसमें षष्ठी विभक्ति है ॥३॥

प्रश्न है–क्या यही कारण के रूप में चिन्तनीय होता है अथवा तीन अर्थ अथवा अन्य भी हैं अथवा नहीं? उत्तर है– है।

रुद्रस्य[2] [रुद्र का] ॥४॥

। यहाँ रुत के अवज्ञा एवं संयोजन के कारण इसे रुद्र कहते हैं। यहाँ रूप [संज्ञा] एवं अभिलाप [रोना] दोनों एकार्थक है।[3] द्रावण का अर्थ है संयोजन। भय विविध प्रकार के हैं। कहा गया है–

''अनेक प्रकार के कार्यों से तथा विविध प्रकार के भयों से यह भूतों को संयाजित करता है इसलिये इसे रूद्र कहते हैं।''[4]

---

१. ''तत्रैव १०/६ ज्येष्ठाय नमः।
शत० [तै० स० काण्ड ४ अनु० ६] ''नमो ज्येष्ठाय''।

२. शतरुद्रीय एवम् रुद्राष्टाध्यायी में रुद्र और रुद्ररूपेभ्यः [अ० १०/८] में रुद्र के प्रति श्रद्धा भक्ति के भाव उपलब्ध होते हैं। शतरुद्रीय [तैत्तिरीय सं० चतुर्थ काण्ड अनुक्ष्वाक ५] ''नमो भवाय च रुद्राय च]

३. अथर्व०, ११/२/३, सायण भाष्य।

४. रुत् दुःख दुःखहेतुर्वा तस्य द्रावको देवः परमेश्वरः।
अथर्व, १/१९/३, सायण भाष्य।
निरुक्त दैवत काण्ड, १०/१/१-६
रुद्र कें अनेक अर्थ प्रस्तुत हैं जो इसी से मिलते-जुलते हैं।

यहाँ भी तत्धर्मी होने के कारण षष्ठी विभक्ति है। प्रश्न है? वह क्या है।? और उसका [रुद्रत्व] किस प्रकार का है?। उत्तर है–

कलितासन ॥५॥

यहाँ विद्या, कला और पशु संज्ञक तीन प्रकार के कार्यों से उसी में स्थिति, उत्पत्ति एवं प्रलयों को प्राप्त होने के फलस्वरूप कलित अर्थात् शोभितं शब्दितं, जिस प्रकार नभ तारामंडलों के द्वारा, यह अर्थ है। प्रश्न है– यह पति का पतित्व शक्ति, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, स्वगुण, सद्भाव, सतत्व तत्त्वधर्म यह सब आसन हैं न कि पद्मासन के समान उपवेशन स्वरूप यह अर्थ है आसन कैसा है? इसमें है, उसी को आसन कहते हैं, अथवा कार्य इससे अध्यस्त होता है, इसलिए आसन हैं कहा है। यह अर्थ है, इसलिये अव्यय [कभी भी व्यय न होने वाला] अमृत स्वरूप भगवान् अपनी इच्छा से अपनी शक्ति में अवस्थित कार्य को अपनी शक्ति से अध्यस्त करता है इसलिये कारण एवं कार्य आसन में अवस्थित रहते हैं।

प्रश्न है– कार्य एवं कारण का वृत्तिसङ्कर दोषागो, ऊर्जा, पक्षी एवं महिषी के क्षीर जैसा है क्या?। उत्तर है नहीं; अंगुली के अग्ररूप के समान है इसलिये सङ्कर नहीं है। दीप एवं आदित्य के प्रकाश को ले जाने वाली रश्मियों के समान है इसलिये सङ्कर नहीं है। प्रश्न है– सङ्कर में ईश्वर, पुरुष, विद्या एवं कलाओं का माक्षिक कोटिक द्रव्य के समान अपरिच्छेद का दोष है। उत्तर है-एक के उत्तरोत्कर्ष के कारण व्याप्य-व्यापक भावरूप में अवस्थित तत्वों का अपरिच्छेद दोष नहीं है। महेश्वर तत्व सूत्र रूप में होने के कारण व्यापक है तथा पुरुष इत्यादि पच्चीस तत्व व्याप्य हैं। पुरुषतत्व आत्मा होने के कारण व्यापक है तथा प्रधान इत्यादि चौबीस तत्व व्याप्य हैं। प्रधान व्यापक है तथा बुद्धि इत्यादि तेज तत्व व्याप्य हैं।

बुद्धि व्यापिका होती है तथा अहंकार इत्यादि बाईस तत्व व्याप्य होतें है। अहंकार व्यापक है तथा एकादश इन्द्रियां अथवा दशविध कार्य व्याप्य हैं। एकादश इन्द्रिय व्यापक हैं तथा शब्द इत्यादि पांच सूक्ष्म भूत व्याप्य हैं। शब्द इत्यादि ५

---

१. शतरुद्रीय [कृष्णयजुर्वेदीय तै० सं० का० ४/प्र० ५/ अनु० ८।
'मयो भावे च नमः शङ्कराय च।'
द्रष्टव्य सायण भाष्य।

सूक्ष्म भूत व्यापक हैं तथा आकाश इत्यादि पांच महाभूत व्याप्य हैं। आकाश व्यापक है तथा वायु इत्यादि चार भूत व्याप्त हैं। वायु व्यापक हैं तथा तेज इत्यादि तीन भूत व्याप्य हैं। जल व्यापक है तथा पृथ्वी व्याप्य हैं। पृथ्वी व्यापिका है तथा भूमि, जल, रस, रूप कार्य व्याप्य हैं। भूमि, जल, रस, रूप कारण व्यापक हैं तथा देव, मनुष्य, तिर्यक, योनि, तृण, औषधि, वृक्ष, गुल्म, लता, वनस्पति इत्यादि अनेक विधि कार्य व्याप्य हैं।

अतः अपरिच्छेद दोष नहीं है।

प्रश्न है–वृत्ति का सङ्कर ग्रहण न करनेपर दृष्टान्त के अभाव के कारण अयुक्त होगा। उत्तर है हरिद्रा एवं जल के समान व्याप्य एवं व्यापक दोनों हैं। वह जैसे हरिद्रा एवं जल में स्निग्धता एवं शैत्यत्शीतलता इत्यादि धर्मों के कारण जल का ग्रहण होता है तथा रंग, गन्ध, घनत्व, सारत्व इत्यादि से हरिद्रा का तथा अर्णव, देवादि, स्थान, शरीर, तथा इन्द्रियों के विषय इत्यादि के सन्निवेश से सुख एवं दुःख से सन्निपात से ईश्वर का, इसी प्रकार पुरुष का भी [ग्रहण होता है]। ईश्वर का भी अपरिणामी धर्मिता तथा सुख-दुख दरिद्रता के कारण प्रधान, धर्म एवम् अधर्म इत्यादि का ग्रहण होता है, इसी प्रकार प्रधान का मानस संकल्प आलोचन, संग्रह, पंक्ति, व्यूह, अवकाश, दान इत्यादि धर्मों से पृथ्वी आदि का ग्रहण होता है ऐसा प्रधानवादी मानते हैं।

प्रश्न है–इस तन्त्र में कार्य–कारण का अवस्थान किस प्रकार है? यह बताइये। उत्तर है– इस तन्त्र में जैसा कि कहा है-शर्व सबके द्वारा [अ० ३, सू०२५] इस वचन से यथासम्भव होता है। विभुता के होने पर कार्य एवं कारण का अपनी वृत्ति से सर्वगत होने पर भी अपनी वृत्ति का सङ्कर नहीं होता। इस कारण कार्य एवं कारण आसनस्थ हैं।

प्रश्न है– क्या उस आसन में स्थित कार्य, आसन में नित्य है अथवा अनित्य? उत्तर है– कार्य नित्य है। कैसे? [कार्य] पति का होता है। कारण रूपी ईश्वर के नित्य होने के कारण पति की नित्यता है। यहां सद्योजातादि [अ०?सू० ४०] वचन से पालक नित्य है। पालक के नित्य होने से पाल्य भी नित्य है। कैसे? पाल्य से नहीं होने पर पालक नहीं होता है। अतः नित्य होने पर उन्हीं पशु इत्यादि का संयोजन करता है। मृत्तिका भय का लोहभय प्राकर इत्यादि के समान इस दृष्टान्त के वृत्ति का लाभ उत्पत्ति कहा जाता है। स्थिति, स्थान, शरीर, ईश्वर

की प्रेरणा से अनुग्रह है तथा वृत्ति का लाप वियोजन है [अलग करना] है। लोप का अर्थ है अभाव, इसलिये तीनों ही कालों में कार्य को आसनस्थ देखना चाहिये, पृथ्वी में बीज के समान, यह अर्थ है। ।।५।।

प्रश्न है–क्या उस कार्य को भगवान एक साथ उत्पन्न करता है अथवा क्रमशः? और क्या वह कर्मापेक्षा है अथवा अनपेक्ष? उत्तर है– यथेष्ट, जैसा कि कहा है–

सर्वकामिक ऐसा कहते हैं ।। ६।।

यहाँ सर्व शब्द विद्या इत्यादि कार्यों के निरशेषवाची रूप में द्रष्टव्य हैं। कामिक यहाँ भी स्त्री विषयक चिन्तन नहीं होता। कामी, काम और काम्य का चिन्तन होता है। कामी ईश्वर है, काम ईश्वर की इच्छा है तथा विद्या इत्यादि कार्ग काम्य है। वह अक्रम से या क्रम से यथेष्ट का उत्पादन करता है। कैसे? कामी होने के कारण। इसीलिये ईश्वर की अकर्मापेक्षिता सिद्ध होती है। कर्म, कामी होने के कारण। इसीलिये ईश्वर कर्मापेक्ष है। इति शब्द अर्थों का निर्वचन होने के कारण प्रकरण परिसमाप्ति के लिये हैं।

प्रश्न है–कामित्व तत्वों में वैधर्म्य उत्पन्न करता है कार्यत्व को कारण अथवा परिणामिता के फलस्वरूप सम्भवतः स्वयं का बन्ध मोक्ष विपर्यय भी करे। उत्तर है– जैसा कि कहा है "आङ्ः इति। आङः इस उपसर्ग का अर्थ है। कार्यत्व, कारणत्व तथा मुक्त आत्माओं की मर्यादा। इसीलिये कहा जाता है उत्पाद्य, अनुग्राह्य [तिरोभाव्य] कल्पकत्व तथा अभावकत्व रूप से अपरिणामिता तथा मुक्त आत्माओं का पुनः दुःखों से असंयोजन। यही कारण की मर्यादा है। कार्य की मर्यादा स्थापित कीजिये। कहा जाता है उत्पाद्य, अनुग्राह्य, तिरोभाव्य, एवं अभिकल्प यह कार्य मर्यादा है। उससे भिन्न प्रेरणायोग्य तथा अधिष्ठेयत्व है। चक्षिन् धातु कथन अर्थ में है। कार्यों के द्वारा भगवान रुद्र से कथित भगवान महेश्वर की शक्ति सनातनी है। उस विद्या इत्यादि कार्य को कलित करने वाला यह अर्थ है ऐसा कहा गया है अर्थात् वर्णित है। ।।६।।

यहाँ आधिकारिक कार्य-कारण प्रकरण परिसमाप्त हुआ।

कामीत्व अथवा रुद्र कामीत्व क्या है? यही कारण में महाभाग्य है अथवा अन्य? उत्तर है–है। जैसा कि कहा है–

अमङ्गल भी यहाँ मङ्गल बन जाता है। ॥७॥

अमंगल इस शब्द से यहां साधन समूह को अधिकृत किया जाता है उसी अमंगल के उद्देश्य से मंगलवचन का निर्देश करता है। च शब्द यहाँ कारण गुण तथा वचन के उपक्षेप के अर्थ में द्रष्टव्य है। उपक्षेप [बाहर निकाल देना] करके अन्यत्र मङ्गल एवं प्रदक्षिणा को [अ० २, सू० ८] में कहेंगे। अत: रुद्र के दोनों देवता एवं पितर [अ०२ सू० ।।] इस उपरिनिर्दिष्ट सूत्र में कहेंगे। अज शब्द मूर्ति के अधिष्ठाता मन संज्ञक सकल कारण में समुपस्थित अपसव्य सम्बन्ध में अर्थ में देखना चाहिए। मंगल यहाँ भी अमङ्गल के व्याख्यान करने पर भी का [द्वैत] नमत्व तथा अपसव्यत्व सम्बन्ध तथा हसित आदि साधनवर्ग किन्तु यहाँ वह कारणमूर्ति के सामर्थ्य से मङ्गल हो जाता है। शैल एवं उदक जैसे। मङ्गल साधन है धर्म निष्पादक हैं भवति यहाँ निश्चित रूप से भूतार्थवाद के अर्थ में है। कारण भूति क्रियामाण अमङ्गल मङ्गल बन जाता है। ।।७।।

प्रश्न है– क्या नमत्व अथवा अपसव्यत्व दो ही साधन कहे जाते हैं?। नहीं जैसा कि कहा है–

अपसव्य एवं प्रदक्षिणा ॥ ८॥

नमत्व साधन ही है यह अर्थ है यहाँ अमङ्गल निर्देशार्थ होने के कारण प्रत्याहार के समान उपहार [अ०। सू० ८] सामान्यमात्र के ख्यापन से पृथक अपसव्य का आरम्भ होता है, इसलिये यहाँ अपसव्य का अर्थ है सत्य से विपरीत। च शब्द समुच्चय अर्थ में है। न केवल कारणमूर्ति साधन सामर्थ्य से अमङ्गल में मङ्गल सम्पादित करती है अपितु अपसव्य प्रदक्षिणा को आपादित करता है। यह अर्थ है। प्रदक्षिणा का अर्थ है– जो अत्य के लिये अपसव्य है वह यहाँ प्रदक्षिण किस प्रकार होता है?– उत्सूत्र इत्यादि दोषों से जल इत्यादि स्नान के समान यह अर्थ है, ।।८।।

प्रश्न है--सम्पूर्ण कारणगुणों का नाम है अथवा नहीं? उत्तर है– है। जैसा कि कहा है–

अतः उभयथा यजन करना चाहिये ॥ ९॥

यहाँ तस्मात् शब्द कारण एवं गुण के वचन के अर्थ में है। कारण गुण कौन है? उत्तर है– पतित्व, सत्व, आद्यत्व, अजातत्व, उत्पादक, अनुग्राहकत्व,

तिरोभावकत्व, वामदेवत्व, ज्येष्ठत्व, रुद्रकामीत्व, मङ्गलावाप्ति तथा प्रदक्षिणावाप्ति इन कारण गुणों को जानकर। इसीलिये तस्मात् शब्द का प्रयोग किया। तो इस कारण गुण के वचन को जानकर साधक को क्या करना चाहिये?। उत्तर है उभयथा यजन करना चाहिये। यहां यष्टा साधक हैं यहां उभयथा का अर्थ है–दो प्रकार से। द्रष्टव्य इस कथन में भी स्त्री विषयक चिन्तन नहीं होता। यष्टा, यजन एवं यष्टव्य का चिन्तन होता हैं। यहां यष्टा साधक हैं, यष्टव्य भगवान् महेश्वर है, यजन भावना है अथवा यजन अध्ययन अध्यापन, स्मरण, इत्यादि। उसका फल है देव नित्यता सायुज्य [अ० ५ सू० १०] यह आगे कहेंगे ।।९।।

प्रश्न है– कि निर्देश नहीं करने के कारण सन्देह है कैसे? उभयथा दो प्रकार से निर्देश करें?। उत्तर है-देव एवं पितरों के समान।

देव एवं पितरों के समान ।।१०।।

यह कैसे?। उत्तर है–सर्वप्रथम इस ब्राह्मण का देवयजन एवं पितृयजन में अधिकार अधिकृत होता है इसलिये उन देवताओं एवं पितरों में भक्ति का व्यानर्त्तन [हटाकर] करके दोनों ही प्रकार से महेश्वर में भाव को अवस्थापित करके यजन करना चाहिये, अन्य का नहीं। च शब्द का यहाँ प्रतिषेध अर्थ है। जो वह पूर्वकाल में देवताओं एवं पितरों में कारकत्व सम्भावित था वह उनमें नहीं होता है। अतः उनका यजन नहीं करना चाहिये, यह अर्थ है ।।१०।।

प्रश्न है– यदि ऐसा है तो देवताओं एवं पितरों का दोष [न्यूनता] कहें जिससे वे यष्टव्य नहीं हैं। अथवा रुद्र में क्या गुण हैं?। जिससे उसका ही यजन करना चाहिये यह निर्देश करें। जल स्नानादि के समान। उत्तर है–

रुद्र में देवता एवं पितर दोनों होते हैं ।। ११।।

यहां उभय शब्द का अर्थ दोनों एवं समस्त है, तु शब्द देवताओं और पितरों में वैषेशिक कारणत्व का व्यावर्तन करता है। रूद्रे यह कारण का उपदेश करता हैं। रुद्र की रुद्रता पहले कहीं जा चुकी है। यहाँ शक्ति में हार्य, धार्य एवं कार्य रूप से विद्यमान रहते हैं अर्थात् धारण किये जाते हैं, विषय में विद्यमान रहते हैं देव और पितर। यहाँ देव ऋभु ब्रह्म से लेकर पिशाच तक, मनुष्य एवं तिर्यक योनि को छोड़कर के, की सामान्य संज्ञा हैं विधिवत्। पितर यह विशेष संज्ञा है। भस्म, स्नान आदि के समान यह अर्थ है। ब्राह्मण एवं देवदत्तादि के समान।

प्रश्न है–सामान्य एवं विशेष संज्ञा के अभिधान में क्या प्रयोजन है? उत्तर है–रुद्र में त्रिविध कार्यों का हार्य धार्य एवं कार्य का ज्ञापन। और भी काल, क्रिया, स्वाहा एवं स्वधा मन्त्रों का अन्यत्व दर्शन के कारण देवपितृ यजन से अपहृत चित्तों के व्यावर्तन के लिये भी। इसलिये अनन्यत्व के कारण भी व्याख्यान दूषित नहीं होता। च शब्द का अर्थ अभ्यधिकत्व हैं। देवताओं और पितरों के समान त्रिविध सत्व कार्य का ईश्वर में–प्रतिष्ठा, प्रसव, संयोग, वियोग, सुख, मोह, बन्ध एवं मोक्ष दातृता के कारण ईश्वर ही समस्त रूप से परमकारणा के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार च शब्द का अभ्यधिकत्व द्रष्टव्य है, इसलिये दुःखान्त के इच्छुक वे देव व पितरों का यजन न करें। एतदर्थ भगवान महेश्वर ही यष्टव्य हैं यह अर्थ है ॥११॥

यहाँ यह आनुषंगिक कार्यकारण प्रकरण समाप्त हुआ।

अ:तः उत्तर विधि प्रकरण के पदार्थ वैलक्षण्य होने पर भी साध्य-साधन भाव के कारण यजन के साथ सम्बन्ध करेंगे। कैसे यहाँ प्रथमतः कहा गया है, उभयथा यजन करना चाहिये, देवताओं एवं पितरों के समान। जहाँ [अ० २ सू०९,१०] प्रथमतः देवताओं एवं पितरों से, व्यावर्तित भक्ति से महेश्वर के यजन का अवगम नहीं होने के कारण स्वात्येश्वर संयोगरूप योग को प्राप्त करेगा उस फल को कहूंगा। जिस बल से उपवृहित साधक का उसी यजन में उद्योग एवं अभिनिवेश होगा उस बल को कहूंगा। उस बल की प्राप्ति में जो उपाय है उनको भी कहूँगा। कहा जाता है–

हर्ष में अप्रमादी [हर्षाप्रमादी] ॥१२॥

अथवा अव्य दूरस्थ सम्बन्ध है जिसके कारण कहा जाता है जिसका दूरस्थ होने पर भी जिस अर्थ से सम्बन्ध होता है उसके द्वारा उस अर्थ की उत्पत्ति समान रूप से होती हैं। आनन्तर्य होने पर भी ग्रहक्षयादि के समान यहाँ अमङ्गल इत्यादि से सम्बन्ध का अभाव नहीं होता। क्यों? शेष का अभाव होने के कारण । इस प्रकार यहाँ भी संबन्ध दूरस्थ है। कैसे? यहाँ पहले कहा गया है अकलुषमति करने वाले साधक का योग प्रवृत्त होता है [अ०? सू० १८.२०]। यहाँ कलुष के व्यतिरेक से जो योग के अन्य व्याघात कार हेतु है उनको कहूँगा। जैसा किं एक योग प्राप्ति की पद्धति ही आचरितव्य है ऐसा व्याख्यान करूंगा। और चर्या के बिना जिस प्रकार योग प्राप्ति होती है उस बल का व्याख्यान करूँगा। उस

बल की प्राप्ति के जो उपाय हैं उसका भी व्याख्यान करूँगा। **हर्षाप्रमादी** यह, यहाँ हर्ष का अर्थ है। दिव्य विषयों, जिनका प्रकाशन विधान से उत्पन्न धर्म से होता है ऐसे प्रीति, तुष्टि एवं प्रमोद, वे यहां विश्वामित्रादि स्वरूप प्राप्ति के समान द्रष्टव्य हैं, किस प्रकार के? कहा जाता है कार्य-करण विशुद्धि स्वरूप। कार्य विशुद्धि का अर्थ है जो यह देवशरीर प्रकाश एवं दीप्ति से-प्रज्ज्वलित स्वर्ग, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष में स्वर्णदण्ड के समान उत्थित स्वयं को देखता है तब [स्वर्ग में] अणिमा, लघिमा तथा महिमा ये तीन कार्यगुण उत्पन्न होते है। अन्तरिक्ष में भी जिस धर्म विशेष से........ इसी प्रकार कारण विशुद्धि भी [पृथ्वी पर] बाह्य गरिमा इत्यादि अन्तः करण से दूर विषयक ग्राहकत्व तथा आलोचन, संकल्प तथा अध्यवसाय एवं अभिमान इत्यादि होते हैं। कैसे? धर्मादि वचन से। और भी प्राप्ति, प्राकाम्य, [वशित्व] तथा **कामावसायित्व जहाँ ये पाँच करणगण** उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार जो अन्य के अणिमा इत्यादि आठ गुण, चतुषष्ठीय विकल्प, धर्म कार्य एवं ऐश्वर्य कहे जाते हैं वे इस शास्त्र में हर्ष नाम से अभिहित किये जाते हैं। इन विषयों में मद का अनुभव न करता हुआ व्यक्ति हर्षाप्रमादी होता है धर्म विद्या के बल से। यह अर्थ है। ।।१२।।

प्रश्न है– कहाँ स्थित होने पर वे हर्ष अभिव्यक्त होते हैं?। अथवा किस प्रकार के साधक को ये हर्ष अभिव्यक्त होते हैं?

चर्यायाम् चर्यायाम् [चर्या चर्या में] ।।१३।।

यहाँ चर्या चर्या में वीप्सा अर्थात् द्विरुक्ति है। प्रश्न है निर्देश न होने के कारण यहाँ वीप्सा एक वचन, द्विवचन तथा बहुवचन में होती है। इसमें एक वचन में भी होती है जैसा कि कहा है–

> ''हे पुरुषाधम! अब तुम्हारा गर्म रक्त पी रहा हूँ अब इस समय दृढ़ता के साथ पुनः गौ गौ ऐसा कहो'' इसी प्रकार द्विवचन में भी होती है। ''युद्ध में सन्नद्ध एवं परमक्रुद्ध होकर एक दूसरे का हनन करते हुए प्रत्येक रथ में वे दोनों बात एवं मलरूपी ध्वज सुशोभित हो रहे हैं।''

इसी प्रकार बहुवचन में भी होती है। जैसा कि कहा है–'' प्रत्येक पुरुष में यह वह बुद्धि निश्चित होती है तथा वे 'वे मनुष्य उस' उस रूप में पृथक रूप से तुष्ट होते है' अतः संशय है– इसलिये क्या एक चर्या अथवा दो चर्या अथवा बहुत सी चर्यायें?। उत्तर है–एक चर्या क्रिया बहुत्व में भी होती है जैसा

कि आयतन और लोक में। आयतन में स्नान एवं हसित इत्यादि लोक में क्राथन एवं स्पन्दन इत्यादि विधिक क्रियायें इस प्रकार चार क्रिया के तत्व को देखकर वीप्सा के अर्थ से कहा गया। चर्या चर्या में अर्थात् क्रिया में यह अर्थ है। इसलिये एक बार उच्चरित वीप्सा बहुवचन में भी होती है वृक्ष, बलि जैसे। और भी महात्म्य, यह [अ० २, सू० १४] चर्या के उत्तर सम्बन्ध से एक चर्या क्रिया बहुत्व में भी होती है ऐसा कहा जाता है। कार्य-कारण विशुद्धि स्वरूप को हर्षा इस नाम से कहा जाता है। कार्य-करण एवं ऐश्वर्य का अभिनिवेश करना सम्भव नहीं है इसलिये कार्य-करण युक्त साधक के चरण करने पर उसकी महिमा अभिव्यक्त होती है यह अर्थ है ।।१३।।

प्रश्न है- प्रमाद रहित आचरण करने पर कैसी कार्य निष्पत्ति होती है? कहा जाता है-

महात्म्य को प्राप्त करता है ।।१४।।

महात्म्य का अर्थ है स्वामित्व और प्रकाश के समान, देह एवं इन्द्रिय इत्यादि के द्वारा अपहृत होता है यही अमाहात्म्य है। विधि के योग से हेने वाले अभिनिवेश का सामर्थ्य अधर्म बल है। कहा गया है कि -"मनुष्य के अपने देह तथा इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि एवं मन अपहृत हो जाते हैं जिस प्रकार उच्छृङ्खल अश्वों के द्वारा सचेत सारथि भी अपहृत हो जाता है।"

इससे भिन्न महात्म्य होता है जिसके सानिध्य से यह ब्राह्मण स्नान, शयन, अनुस्नान आदि क्राथन, स्पन्दन, अध्ययन, ध्यान एवं स्मरण करण में समर्थ हो जाता है। पराश्रद्धा से युक्त इस स्थिति को महात्म्य कहते हैं।

प्रश्न है- वह क्या है? उत्तर है- जो यह तप से [अभिवृद्धि] प्रभ्रष्ट वीर्य तपोबल एवं तपःशक्ति है यही महात्म्य है। कैसे अवगत होता है? चर्या के बाद कथन होने के कारण। जिसके अनन्तर जिस वस्तु को प्राप्त करता है, वह उसी से प्राप्त करता है यह अर्थ है। प्रश्न है- "प्राप्त करता है" यह पाठ करना चाहिये? प्राप्त करने वाले के लिये होगा यह कहा जाता है। पूर्ण रमण करके क्षणार्ति एवं प्रीति की प्राप्ति करने से इस विधि चरण से हर्ष विशेषों की रक्षा करता है तथा अभिप्रीति विशेषण एवं अतिगति संस्तवन की प्राप्ति भी करता है। इसलिये मन्त्र बल के समान धर्मबल को इसके महात्म्य को प्राप्त करता है यह अर्थ है ।।१४।।

प्रश्न है– वह अभ्युपाय कौन हैं? वे कौन से धर्म साधन हैं जिनसे हर्ष की उत्पत्ति एवं महात्म्य का लाभ होता है;? क्रियाओं के कितने प्रकार के विभाग हैं? दान इत्यादि पूर्वोक्त का भेद है अथवा नहीं? उत्तर है–है। जैसा कि कहा है–

अतिदत्त अतिष्ट [अतिष्ट] ॥१५॥

यहाँ कुदान से अर्थ है गो, भू, हिरण्य, सुवर्ण आदि का दान कैसे अनेकान्तिक एवं अनात्यन्तिक एवं सातिशय फल होने के कारण तथा कुपथ एवं ऊर्ध्व प्रवाद के कारण भी [अ० ४ सू० १८] इसलिये यहां अतिशब्द विशेषण है। अतिदान का अर्थ है आत्मदान। कैसे? स्वयं की दातृता के कारण पुनः दान के प्रयोजन का अभाव हो जाने से । स्थान, शरीर इन्द्रिय, विषय आदि के अप्रापक होने के कारण। एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से, रुद्र सामीप्य की प्राप्ति के कारण ही एकान्त रूप से आनावृत्ति रूप फल होने के कारण असाधरण फल होने के कारण अपना आत्मदान ही अतिदान है। इसी प्रकार कुयजन अग्निष्टोम इत्यादि है। कैसे? संग्रह, प्रतिग्रह, हिंसा इत्यादि युक्त यज्ञ से, इनकी निवृत्ति के दर्शन से पक्षी, **रात्रिज देवता** इत्यादि साधारण फल होने के कारण। और अनित्य सातिशय एवं संकीर्ण फल देने के कारण अग्निष्टोम इत्यादि कुयजन हैं। इसलिये यहाँ अतिशब्द विशेषण है। अति यजन का अर्थ है जो आयतन का लोक में हो। आयतन में स्नान तथा हसित इत्यादि एवं लोक में क्राथन एवं स्पन्दन इत्यादि विधि क्रियायें होती हैं। कैसे? क्योंकि संग्रह, प्रतिग्रह, हिंसादि रहित क्रम से अपने शरीर से समुत्थित कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं से यजन किया जाता है इसीलिये कहा जाता है अति यजन।

प्रश्न है– क्या दान और यजन इन दोंनों साधनों का विशेषण अति होने के कारण विशिष्ट रूप में करना चाहिये? उत्तर है–नहीं। जैसा कि कहा है–

अतितप्तं तपस्तथा [अतितप्त तप तथा अतिप्त तप] ॥१६॥

आध्यात्मिक, अधिभौतिक एवं आधिदैविक इस प्रकार उपस्थित नहीं होते क्योंकि स्वशास्त्रोक्त क्रम से मन में सम्मत एवं उपाय के अभाव के कारण प्रतीकार न करने से उनका तप निष्पन्न होता है। जहाँ तृतीया में आत्मसंयोग होने के कारण निष्पन्न होता है वही तप है। तब शयन के अर्थ में इसका प्रयोग कैसे होगा?।

इस अति तापों से अति तप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार दान एवं यजन के द्वारा भी। तथा शब्द तीनों साधनों के उपसंहार के लिये है। जब दान करता है तब यजन करता है और तप भी करता है। जब यजन भी करता है तब दान भी और तप भी करता है। जब तप करता है तब दान भी करता है और यजन भी करता है। जब तप करता है तब दान भी करता है और यजन भी करता है। इस प्रकार इस ब्राह्मण की दीक्षा इत्यादि होती है। जब इन तीन उपाया के द्वारा गङ्गा स्रोत के समान धर्म की आय एवं धर्म का व्यय होता है तब अतिदान से निष्पन्न प्रकृष्ट तपस्या के द्वारा इस ब्राह्मण को हर्षोत्पत्ति महात्म्य लाभ सम्भव होता है, प्रश्न है अतिदान इत्यादि से निष्पन्न प्रकृष्ट तपस्या से इस ब्राह्मण की क्या गति होती है?। उत्तर है– अभ्युदय के कैवल्य व्यतिरेक से।

अत्यागतिं गमयते [अत्यागति को गमित करता है] ।।१७।।

यहाँ अतिशब्द विशेषण अर्थ में है। आङ् उपसर्ग मर्यादा अर्थ में होता है। अध्ययन, ध्यान इत्यादि से रहित भी साधक अतिगति तप को कैसे प्राप्त करता है? ''उसका अभ्यास इसका हरण करता है'' इस वचन से। अतिगति यह, योग का पर्याय है। कैसे प्राप्त होता है? आनन्त्य ब्रह्म सायुज्य के समान तपस्या का कार्य होने के कारण। सांख्य, योग, के अभ्युदय इत्यादि गति विशेष से विशेषित होने के कारण वह पर है, यह अर्थ है। अतिगति यह कर्म कारक में है। गमयते का अर्थ है वह गत होकर भविष्य में प्राप्त होगा ऐसा नहीं अपितु वर्तमान काल में प्राप्त करता है यह अर्थ है ।।१७।।

प्रश्न है–अतिदान से तपस्या के समान ही गुण, वचन कुछ है अथवा नहीं?। उत्तर है–है। जैसा कि कहा है–

तस्मात् [इसलिये] ।।१८।।

यहाँ तस्मात् शब्द तपस्या के गुणवचन के अर्थ में है, इसलिये अतिदान इत्यादि से निष्पन्न धर्म अत्यागति को निरतिशय रूप से प्राप्त करता है। स्थान, शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि की प्राप्ति होने पर नहीं। एकान्तिक एवं आत्यन्तिक रूप से रुद्रसामीप्य प्राप्त होने के कारण एकान्त रूप से अनावृत्ति फल को देखकर, इसलिए कहा तस्मात् इति।। १८।।

प्रश्न है–अत्यन्त तपस्या का गुण, वचन तथा कारण को जानकर साधक को क्या करना चाहिए? कहा जाता है।

पुनः तप करें ॥१९॥

यहाँ भूयः शब्द पुनः सन्धान के अर्थ में है इष्टापूर्त के समान, कैसे हर्षो में आसक्त मूहूर्त अथवा अर्धमुहूर्त साधनों से विच्छेद को देखकर सन्धान के अर्थ में भूयः शब्द कहा गया है। इसलिये यही तप है, इसकी निरूक्ति पूर्वोक्त है। चरेत् इस क्रिया में अर्जन का संकेत है। धर्म तथा अनेक संशय` अनयत्व के कारण यह चर शब्द अपुनरुक्त अर्थ में देखना चाहिये ॥१९॥

प्रश्न है–यदि ऐसा है तो यह बतावें कि हर्षों का क्या दोष है अथवा महात्म्य का क्या गुण जिससे वह ग्राह्य होता है? कहा जाता है–**महात्म्य करता है**–जैसा कि कहा है–

शङ्कर में अनन्य भक्ति[१] ॥२०॥

यहाँ न कार अन्य की भक्ति के प्रतिषेध के अर्थ में है। भक्ति का अर्थ है भावना, तु शब्द विशेषण है क्यों जो हर्षो में आसक्त होकर के दोष एवं तस्करत्व को प्राप्त हो जाते हैं वे विशेषण से शङ्कर से दूर हो जाते हैं–शङ्कर कैसे? समस्त सुख के निर्वाणकर होने के कारण शङ्कर कहा जाता है[२]।

शङ्कर में संविधान औपश्लेषिक है। शङ्कर में भावना करनी चाहिये अन्य में नहीं यह अर्थ है । कहा है – ''कर्म, मन तथा वचन से जो निरन्तर शङ्कर का सेवन करता है इससे इसक। अभ्यास साधक का हरण करता है एवं उससे कल्याण करता है।''

'इस प्रकार ये अध्यात्म चिन्तक महात्मा कहते हैं कि जो यह चित्त का तन्मय भाव है वह सनातन एवं गुह्य है।'

''चलते हुये, बैठे हुये, शयन करते हुये, जगते हुये तथा स्वप्न देखते हुये साधक को यदि अपने योग की इच्छा हो तो उसे शङ्कर के विषय में भावना करनी चाहिये।''

---

१. शतरुद्रीय, सायण भाष्य, कृष्णयजुर्वेद, ४/५/८।
२. वही

''चूँकि क्षपान्त काल में त्रैलोक्य शङ्कर में लीन होता है अतः शङ्कर को संवर्त्त धाता कहा गया है।''

इस प्रकार शङ्कर में भाव उपश्लेषित करना चाहिये अन्य का नहीं, यह अर्थ है ।।२०।।

इस प्रकार परिसमाप्ति करके कहना युक्त है।

यहां इस ब्रह्म का जप करना चाहिये ।।२१।।

इसका अर्थ पूर्वोक्त है। प्रश्न है– धर्म परिणामक होने के कारण तथा शङ्करत्व के कारण ईश्वर सुखद कहा गया है। अन्तर्सृष्ट में धर्म-अधर्म सत्व एवं रज के समान सुख एवं दुःख का कारण होता है अथवा नहीं। कहा जाता है यहाँ जो सुखद ऊपाय है वह मैं कहूंगा अथवा जैसा अन्यत्रं व्यवस्थित संसारगत कार्य के विषय में वही परमकारण है तथा कार्यकाल के समान निरधिकार का कथन करूँगा एवं विस्तारपूर्वक इस ब्रह्म की कारण शक्ति का कथन करूँगा। शक्ति का ज्ञान करके साधक इस प्रकार आठ नमस्कारों के द्वारा आत्मदान करता है, वह बताऊँगा। इसलियें यहां प्रारम्भ किया जाता है–

वामदेव, ज्येष्ठ तथा रुद्र के लिये नमस्कार[१] ।।२२।।

इति। प्रयोगान्यत्व तथा प्रयोजनान्यत्व के कारण, वामदेव इत्यादि शब्दों को अपुनरुक्त अर्थ में देखना चाहिये। यहाँ वामत्व देवत्व ज्येष्ठत्व तथा रुद्रत्व [अ०२ सू० १-४] पूर्वोक्त है। वामदेव, ज्येष्ठ, रुद्र यहाँ चतुर्थी विभक्ति है। नमः शब्द यहाँ आत्म प्रदान तथा पूजा अर्थ में है। सम्भावनान्यत्व के कारण सर्वनमस्कार अपुनरुक्त अर्थ में द्रष्टव्य है ।।२२।।

प्रश्न है–क्या यह चार ही यहाँ कारण के रूप में चिन्तनीय है? अथवा चार नामों के व्याज से नाम के विषय में नमस्कार द्रष्टव्य है? उत्तर है– नहीं, जैसा कि कहा है–

काल के लिये नमस्कार ।।२३।।

यहाँ काल यह महेश्वर का पर्याय है। कैसे? पूर्व एवं उत्तरसूत्रों के सामर्थ्य

---

९. द्रष्टव्य-शतरुद्रीय एवं रुद्राष्टाध्यायी, अ० १०/६
''वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः- श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः''।।

से। चूंकि क्षेत्र, साधन, स्थान इत्यादि को कला इत्यादि तथा शरीर 'इन्द्रिय' विषय इत्यादि से वियोग के द्वारा कवलित करता है अतः वह काल है, कहा गया है–

''ब्रह्मादि से लेकर भुर्ज [कर्ण] पर्यन्त यह चराचर जगत चूंकि रुद्र के द्वारा कलित होता है अतः रुद्र को काल कहा जाता है।''

''काल के पर्यय से कलाओं के द्वारा काल्यों को चूंकि कलित किया जाता है तथा कलन एवं कालन के कारण भी इसे काल कहा जाता है।''

इस प्रकार भगवान काल है। काल्य क्षेत्रज्ञ हैं। स्थान ब्रह्म इन्द्र-देव-पितृ इत्यादि के वचन में वाह्य, प्राजापत्य-सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच है। तथा ब्राह्मण, शूद्र, गो, मृग इत्यादि सर्वभूतों के अन्नादि वचन के कारण एवं मानुष, पशु, मृग, पक्षी, सर्प, स्थावर, इत्यादि का भी ग्रहण होता है। योगेश्वर देवों में अन्तर्भूत होते हैं। कैसे? धर्म के बाहुल्य के कारण। इस प्रकार ये चतुर्दश स्नान संसार के रूप में उच्चरित होते हैं। इनके कला इत्यादि के कथन में महेश्वर निमित्त है? कैसे? पूर्वोत्तर शरीरों में भोग लोप की अभिव्यक्ति मात्र होने से। संसार आदिमान रूप में द्रष्टव्य है। उसका फल भोक्ता होने के कारण। कार्य एवं कारण के अनादि होने के कारण यह संसार अनादि है, अकृताभ्यागम [विना किये स्वीकार करना] के कारण। इसलिये भगवान के विषय में अभ्यधिकत्व तथा शेष पुरुषों के विषय में नयूनत्व को जानकर काल को नमस्कार है, यह कहना युक्तियुक्त है। यहाँ भी काल में चतुर्थी विभक्ति है। नमः आत्मप्रदान तथा पूजा अर्थ में है। संभावनानत्व के कारण यह नमस्कार अनपुरुक्त रूप में द्रष्टव्य है ॥२३॥

प्रश्न है– क्या स्थान, शरीर, इन्द्रिय, विषय इत्यादि का यह भगवान प्रभु कर्ता है अथवा नहीं? उत्तर है– प्रभु कर्ता है। जैसा कि कहा है–

कल विकरण के लिये नमस्कार है ॥२४॥

यहाँ कला का अर्थ है कार्य-करण। पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश कार्य हैं। आकाश शब्दगुण है 'शब्द एवं स्पर्शगुण वाला वायु है, शब्द, स्पर्श, स्वरूप तेज अर्थात् अग्नि में, शब्द, स्पर्श रूप तथा रस जल में है। तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध पृथ्वी में है।'' शब्द, स्पर्श,रूप, रस, गन्ध। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, पाद, पायु [गुदा], उपस्थ, हस्त, वाक्, मन, अहंकार, बुद्धि

ये करण हैं। इनके विकरण भवानीश्वर हैं। कैसे? दृक् एवं क्रियाशक्ति के अप्रतिघात के कारण। विकरणत्व का अर्थ है– स्थान, शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि के सन्निवेश से तथा विस्तर, विभाग, विशेष से भी कार्य-करण नामक कलाओं के द्वारा धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इत्यादि से क्षेत्रज्ञ का संयोजन होता है। अतः, भगवान् में अभ्यधिकत्व तथा शेषपुरुषों में न्यूनत्व को जानकर कला विकरण के लिये नमस्कार है– यह कहना युक्तिसंगत है। यहाँ भी कला विकरण में चतुर्थी विभक्ति है। नमः आत्मप्रदान तथा पूजा अर्थ में है। सम्भावनान्यत्व के कारण यह नमस्कार अपुनरुक्त रूप में द्रष्टव्य है ।।२४।।

प्रश्न है–कला- विकरणत्व होने के कारण अवान्तर सृष्टि में कर्म क्षय होने पर वृत्तिलाभ में अपेक्षा होती है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इत्यादि के ये भगवान् प्रभु हैं अथवा नहीं? उत्तर है, प्रभु हैं। जैसा कि कहा है–

बल प्रमथन के लिये नमस्कार है ।।२५।।

बल का अर्थ है– धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, द्वेष, इच्छा तथा प्रयत्न इत्यादि विद्यावर्ग रूप। प्र का अर्थ है– अत्यधिक कामित्व और आकर्षण। मथन का अर्थ है– बलवृत्ति का निरोध, समुद्र मंथन के समान । अग्नि, ज्ञान, इत्यादि दुर्बल नहीं है; जैसा कि कहा है–

''अतेजस्वी के नाश के लिये निश्चित रूप से तैजस प्रभावशाली नहीं होते। भव [संसार] में अति तत्त्वों को बलशाली दबाने में समर्थ नहीं होते।'' इस प्रकार भगवान में अभ्यकधिकत्व तथा शेष पुरुषों में न्यूनत्व को जानकर बल प्रथम के लिये नमस्कार है, ऐसा कहना युक्तियुक्त है। यहां भी बल प्रमथन में चतुर्थी विभक्ति है। नमः आत्मप्रदान तथा पूजा अर्थ में है। संभावनान्यत्व के कारण नमस्कार शब्द अपुनरुक्त है ।।२५।।

प्रश्न है– वे भगवान् किनका कालन, विकरण तथा मंथन करते हैं? उत्तर है–भूतों का। जैसा कि कहा है–

सर्वभूतदमन के लिये नमस्कार है ।। २६।।

यहाँ कला कथन में पुनरुक्त दोष के कारण सर्व शब्द पृथ्वी इत्यादि के अर्थ में नहीं है, अपितु सिद्धेश्वर को छोड़कर चेतन इत्यादि के अर्थ में ही सर्वभूत शब्द का प्रयोग है। प्रश्न है–भूतत्व इत्यादि की अनुपपत्ति के कारण चेतन इत्यादि

के अर्थ में संर्वभूत शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता? उत्तर है– दमन के लिये। शम् एवं दम् धातु उपशम अर्थ में है। देव, मनुष्य, इत्यादि की जो स्थान, शरीर, इन्द्रिय, विषय इत्यादि के विषय में रंजनाधिवासना रूप रति होती है– वह अन्तर्दृष्टि से समग्ररूपेण ईश्वरकृत रूप में द्रष्टव्य है। अतः, भगवान् में अभ्यधिकत्व तथा शेष पुरुषों में न्यूनत्व का ज्ञान कर सर्वभूत दमन के लिये नमस्कार है– यह कहना युक्तियुक्त है। यहाँ भी सर्वभूतदमन में चतुर्थी विभक्ति है। नमः यह आत्म-प्रदान तथा पूजा अर्थ में है। सामान्यत्व के कारण यहाँ नमस्कार शब्द अपुनरुक्त अर्थ में द्रष्टब्य है।२६।।

प्रश्न है– किस प्रकार की महेश्वर में कालन इत्यादि शक्ति का कथन है? क्या सकल या निष्कल अथवा दोनों रूपों में? उत्तर है–दोनों रूपों में। जैसा कि कहा है–

मन एवं अमन के लिये नमस्कार है ।।२७।।

यहाँ मन शब्द से अन्तःकरण अभीष्ट है। क्योंकि, अन्तःकरण के ही अधीन एवं उदाहरणार्थ होने के कारण मन ग्रहण किया गया है। मन चूँकि उभयात्मक है तथा सम्पूर्ण करणों का ग्रहण एवं अनुग्रहण करता है। इसलिये, कार्य ग्रहण किया गया है। इसीलिये, कार्यकरण के अधिष्ठाता होने से सकल रूप में उपचरित होता है। इसीलिये, इस प्रकार के मन के प्रतिषेध के कारण यहाँ कार्य-कारण रहित निष्कल भगवान् को अमन कहा जाता है। इसलिये, भगवान् महेश्वर में सकलेतरों की अनुग्रहिता शक्ति विद्यमान है। कहा गया है–

"अपाणि, अपाद, अनुदर, अपार्श्व जिह्व, अतीन्द्रिय, व्यापिस्वभाव, सिद्ध, महेश्वर बिना चक्षु के अवलोकन करता है, बिना कर्ण के श्रवण करता है, अबुद्ध भी नहीं है, सबुद्ध भी नहीं है, उसे सर्व का ज्ञान है। किन्तु, उसका कोई वेत्ता नहीं है। उसे प्रपत्र एवं महान् पुरुष कहा गया है।"

इस प्रकार भगवान् महेश्वर में अभ्यधिकत्व तथा शेष पुरुषों में नयूनत्व का ज्ञान कर, मन अमन के लिये प्रणाम है– ऐसा कहना युक्तियुक्त है। मन अमन के लिये यहाँ चतुर्थी विभक्ति है। नमः यह आत्मप्रदान तथा पूजा अर्थ में है। सम्भावनान्यत्व के कारण सर्वत्र नमः शब्द अपुनरुक्त रूप में द्रष्टव्य है।।२७।।

इस प्रकार यहाँ भगवत्कौण्डिन्यकृतपञ्चार्थभाष्य में द्वितीय-अध्याय ब्रह्म के साथ ग्रन्थतः एवम् अर्थतः परिसमाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय

अब अवसर प्राप्त तृतीय अध्याय के सम्बन्ध का निर्वचन कर व्याख्यान करेंगे। प्रश्न है– यदि ऐसा है तो यह बताएँ कि किस पदार्थ के विचारण हेतु तृतीय अध्याय का सम्बन्ध है? उत्तर है– विधि विशेष से। कैसे? यहाँ पहले कहा गया है, अकलुष मति की [अ०१ सू० १८.१९] चर्या में [अ० २ सू० १३]। इस कारण, पुनः तप करं [अ० २ सू० १८,१९] ऐसा नियोग अभीष्ट है। अतः, लिङ्गधारी, तीन सवन करने वाला आयतन, हसित इत्यादि [अ० १ सू० ६, २, ७, ८] सूत्रों में पूर्वोक्त अवस्थान, काल, देश, क्रिया, प्रयोग, प्रयोजनान्तर [कहे गये हैं]। इनसे व्यतिरिक्त अन्य भी अवस्थान, काल, देश आदि को शुद्धि वृद्धि हेतु कहेंगे।

अव्यक्त लिङ्गी [लिङ्गी] ॥१॥

यहाँ अकार लिङ्ग की व्यक्तता का प्रतिषेधक है। अवसित [समाप्त] प्रयोजन, पूर्वोक्त लिङ्गोपकरण, अनुस्नान, निर्मालय, एकवासा, आदि प्रयोजनों से विनिवृत्त, लोकदृष्ट्या तीन स्थानों में स्नान क़रता हुआ भी छः आश्रमों के लिङ्गों के अनुपलब्ध होने पर अनवधृत उक्त लिङ्गों के समान अव्यक्त क्रियाओं को कहना चाहिये ॥१॥

प्रश्न है– किस मर्यादा से अथवा किस काल में वह क्रिया कर्तव्य है? उत्तर है–

व्यक्ताचार ॥२॥

यहाँ व्यक्त शब्द दिवस को इंगित करता है। व्यक्त अर्थात् स्फुट प्रकाश अर्थात् दिन में यह अर्थ है। यहाँ [आचार शब्द में] आङ्- उपसर्ग अवमान इत्यादि निष्पत्ति की मर्यादा को इंगित करता है। चार-शब्द का उद्देश्य क्राथन आदि हैं। इन क्राथन इत्यादि को साधक नट के समान अवस्थित होकर लौकिक जनों को

अधिजन्य नाटक के समान आचारों को आचरित करता है अर्थात् प्रयोग करता है ।।२।।

प्रश्न है– अव्यक्तलिङ्गी व्यक्ताचार साधक की कार्य- निष्पत्ति क्या है? उत्तर है–जैसा कि कहा है –

अवमत ।।३।।

यहाँ अव उपसर्ग अर्थ में है। मान से उनक लिङ्गाचार- ज्ञान- विधि के विपरीत प्रवृत्ति को देखकर यह सर्वदोष दुष्ट है [दूषित है]। इस प्रकार प्रमाण से अवमान होने पर लोक को परिवर्जित करने ताला, अन्य से वह अबहुमतत्व को प्राप्त करता है। कहा भी गया है–

"विचक्षण व्यक्ति मान अमृत के समान लिप्सा नहीं करें, द्विज सदा विष के समान सम्मान की जुगुप्सा करे। सर्वसङ्गों से विवर्जित अन्य दोषों का न ध्यान करते हुए सुखपूर्वक सोता है, वह सदा मुनि होता है।"।।३।।

प्रश्न है– अव्यक्तलिङ्गी व्यक्ताचार साधक को किन विषयों के सम्बन्ध में अवमत होना चाहिये? उत्तर है–

सम्पूर्ण भूतों के विषय में ।। ४।।

यहाँ सर्वभूत शब्द वर्णाश्रमियों के विषय में द्रष्टव्य है। वर्णाश्रमियों के विषय में ऐसा क्यों कहा जाता है? भूतों के विषय में ऐसा कहा गया, न कि देव, तिर्यग्योनि म्लेच्छादि के विषय में। कैसे? व्यक्ताचार में अवमान, दान एवं आदान के विरोध से। क्योंकि, कहा गया है–

"वह देश [धन्य है] जहाँ प्रभूत गायें हैं, मेध्य [यज्ञ के योग्य] अन्न हैं, पार्थिव धर्मशील हैं, पुण्य नदियाँ हैं तथा सर्वो पभोग्य हैं, उन देशों का परिव्रजन सिद्धिकामी साधक को करना चाहिये।"

भूतों में, यहाँ सप्तमी विभक्ति सन्निधान अर्थ में है। भूतों के समीप में, भूतों के परिवेश में तथा भूतों का अध्यक्ष– यह अर्थ है। सामीपिक व्याख्यान के द्वारा अवमान, देश आदि के स्पष्टतर होने के कारण इसका विध्याचरण है, असुरों के विषय में [अ० ४ सू० १०] इस आचरण ज्ञापक के कारण ।।४।।

प्रश्न है– अवमत साधक के द्वारा सर्वभूतों के विषय में क्या कर्तव्य है?। उत्तर है-विचरण करना चाहिये। जैसा कि कहा है–

परिभूयमान होकर विचरण करे ।।५।।

यहाँ परि उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ में है अर्थात् परीक्ष्य यह अर्थ है। भूय इस अव्यय का अर्थ बहुधा है। यष्टि मुष्टि इत्यादि से संयोजन होना ही परिभव है, कायिक अर्थात् शारीरिक– यह अर्थ है। मान यह साधक काल के क्रम के अविधान के अर्थ में है। परिभूयमान के द्वारा ही। वह परिभव दरिद्र पुरुष **राज्याभिषेक** के समान द्रष्टव्य है। कनक पाषाण के समान, इन्द्रकील के समान होना चाहिये। विचरण करें इसका अर्थ हैं अर्जन करें। धर्म के अर्जन तथा नियोग में निन्दित है। अतः, गर्हित अभ्याख्यान [व्यवहार] का आचरण करें– यह अर्थ है। ।।५।।

प्रश्न है–अवमत एवं परिभूयमान का आचरण करने वाले साधक की तापशान्ति ही होती है अथवा शुद्धि भी होती है? उत्तर है– है, जैसा कि कहा है–

अपहत पापवाला ।।६।।

यह वाक्यशेष वचन के अधिकार से ज्ञात होता है। यहाँ "अप" उपसर्ग वर्जन, आघात तथा नाश अर्थ में है। अपहत अर्थात् अन्यतः नष्ट। पाप वाले यहाँ द्विविध है। सुखलक्षण एवं दुःखलक्षण। सुख लक्षण उन्माद, मद, मोह, निद्रा, आलस्य, कोणता [टेढ़ापन], अलिङ्ग, नित्य असद्वादिता, अधिकभोजन इसी प्रकार अन्य भी। और दुःखलक्षण-शिरोरोग, दन्तरोग, अक्षिरोग इत्यादि। इस प्रकार ये पाप वाले आत्मविषयक कार्यकरण में आदर्श प्रतिरूपक के समान अभिव्यक्त हैं। पूर्णरूप से नष्ट पाप वाला अपहत पाप वाला होता है– यह अर्थ है ।।६।।

प्रश्न है– क्या अवमान तथा परिभव कायिक एवं मानस्वरूप में ये दो साधन ही पापक्षय तथा शुद्धि के हेतु हैं अथवा वाचिक भी हैं कि नहीं?। उत्तर– जैसा कि कहा है–

दूसरों के परिवाद से ।।७।।

यहाँ दूसरों का अर्थ है– स्व तथा पर रूप से अधिकृत जो अवमान आदि से संयोजित करते हैं; उनका। दूसरों के, यहाँ षष्ठी का बहुवचन है। प्रश्न है–स्व, एवं पर के वाक्यों के अवमान आदि से साधक की शुद्धि ही होती है, न कि

वृद्धि। वह शुद्धि भी साधक के फलाभिधान से अतिदान इत्यादि विषय में ऐसा कहा जाता है, न कि पूर्वकृत सुकृत दान की विवक्षा [कहने की इच्छा] से। परि, यह उपसर्ग सर्वतोभाव अर्थ में है, वाद का अर्थ है– बोलना। यह अव्यक्त है, प्रेत है, उन्मत्त है, मूढ है, मूर्ख है, निद्राविष्ट है, वायुरुद्ध है, दुष्कामी, अनुचितकारी है, असम्यग्वादी है इत्यादि उग्र वचनों से अविहनन करते हैं– यही वाद है। वाद से यहाँ निमित्त अर्थ में पञ्चमी विभक्ति द्रष्टव्य है। इसलिये अवमान इत्यादि के द्वारा स्वयं अपना प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा वह पाश मात्र होगा ।।७।।

प्रश्न है– पाप वाले व्यक्ति के द्वारा जानपद से सन्देह है? किस पाप वाले का कार्य है तथा उनका कार्यकरण के विषय में अभिव्यक्त दूसरों से उत्थित अवमान इत्यादि के द्वारा निर्घात [न] होता है? उत्तर है–जैसा कि कहा है–

उनको पाप भी देता है ।।८।।

यहाँ पाप अधर्म का पर्याय है। वह जैसे– ''आजस् अपस्रग्,मूसल, दूरित, दष्कृत, तरू पाप, पापवाला, वृजिन, स्तेय ये सभी एक अर्थ के वाचक शब्द हैं। यहाँ पाप कहा गया है। पाप कैसे? पावक [पातक] एवं पाशक होने के कारण पाप है। पावक अर्थात् शिरोरोग, दन्तरोग, अक्षिरोग इत्यादि से पवित्र करता है। पातक अर्थात् नरक इत्यादि में गिराता है, पाशक अर्थात् अनिष्ट कार्यकरण नामक कलाओं से बाँधता है– यह अर्थ है। इसलिये पावक, पातक, पाशक होने के कारण पाप है। इसी प्रकार बीज अंकुर के समान पाप एवं पाप वालों का हेतु एवं हेतुमान रूप में द्रष्टव्य है। बीज पाप से प्रसव अर्थात् पाप वाले– यह अर्थ है। उनके लिये यहाँ चतुर्थी सम्प्रदान अर्थ में है। इस प्रकार जो अवमान इत्यादि के द्वारा संयोजित करते हैं, उनके लिये देता है अर्थात् संक्रान्त करता है– यह अर्थ है ।।८।।

प्रश्न है–क्या अवमान इत्यादि से इसकी शुद्धि केवल होती है, न कि वृद्धि? उत्तर है– वृद्धि भी होती है; जैसा कि कहा है–

उनका सुकृत भी ले लेता है ।।९।।

यहाँ सु प्रसंग अर्थ में है। कृत धर्म का पर्याय है। च शब्द शुद्धि समुच्चय तथा पूर्व नियोग के अर्थ में है। जो अवमान इत्यादि से संयोजित करते हैं, उनका यह अर्थ है। उनका यह षष्ठी ग्रहण अनभिव्यक्त सम्पूर्ण के आदान हेतु है। आदत्ते

इस क्रिया रूप में आङ् उपसर्ग ग्रहण अर्थ में है अर्थात् आतुर के समान सब कुछ अपने में निहित कर लेता है- यह अर्थ है। ।।९।।

प्रश्न है-अतिदान इत्यादि अतितपस्या में सम्मान अवमान इत्यादि के साधनरूप में इनका गुण कथन है अथवा नहीं? उत्तर है- हैं। जैसा कि कहा है-

इस कारण [तस्मात्] से ।।१०।।

यहाँ इस कारण यह शब्द अवमान इत्यादि के साधन के गुणकथन के विषय में है। कैसे? क्योंकि, अवमान इत्यादि से पापियों के पापक्षय की शुद्धि हो जाती है तथा सुकृत के आदान करने पर वृद्धि होती है- क्योंकि रुद्र के प्रति निष्ठा अलौकिक शरीर तथा इन्द्रियों के विषय इत्यादि का व्यापक एवं ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रुद्र सामीप्य की प्राप्ति होती है। इसीलिये, कहा "इस कारण से" ।।१०।।

प्रश्न है- क्या तब अवमान इत्यादि की साधना ही करनी चाहिये अथवा अव्यक्त अवस्थान के माध्यम से आचरण करना चाहिये? उत्तर है- नहीं, जैसा कि कहा है-

प्रेतवदीरेत [प्रेत के समान विचरण करे] ।।११।।

यहाँ पुरुष नामक प्रेत है, न कि मृत। कैसे? आचरण के उपदेश से। वत् यह उपमा अर्थ में है। उन्मत्त के समान, दरिद्र पुरुष के समान, स्नात व्यक्ति, भक्त से दिग्धाङ् [लिप्ताङ्] हो, मूँछ एवं दाढ़ी हो तथा सर्वसंस्कार वर्जित हो। इसीलिये, वर्ण एवं आश्रम का विच्छेद एवं इसके प्रति उत्साह उत्पन्न होता है, अपमान इत्यादि प्रयोजनों की निष्पत्ति भी होती है। विचरण करें- यह धर्मार्जन एवं नियोग के अर्थ में है। संशयान्त होने के कारण यहाँ पर शब्द अपुनरुक्त रूप में द्रष्टव्य है ।।११।।

प्रश्न है-विचरण करने पर इसके कौन से क्रियाविशेषण हैं एवम् किस कार्य की निष्पत्ति होती है? एवं आचारों का क्या विस्तार है? उत्तर है-

अथवा क्राथन करे ।।१२।।

यहाँ जब ज्ञान प्राप्त हो जाय, कलुष क्षीण हो जाय तथा अभ्यनुज्ञा [आदेश] सम्पादित हो जाय, तब आचार्य के सामीप्य से निष्क्रमण करके प्रत्यगार अथवा

नगर में प्रवेश करके जहाँ लौकिकों का समूह हो, उस स्थान से न अधिक दूर और न अधिक समीप और जहाँ उनका अधिक उपरोध [विघ्न] और दृष्टिनिपात न हो वहाँ हस्ति, अश्व, रथ तथा पदातियों के मार्ग को छोड़कर बैठकर निद्रा, लिङ्ग शिरस् चलित, जृम्भिका इत्यादि का प्रयोग करना चाहिये। वहीं इस साधक के द्वारा असुप्त होते हुये सुप्त के समान आचरण करना चाहिये। तदन्तर प्राणरेचन वायु को कण्ठ देश में रोकर पुनः शब्द करना चाहिये। इससे वे मन तथा वाणी से यह निद्राविष्ट है– ऐसा वे लौकिक पुरुष समझते हैं तथा परिभूत होते हैं। इस अनृत के अभियोग से उन लौकिक पुरुष सुकृत उसको प्राप्त हो जाते हैं तथा इसके पाप उनको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार क्राथन की क्रिया करनी चाहिए। इत का अर्थ अभिज्ञान, आज्ञा तथा नियोग है। वा शब्द क्राथन स्पन्दन आदि के विभाग के अर्थ में द्रष्टव्य है ॥१२॥

प्रश्न है–हसित आदि के समान [अ० १ सू० ८] अविभक्त अविधान के द्वारा ही क्राथन-स्पन्दन आदि की विभागसिद्धि हो जाती है? संभावना का कथन क्यों करते हैं? उत्तर है– पृथक् अभिधान होने पर भी हसित, गीत, नृत्य के समान सन्देह है। पृथक् अभिधान होनें पर भी हसित एवं गीत का पृथक्-पृथक् प्रयोग होता है। किन्तु, यहाँ गीत एवं नृत्य का विभक्त प्रयोग होता है। अध्ययन एवं यन्त्रण [नियन्त्रण] का भी। अतः, पृथक् अभिधान अनुसरण करने वाले साधक का विभाग में अन्य दोष होता है, इस कारण क्राथन क्रिया अर्थात् अवमान आदि के निष्पन्न हो जाने पर संसृष्ट क्राथनादि का परित्याग कर शीघ्र उत्थान करना चाहियें, जिससे लौकिकों को यह विश्वास हो जाय कि इसने स्वप्न में कोई भयङ्कर वस्तु देखी है। अतः, उठकर सिर, हाथ इत्यादि अङ्गों में से किसी एक को स्पन्दित करना चाहिये, जैसा कि कहा है–

अथवा स्पन्दन करे [स्पन्देत वा] ॥१३॥

यहाँ स्पन्दन, ज्ञान, तथा इच्छा की ओर संकेत करता है। क्यों? ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्नपूर्वक शरीर के अवयवों को स्पन्दित करना चाहिये। क्योंकि, ऐसा करने से द्रष्टा लौकिक यह समझते हैं कि यह वायु संसृष्ट है तथा इससे वे परिभूत भी होते हैं। इस अनृत अभियोग से लौकिक के पुण्य इसको प्राप्त हो जाते हैं, इसका पाप लौकिकों को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह स्पन्दन की क्रिया होती है। इत का अर्थ अभियजन, आज्ञा तथा नियोग इत्यादि साधन हो जाने पर।

वा शब्द विकल्प के अर्थ में है–रौद्री बहुरूपी के समान। अवस्थान, क्राथन, उत्थान तथा स्पन्दन आदि के अर्थ में वा शब्द द्रष्टव्य है ॥१३॥

प्रश्न है–अभिप्रस्थित [जिसने पूर्णरूपेण घर इत्यादि छोड़कर साधना के लिये प्रस्थान कर दिया है] साधक का धर्म साधन कोई है अथवा नहीं? उत्तर है– है। जैसा कि कहा है–

अथवा मण्टन करे ॥ १४॥

वा शब्द पाद वैकल्य की ओर संकेत करता है– मण्टन का प्रयोग करने पर वक्तागण कहते हैं कि इसकी पादेन्द्रिय उपहत है। सम्पूर्ण अशुभ की वृत्ति इसके शरीर में उपलब्ध है क्योंकि कहा है–

"दारिद्र्य, व्याधि, भयिष्ठता [अधिक व्याधि], मूर्खता, विकृत रूपता [रूप विकृत] भ्रन्शता, अथवा वर्णहीन कुल में जन्म ये दुष्कृत कर्मों के परिणाम होते हैं।"

द्रष्टागण यह उपहत पाद है ऐसा समझते हैं तथा परिभूत होते हैं। इस अनृत अभियोग से उनके सुकृत इनको प्राप्त हो जाते हैं तथा उसका पाप उनको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह मण्टन की क्रिया होती है। इत का अर्थ अभियजन, आज्ञा तथा नियोग है। वा शब्द क्राथन, स्पन्दन, मण्टन आदि के विभाग के अर्थ में द्रष्टव्य है ॥१४॥

प्रश्न है–स्त्रियों के विषय में आधिकारिक वर्ग साधन कोई है अथवा नहीं? उत्तर है-है। जैसा कि कहा है–

अथवा शृंगार करे [शृंगारेत वा] ॥१५॥

यहाँ श्रृङ्गारण भाव प्रसाद की ओर इंगित करता है। क्यों? कैसै स्त्रीजन समूह के अनुपरोध से न अतिदूर न अतिसमीप, अधिदृष्टि निपात स्थान में स्थित होकर-एक रूप यौवन सम्पन्ना स्त्री को लक्ष्य कर आलोचन, संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान आदि का प्रयोग करे। अयुक्त इच्छा के अवलोकन होने पर केश संयमन आदि काम के लिङ्गों का प्रयोग करना चाहिये इससे स्त्री, पुरुष, तथा नपुंसक वक्ता कहते हैं कि यह अब्रह्मचारी है, कामी है। इस अनृत अभियोग से उनका पुण्य तथा सकृत इनको प्राप्त हो जाता है तथा इनका पाप उनको प्राप्त हो जाता

है। इस तरह यह शृंगारण की क्रिया है। इत यह अभियजन, आज्ञा तथा नियोग अर्थ में है, वा शब्द क्राथन, मण्टन, स्पन्द, शृंगारण आदि अन्य क्रियाओं के विकल्प के अर्थ में है। अन्य क्रिया होने के कारण यह वा शब्द अपुनरुक्त अर्थ में द्रष्टव्य हैं ॥१५॥

प्रश्न है–क्राथन इत्यादि चार क्रियाएं जिसकी नहीं हैं वे उनके सामान्य होने के कारण......? कहा गया है–

जो दीक्षित यजमान को पीठ पीछे निन्दा का विषय बनाते हैं वे उनके पाप वाले होतें हैं। पृष्ठतः [पीछे-पीछे] पद के साथ अग्रतः, पार्श्वतः को भी जोड़ लेना चाहिये इसलिये क्राथन करे, स्पन्दन करे, मण्टन करे अथवा श्रृगारण करे। कैसे? अतियजन आदि से विशेषित होने के कारण। कैसे? सर्वज्ञ सवन के कारण तथा अर्थ की अविसम्वांदिता के कारण लोक के अपरिग्रह का अभाव हो जायगा ॥१५॥

प्रश्न है– क्या केवल चार क्रियाएँ ही कर्तव्य हैं? उत्तर है– नहीं। जैसा कि कहा है–

अपितत्कुर्यात् ॥१६॥

यहाँ अपि शब्द क्राथन आदि सम्पूर्ण क्रियाओं के समुच्चय के कथन के अर्थ में है। तत् शब्द अनेकान्त अर्थ में है। कुर्यात् यह क्रिया कुशल भाष्य वृत्ति की ओर इंगित करती है। अविरोधी यमों का, सुविरूप द्रव्यों का काष्ठ, लोष्ठ आदि का ग्रहण, चारण एवं संस्पर्शन आदि करना चाहिये। इससे देखने वाले कहते हैं कि यह असम्यक् कार्य शुचि एवं अशुचि तथा कार्य एवं अकार्य के विभाग का अज्ञाता है। इस अनृत अभियोग से इस साधक की धर्म एवं अधर्म के हान एवं आदान से शुद्धि होती है ॥१६॥

प्रश्न है– क्या ये क्रिया पञ्चक ही करणीय है? उत्तर है– नहीं; जैसा कि कहा है–

अपितत्भाषेत [व्यर्थ शब्दों का उच्चारण करे] ॥१७॥

यहाँ अपि शब्द सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्ति के उपादान की सम्भावना के अर्थ में है। तत् शब्द अनेकान्त अर्थ में है। भाषेत् यह वाक्य वृत्ति की ओर इंगित

करता है। इत् पद निरर्थक पुनरुक्त एवं नष्ट शब्दों का भाषण करना चाहिये यह बताता है। इससे देखने वाले कहते हैं कि यह असम्यग्वादी तथा वाच्य एक अवाच्य के विभाग का अज्ञ का अज्ञ है। इस अनृत अभियोग से इसके धर्मा-धर्म के त्याग तथा आदान एवं शुद्धि होती है। ।।१७।।

प्रश्न है– क्या हसित आदि के समान पाठक्रम के अनुसार ही क्राथन आदि का प्रयोग करना चाहिये और क्या प्रयोजन रखना चाहिये? उत्तर है– परिभवादि की निष्पत्ति हेतु। जैसा कि कहा है।

जिससे परिभव प्राप्त करे ।।१८।।

यहाँ यत् शब्द अतिक्रान्त के उपेक्षा तथा वीप्सा के अर्थ में है। परिभव पूर्वोक्त है। गच्छेत् इसका अवमान्, परिभव, परिवाद प्राप्त करे यह अर्थ है। इस प्रकार यहाँ व्यक्ताचार [अ० ३ सू० २] संक्षेपतः उक्त क्राथनादि आचारों का विस्तार विभाग विशेष उपसंहार आदि व्याख्यात हुये यह अर्थ है ।।१८।।

प्रश्न है– कि कितने समय तक परिभव आदि को प्राप्त करना चाहिये अथवा किस प्रकार के साधक द्वारा? उत्तर है– क्योंकि परिभूयमान विद्वान् कृत्स्नतपा हो जाता है ।।१९।।

यहाँ परिशब्द सर्वतोभाव अर्थ में है। भूयः शब्द का अर्थ है अनेकशः अवमान इत्यादि को प्राप्त करना चाहिये। मान शब्द पूर्वोक्त अर्थ में है। हि [क्योंकि] शब्द कृत्स्नतप और उत्कर्ष के अर्थ में है, सापेक्ष रूप में द्रष्टव्य है। विद्या वह है जो ग्रन्थ के अर्थ में विद्यमान पदार्थों की अभिव्यंजिका तथा विप्रत्व स्वरूपा हो। न्याय से पदार्थों के प्रत्यय को अधिगत कर लेने वाला लाभ, मल के उपाय के अभिज्ञ व्यक्ति को विद्वान कहा जाता है। कृत्स्न का अर्थ है प्रयोग के प्राप्त हो जाने पर पर्याप्ति को प्राप्त कर लेता है न कि हर्षादि के प्राप्ति कर लेने पर यह अर्थ है। कृत्स्नतपा का पर्याप्ततपा साधक यह अर्थ है। भवति का अर्थ है भूतार्थवाद निःसंशय। जब यम-नियमों में दृढ़ होकर क्राथनादि का प्रयोग करता है तब कृत्स्नतपा हो जाता है। कृत्स्न तप का लक्षण आत्म-प्रत्यक्ष को समझना चाहिये ।।१९।।

इस प्रकार अध्याय परिसमाप्ति कर कहना उचित है–

यहाँ इस ब्रह्म का जप करें ।।२०।।

इसका पूर्वोक्त अर्थ है ।।२०।। वह ब्रह्म क्या है? उत्तर है–

अघोरों के लिये [सुखकर उन्नत शरीरों के अधिष्ठाता के लिये ।।२१।।

अथवा ब्रह्म के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध हो जाता है। कैसे? मनोग्रहण के कारण अर्थ रूप विहीन हो जाते हैं क्या वे स्वरूप सलक्षण तथा विलक्षण है अथवा सलक्षण-विलक्षण दोनों है? क्या वे परिमित और अपरिमित है अथवा परिमित- अपरिमिति दोनों है? उत्तर है– कारणत्व बहुत्व रूप से उक्त भगवान का रूपनानात्व, वैलक्षण्य अवैलक्षण्य, परिमितत्व तथा अपरिमितत्व कहा जाता है इसलिये कहा अघोरों के लिये। अकार रूपों की घोरता का प्रतिषेध करता है, अघोर का अर्थ है अतिशान्त अनुग्रह कर। येभ्यः इसका अर्थ है अपरिमित, अपरि-संख्यात के लिये ।। २१।।

प्रश्न है—क्या ये ही अथवा इनके लिये ही [उपासना] करनी चाहिये? उत्तर है—नहीं। जैसा कि कहा है–

घोरों के लिये भी ।।२२।।

यहाँ अथ शब्द घोर रूपोपाधि के अर्थ में द्रष्टव्य है। घोर शब्द का अर्थ है अशिव, अशान्त, अनुग्रह कराने वाला। येभ्यः का अर्थ है अपरिमित अपरिसंख्यात के लिये ।।२२।।

प्रश्न है—क्या भाग द्विसंस्थानस्थ के लिये ही उपासना करनी चाहिये? उत्तर है– जैसा कि कहा है–

घोर एवं घोरतर के लिये भी ।।२३।।

यहाँ घोर यह भगवान का नाम है। द्वितीय घोर शब्द रूपों के अर्थ में द्रष्टव्य है, तर शब्द विशेषण अर्थ में है। ज्ञान-तरादि के समान। उन घोर एवं अघोरों के लिये जो अन्य पशुओं के सम्मोहकर होते हैं उन्हें घोरतर कहते हैं। येभ्यः का अपरिमिति एवं असंख्यात के लिये यह अर्थ है। च शब्द घोर एवं अघोर रूपों के उपसंहार के अर्थ में द्रष्टव्य है। ये ही तीन रूप, अन्य नहीं, यह अर्थ है ।।२३।।

प्रश्न है– कहाँ से उन रूपों को प्राप्त करता है अथवा ये रूप कहाँ रहते हैं? उत्तर है–सबके लिये ।।२४।।

यहाँ जो रूप है वे कारण अर्थ में है। सर्वत्व कैसे? सर्वत्र अनवकाश दोष के कारण सूची के अग्रभाग पर द्विनाभीय बदरी फल [वेर] के समान। किन्तु कारण शक्ति से अव्याहत होने के कारण भी ये सर्वत्र हैं यह अर्थ है ।।२४।।

प्रश्न है– रूपकरण में, करणों के विषय में इसका अप्रतिघात है यह कहाँ से सिद्ध होता है? यहाँ, जैसा कि कहा है–

शर्व एवं सबके लिए ।।२५।।

यहाँ शर्व, यह शब्द भगवान का नाम है। शर्व कैसे? विद्या इत्यादि कार्य के कारण शर्व यह कहा जाता है। सर्व विद्यादि कार्य रुद्रस्थ हैं। सबमें भगवान उदक कारण के रूप में सर्वत्र रहते हैं। सर्व शब्द विसंख्य रूपों में निरवशेष वाची अर्थ में द्रष्टव्य है। येभ्य का अपरिमित एवं असंख्य के लिये यह अर्थ है ।।२५।।

प्रश्न है–इस रूप विभूति को जानकर साधक को क्या करना चाहिये? उत्तर है–

रुद्र रूपों के लिये नमस्कार होवे ।।२६।।

नमः यह आत्मप्रयुक्त अर्थ में है, तो यह कारणापदेश अर्थ में है। तुम्हारे लिये नमस्कार है अर्थात् नमस्ते। अथवा नमस्कार से आत्मप्रदान करके धर्मप्रचय के परिग्रह की इच्छा करता है। यह कौन परिग्रह है? उत्तर है– विशिष्ट अर्थ में परिग्रह के कारण अतः कहा जाता है। यहाँ रुद्र शब्द करण के उपदेश अर्थ में हैं। जिन शरीरों को उत्पन्न करता है उनके लिये। यहाँ रुप के व्यपदेश से रूपों के विषय में नमस्कार द्रष्टव्य है। कैसे? तदभिसन्धि प्रयोग में नमस्कार द्रष्टव्य है। शिवपुरी में उपस्थान के समान। येभ्यः का अर्थ है। अपरिमित एवं असंख्यात के लिये। रूपनिर्देशार्थ एवं अन्नत्व के कारण पुनरुक्त एवं अपुनरुक्त अर्थ में इन शब्दों को समझना चाहिये ।।२६।।

इस प्रकार यहां भगवत् कौण्डिन्य कृत पञ्चार्थ भाष्य में तृतीय अध्याय ब्रह्मं के साथ ग्रन्थ एवं अर्थ के रूप में परिसमाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय

इसके पश्चात् प्राप्त चतुर्थ अध्याय को ससम्बन्ध कहूँगा। प्रश्न है– यदि ऐसा है तो यह बतावें यह चतुर्थ अध्याय किस पदार्थ के शेष रूप से सम्बद्ध है? उत्तर है– विधि शेष से। कैसे?। यहाँ पूर्वत: कहा गया है– विद्वान कृत्स्नतपा हो जाता है [अ० ३ सू० १९]। विद्या एवं तप का प्रयोजन उक्त हो चुका है। तप का गोपन उक्त नहीं है. वह कहूंगा तथा कृत्स्नतप का अर्जन तथा अर्जित तप का रक्षण नहीं कहा गया है, वह कहूंगा तथा विद्वान के वसति हेतु सम्यक् साधन प्रयोग, अनुग्रह एवं अवस्थानान्तर तथा अनुस्नान यन्त्रस्थ साधन तथा उस परिभव के समयानुकूल वचन की विधि, प्रत्यवलोकन की विधि तधा प्रशंसा इन सब की कहूँगा। अत: कहा जाता है–

गूढ़ विद्या तप के आनन्त्य के लिए प्रकाशित की जाती है ॥१॥

गूहू धातु रक्षा अर्थ में है। रक्षा करनी चाहिये न कि प्रकाशित करना चाहिये यह अर्थ है। गोपन का अर्थ है अप्रकाश। स्व, पर तथा अन्य की प्रकाशिका विद्या प्रदीप के समान पूर्वोक्त है। साधक में गूढ़ विद्या लिङ्गों के द्वारा गोप्य है। यह अर्थ है। गूढ़ विद्या वाले साधक की क्या कार्यनिष्पत्ति है? एतदर्थ उक्त है- ''तप के आनन्त्य के लिये प्रकाशित की जाती है यह अर्थ है अथवा पुरव महिता [खराव ख] के समान तप के आनन्त्य के लिये प्रकाशित की जाती है यह भी पाठ है इसलिये यहाँ तप है। इसका निर्वचन पूर्वोक्त है। आनन्त्य भी योग का पर्याय प्रतीत होता है। अतिगति से सायुज्य के समान तप का कार्य होने के कारण। प्रश्न है–क्या परिमित अर्थों के विषय में भी आनन्त्य शब्द है अथवा अपरिमित अर्थों के विषय में या परिमति- अपरिमित दोनों अर्थों के विषय में। उत्तर है–परिमित अपरिमित दोनों अर्थों के सन्दर्भ में आनन्त्य शब्द है। यहाँ ईश्वर की एकैकश: परिमित पदार्थों में उन्हीं के विषय में विभु होने के कारण अपरिमित

अर्थों के विषय में तथा परिगित एवं अपरिमित दोनों के विषय में इसकी शक्ति अभिव्यक्त है। इसके कुशल एवं अकुशल दोनों ही भावों के अर्थ में आनन्त्य शब्द है जैसा कि कहा है--

''केवल ये ही मेरे शरीर नहीं हैं।''

''तथा रुद्र, समुद्र, अनन्त, भास्कर, नम, आत्म एवम् ब्रह्म है इस प्रकार भेद दर्शन नहीं किया जा सकता।''

''हे पार्थ ! योजन पर्यन्त आपत अनात्म वेत्ताओं के द्वारा अध्यस्त पंक्ति को पंक्ति के मूर्ध भाग में नियुक्त वेदवित् पवित्र करता है।''

''तथा आत्मवित् द्विज वेदवित् की पंक्ति को पवित्र करता है और जो नानात्व को नहीं देखता वह विद्वान आनन्त्य को पवित्र करता है।''

आनन्त्याय में चतुर्थी विभक्ति है अतः यह तप कार्य है न कि विद्या। प्रकाश का अर्थ है भाव प्रकाश्य न कि प्रदीप के समान। कैसे? योग को अधिकृत करने वाले साधक का प्रदीप के स्थान पर उपस्थापित यम स्वरूप पर को आवरक [आच्छादक] अभिभूत करके प्रकाशित करता है। चक्षुस्थानीय विद्या के द्वारा कुशल विवेकादि कार्य माहात्म्य, अतिगति, प्रकाश, प्रवृत्ति, स्मृति, सायुज्य, स्थिति आदि का प्रकाशन तपः कार्य है यह अर्थ है। इस प्रकार गुप्त ब्राह्मण में तप आनन्त्य के लिये प्रकाशित होता है, यह अर्थ है। प्रश्न है-- स्वभाव उक्त होने के कारण अतिन्द्रिय आत्मगति विद्यागोप्य है। उत्तर है-अव्यक्त प्रेतादि अवस्थान स्वरूप लिङ्गों से गोप्य है यह अर्थ ॥१॥

प्रश्न है-- कौन से वे विद्यालिङ्ग हैं जिनके गुप्त होने के कारण विद्या गुप्त हो जाती हैं? उत्तर है-- ब्रत आदि। जैसा कि कहा है--

गूढ़व्रत ॥२॥

यहाँ गूढ़ का अर्थ है प्रच्छन्न प्रकाश। व्रत का अर्थ है जो आयतन में स्नान हसित आदि साधन वर्ग है वे व्रत हैं। कैसे? समान रूप के लिये जाने के कारण। जैसा यह ब्राह्मण है वैसा प्रयोग करता है जिस प्रकार का लौकिकों का धर्म-साधन भाव नहीं है इसलिये गूढ़व्रत कहा। प्रश्न है-- उन व्यक्त प्रेतत्व के कारण ही गूढ़त्व प्राप्ति से पुनरुक्ति होती है? उत्तर है-अर्थान्यत्व के कारण अपुनरुक्त है।

वहां अवस्थान मात्र ही अव्यक्त है किन्तु यहाँ स्नान, हसित आदि का भी गोपन होता है और भी वहाँ निष्पन्न लिङ्ग भी अव्यक्त है किन्तु, यहाँ निष्पत्ति काल में भी गोपन का उपदेश है। व्यक्त प्रेतता विद्या का लिङ्ग नहीं है इसलिये अपुनरुक्त है। अतः गूढ़व्रत के उपदेश के लिये तथा स्थान अपदेश एवं अपवाद के लिये स्थान के विषय में कहना चाहिये। स्नान, हसित आदि गूढ़रूप में कर्तव्य हैं। इस प्रकार विद्या गुप्त होती है यह अर्थ है ।।२।।

प्रश्न है—क्या केवल व्रत ही विद्यालिङ्ग के रूप में गोप्य है अथवा अन्य भी है अथवा नहीं? उत्तर है-है। जैसा कि कहा है—

गूढ़ एवं पवित्र वाणी वाला ।।३।।

यहाँ गूढ़ का अर्थ है गुप्त प्रच्छन्न और प्रकाश। पवित्र का अर्थ है, सव्य, संस्कृत अर्घ्यहेतु सम्पन्न न कि विपरीत। वह वाणी गोप्य है यदि आप प्रश्न करें कि क्यों? तो उत्तर है जातिज्ञान तथा तपः स्तव सूचनार्थ जिस प्रकार शरद ऋतु की सूचना कुरर [पक्षी] देता है। ''कहा गया है'' शरद की सूचना कुरर, वसन्त की सूचना कोकिल, वर्षा की सूचना मयूर तथा ब्राह्मण की सूचना पवित्र वाणी देती है। तथा ''मनुष्य की वाणी ही उसके द्वारा उक्त होकर उसके श्रुत की सूचना देती है जिस प्रकार सूर्य की अमलप्रभा सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करके सूर्य की सूचना देती है।''

इसलिये जाति, ज्ञान एवं तपः स्तव होते हैं। इस प्रकार स्तुति होने पर अवसानादि से युक्त पुण्य पाप की क्षय एवं वृद्धि का अभाव होता है। इसलिये वह उक्त होता है गूढ़ पवित्र वाणी वाला ।।३।।

प्रश्न है— क्या व्रत एवं वाणी केवल ये ही दो गोप्य हैं? अथवा अन्य भी हैं कि नहीं? उत्तर है—हैं। जैसा कि कहा है—

[सर्वद्वाराणि पिधाय] ।।४।।

समग्र द्वारों को बन्द करके

यहाँ सर्व शब्द द्वार प्रकृति होने के कारण निरवशेष वाची अर्थ में द्रष्टव्य है। क्राथन आदि द्वार? हैं। कैसे द्वार हैं? धर्म एवं अधर्म के आगम एवं व्यय के हेतु के कारण द्वार हैं। द्वाराणि में बहुवचन, विज्ञान यन्त्र एवं इन्द्रिय के समान

है। पिधाय शब्द पूर्व साधनों के प्रयोग की ओर इंगित करता है। कैसे? अवस्थान काल देश क्रिया प्रयोग एवं अन्य प्रयोजनों को विधिवत विवेचित करके जब सम्यक् माया से [अ०४ सू० १२] सन्नाद्य भेद क्रम से प्रयुक्त होते हैं तब पिहित [अवरुद्ध] होते हैं ।।४।।

प्रश्न है– किसके द्वारा वे पिधेय हैं? उत्तर है–

बुद्धि से ।। ५।।

चूँकि इसका श्रोतेन्द्रिय के समान पिधान करके इस सम्यक् ज्ञान प्रयोग के विषय में भगवान सर्वज्ञ के द्वारा विद्या के द्वारा अनुगृहीत बुद्धि से [पिधान करना चाहिये]। यह कैसे ज्ञात होता है? बुद्धि शब्द में तृतीया विभक्ति के प्रयोग से, भस्म से स्नान के समान। न कि ज्ञानरूपा। जिसकी विज्ञानरूपा बुद्धि है न कि ज्ञान रूपा। कैसे ज्ञात होतः है? उसके ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व अचेतन पुरुष उसके अज्ञान के कारण असम्बोध्य हो जायेगा। इसलिये यहाँ त्रिक का चिन्तन होता है- पिधाता, पिधान, पिधेय। यहाँ पिधाता है साधक, पिधान है विद्यानुगृहीता बुद्धि तथा पिधेय है व्रत, वाणी एवं द्वार। क्रमवृत्तिता के कारण बुद्धि का ही प्रयोग करता है- शेष अकर्तृत्व के कारण ही प्रयुक्त होते हैं तब ये विहित होते हैं यह अर्थ हैं।

यहाँ यह विद्या-ज्ञान प्रकरण परिसमाप्त हुआ ।।

प्रश्न है–क्या यहाँ अव्यक्त एवं प्रेत ये दो ही अवस्थान यहाँ कर्तव्य है? वाक् आदि को गोपित करके साधक को क्या करना चाहिये? उत्तर है–

उन्मत्त के समान लोक में एकाकी विचरण करना चाहिए ।।६।।

यहाँ विषय के अभाव में बुद्धि के द्वारा श्रोत आदि वाह्य अन्तः करणों का वृत्ति विभ्रम रूप विषय ग्रहण कर्तव्य है।

यहां–''वात, पित्त, कफ, सन्निपात एवं अभिघात [प्रहार] में पांच उन्माद समाख्यात हैं।''

इस प्रकार ग्रह बहुत्व होने पर जो यह बात, पित्त एवं कफ का समूह है वह सन्निपातित-महाग्रह है। इस प्रकार साधन प्रयोग कर्तव्य हैं, वहाँ यदि कोई

ज्ञान जिज्ञासनार्थ, दयार्थ अथवा अनुग्रहार्थ पृच्छा करे तो उसको लौटाकर कहना चाहिये कि समय से प्रवेश करो। वहाँ से द्वार से प्रवेश करके विपरीत या अविपरीत यदि कोई पूछे कि आप कौन हैं? तो कहना चाहिए कि मैं माहेश्वर हूँ, मैं कौमार हूँ, इसने मेरा दुरत्यय [विघ्न डाला है] किया है, मारने के लिये मेरा स्पर्श किया है न कि विषय क्रीड़ा के लिये, इसके बाद वह छोड़ देता है। इस प्रकार लौकिक परीक्षकों के सम्मोहन हेतु कहा गया है कि उन्मत्त के समान। किञ्चित उन्मत्त प्रेत के समान साधक के अन्तःकरणादि का वृद्धि विभ्रम मात्र ही परिगृहीत होता है। एक का अर्थ है असंवहन करते हुये चिन्तन करे। एक के द्वारा अन्य से विच्छिन्न हो करके, सहायहीन हो करके, यह अर्थ है।

प्रश्न है– एक के द्वारा क्या करणीय है? उत्तर है–विहार, जैसा कि कहा है विचरण करे, यहाँ वि उपसर्ग का अर्थ है विस्तर। चरेत् अर्जन की ओर अर्थात् धर्मार्जन की ओर संकेत करता है। ईत यह आज्ञा और नियोग अर्थ में है। विस्तार नियोग एवं विशेष रूप से विहार करना चाहिए? उत्तर है– लोक में। तीन वर्णों एवं आश्रमों को लोक कहा जाता है न कि ब्रह्मलोकादि को। कैसे? उत्कृष्ट लोकों में असम्भव होने के कारण। लोक में यह सामीपिक सन्निधान है। पर वर्णों या लोकों या उनके सम्मुख विहार करना चाहिए ॥६॥

प्रश्न है– किस वृत्ति को स्वीकार करके लोक में विहार करना चाहिये? क्या सर्वभक्ष को ही? उत्तर है–नहीं, जैसा कि कहा है–

कृतान्न एवं उत्सृष्ट को ग्रहण करें ॥७॥

यहाँ कृत् शब्द से ग्रहण से अकृत बीज, काण्ड, फल आदि का प्रतिषेध होता है। कृत का अर्थ है भिन्न एवं उद्भिन्न करके भक्षण करने योग्य, भैक्ष्य तथा उत्सृष्ट, विधिपूर्वक यथालब्ध अन्न का उपयोग करें। यहाँ कृत शब्द के ग्रहण से अकृत का प्रतिषेध है। अकृत के प्रतिषेध से तन्त्र में सम्पूर्ण हिंसा का प्रतिषेध द्रष्टव्य है। प्रश्न है–क्या कृत का अर्थ बुद्धि घटादि है? उत्तर है-नहीं, जैसा कि कहा है– **अन्न**। यहाँ अन्न के कथन से अन्न से भिन्न वस्तु का प्रतिषेध है वह द्वियोनि है। इन्द्राभिषिक्त तथा इन्द्रियाभिसिक्त। इन्द्राभिषिक्त ब्रीहि, यव इत्यादि है, इन्द्रियाभिषिक्त मांस है। वह पांच प्रकार का है– भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय, चोष्य तथा छह रस हैं मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय। प्रश्न है–

कृतान्न का अर्जन कहां से करना चाहिये? उत्तर है– उत्सृष्ट। यहां उत्सृष्ट ग्रहण से भैक्ष्य तथा यथालब्ध का प्रतिषेध होता है। क्या कारण है? **सून आदि** दोष के परिहार होने के कारण तथा अस्तेय एवं परिग्रह आदि दोष के कारण उत्सृष्ट तीन प्रकार का होता है। निःसृष्ट, विसृष्ट तथा अतिसृष्ट। निमित्त पूर्वक-परित्यक्त अन्न तथा पान को निःसृष्ट कहते हैं। गो, ब्राह्मणादि निमित्त त्यक्त अन्न को विसृष्ट कहते हैं। अतिसृष्ट का अर्थ है अन्न परित्यक्त दया या क्रूरता के कारण भी यदि कोई दे तो वह भी ग्राह्य है। प्रश्न है इस साधक को क्या करना चाहिये?। उत्तर है उपयोग करना चाहिये जैसा कि कहा है–**उपाददीत**। यहाँ उप यह उपसर्ग अभ्युपगम अर्थ में है अर्थात् अत्यन्त-असन्मान तथा सयन्त्रस्थ रूप से, यह अर्थ है। आददीत उपयोग तथा ग्रहण अर्थ में है।

विवक्षित सूत्र के अर्थ में प्रतीत होता है इसीलिये कहा है– ''कामनाओं की वितृप्ति न करने वाले मनुष्य को मृत्यु उसी प्रकार संचित कर ले जाती है जिस प्रकार व्याघ्र किसी पशु को।''

उपयोग करने पर भी **नाथ, कणाद के समान** करना चाहिये। इसलिये उपयोग करना चाहिये। ऐसा कहा है। इत का अर्थ है आज्ञा अथवा नियोग इसलिये उत्सृष्ट तथा विधि प्राप्त अन्न का उपयोग करना चाहिये अन्यथा विधि भिन्न क्रम से वृत्यर्जन नहीं करना चाहिये यह अर्थ है ।।७।।

प्रश्न है– व्रत आदि को गोपित करके सम्यक् साधन तथा उत्सृष्ट प्रयोग करने पर साधक के कौन से अर्थ निष्पन्न होते हैं? असन्मान प्रकरण की परिसमाप्ति होती है अथवा नहीं। उत्तर है- होती है जैसा कि कहा है–

उन्मत्त है, मूढ़ है, इतर जन ऐसा मानते हैं ।।८।।

यहाँ **उन्मत्त** पूर्वोक्त ही है इसका निर्वचन पूर्वोक्त है। मूढ़ शब्द में मूह धातु अपरिज्ञान अर्थ में है, यह अव्यक्त है, प्रेत है, उन्मत्त है, मूढ़ है, मूर्ख है ऐसा वक्तागण कहते हैं। इति शब्द अर्थों के निर्वचन के कारण प्रकरण परिसमाप्ति के अर्थ में है। इस प्रकार अवस्थान, काल, देश, क्रिया, प्रयोग, प्रयोजन, गोपन, वसति [निवास] अर्थ, कृत्स्नतप आदि व्याख्यात हुये। एवं का अर्थ है अतिक्रान्त एवं अपेक्षण। मन्यन्ते का अर्थ है अवधारण। इतर का अर्थ है गृहस्थ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, भिक्षु, पाषण्डी, एवं ब्रह्मचर्याधिकृत। जना में जनी प्रादुर्भाव अर्थ में है।

यहाँ जन से वर्णाश्रमी जनों का ग्रहण होता है। कहा है– "हे जन, जन से ही जन उत्पन्न हुआ जन को ही वह उत्पन्न हुआ जन को ही वह उत्पन्न करता है जन की ही चिन्ता करता है, न कि अपनी इसलिये जन तथा आत्मा दोनों की चिन्ता मत कर। इस प्रकार वक्ता कहते हैं यह अर्थ है ।।८।।

यहां आधिकारिक असन्मान चर्याप्रकरण समाप्त हुआ।

प्रश्न है– व्रत आदि को गोपित करके सम्यक् साधन प्रयोग तथा उत्सृष्ट आदि के उपयोग करने पर क्या गुण उत्पन्न होता है? जिस गुण को जानकर अव्यक्त, प्रेत्तोन्नत आदि वाद उत्पन्न होते हैं। उत्तर है– उस गुण को जानकर-कहेंगे। और भी अव्यक्त प्रेतोन्मत्ताद्य, ब्राह्मण कर्म विरुद्ध क्रम को देखकर जब तक यह शिष्य इस अर्थ को नहीं कहता है जब तक हृदयस्थित अशंकित उत्तर को प्राप्त कर कहेंगे, यह सोचकर भगवान् ने यह सूत्र कहा।

यन्त्रों में असन्मान, सबसे उत्तम रूप में स्मृत है

[जन्तूनाम्] इति सूत्रपाठ ।।९।।

यहाँ अकार मान के प्रतिषेध अर्थ में है। मान दो प्रकार का होता है– जात्यभिमान, तथा गृहस्थाभिमान। जात्यभिमान जैसा कि मैं ब्रह्मण हूँ यह है–पूज्य होने के कारण ऊर्ध्वगमनादि कार्यों के उछि्त होने के कारण, तीनों वर्णों के उपदेश के गुरुत्व के कारण, यज्ञ कर्तृत्व के कारण, त्रैलोक्य की स्थिति हेतु के कारण, मैं ब्राह्मण हूँ यह प्रथम मान जाति के उत्कर्ष के कारण होता है तथा गृहस्थादि व्रातमयों के भी पूज्य होने के कारण गृहस्थकृत मान भी होता है। ये दोनों ही मान अव्यक्तलिङ्ग [अ०३,] के कथन से सिद्ध हैं– तथा– "वित्त, बन्धु, यश, कर्म तथा पांचवीं विद्या, एक के पश्चात् दूसरा गरिय एवं मान्य स्थान है। ये एक वासा, प्रेतवच्चरेत्, तथा गूढ़व्रत के उपदेश के द्वारा [अ० १ सू० १०, अ० ३, ११, अ० ४, २,] सूत्र से प्रतिसिद्ध हैं। अतः मान नहीं करना चाहिये। सन् का अर्थ है प्रशंसा अथवा अस्तित्व, आगे उस असन्मान चर्याप्रकरण विशिष्ट को इंगित करता है। हि शब्द उत्तमोत्कर्षपेक्ष अर्थ में द्रष्टव्य है। यन्त्र का अर्थ है अग्निष्टोम, कासोपवास, गृहस्थादिकों के शुद्धि एवं वृद्धि करने वाले उपाय। कैसे? यन्त्र कर्म आदि हैं क्योंकि अन्यत्र लौकिक [कर्मनिष्ठ लौकिक जन] जन

असर्थादावस्थ [अमर्यादावस्थ] हो जाते हैं अतः यन्त्र कहा। यन्त्राणाम् में षष्ठी बहुवचन की विभक्ति है। प्रश्न है– बहुवचन के प्रयोग से सन्देह है इसलिये कितने यन्त्रों का? उत्तर है– सभी यन्त्रों का। यहाँ सर्वेषां का अर्थ है अशेष। सवेषां में षष्ठी का बहुवचन है। प्रश्न है– षष्ठी की साकांक्षता के कारण सन्देह है। उनका यह कारणात्मा है। उत्तर है– "उत्तम"। यहाँ उत्तम शब्द श्रेष्ठतव परमविशुद्धि व्य० ४ आदान आदि भावों में है। कहा गया है–

"वरेण्य, सप्तम, मुख्य, वरिष्ठ, शोभा, उत्तम, अपरार्थ अथवा स्वर्थ ये सभी श्रेष्ठार्थ वाचक हैं।"

"श्रेष्ठ"। यहाँ उत्तम कहा गया है। प्रश्न है-असन्मान सम्पूर्ण यन्त्रों में ? उत्तर है– यह कहां सिद्ध हुआ? उत्तर है–यहाँ। जैसा कि कहा है स्मृतः, यहां स्मृत उक्त का पर्याय है अर्थात् महेश्वर के द्वारा उक्त प्रोक्त, वर्णित यह अर्थ है। विशिष्ट कैसे?। सर्वज्ञ कथन तथा अविसम्वादिता के कारण प्रत्यक्षदर्शियों के वचन विसंवलित नहीं होते यह अर्थ है।।९।।

प्रश्न है–इस क्रम में उत्तमत्ता की व्याख्या करने में आद्य शोधक कौन है? इस विधान का चरण किसने किया? अथवा आचरण करने वाले को क्या फल प्राप्त हुआ? यह हम लोगों के प्रत्यार्थ अर्थात् विश्वास हेतु कहें। इसीलिये कहा है–

सर्वप्रथम असुरों में इन्द्र ने पाशुपत व्रत का आचरण किया ।।१०।।

यहाँ इन्द्र से अभिप्राय देवताओं के राजा से है। कैसे अवगत होता है? असुरों में आचरण के कथन से। यह इन्द्र ब्राह्मण है, श्रेष्ठ हैं। सूत्र में ब्राह्मण [अ० ४ सू० २०] के ग्रहण से तथा सूत्र के प्रतिषेध से [अ० १ सू० १३] भी। यदि धातु परमैश्वर्य अर्थ में है, उसका इन्द्र। इन्द्र उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है। देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृ, पिशाच आदि से श्रेष्ठ हैं न कि ब्राह्मणादि से किन्तु स्वर्ग निवासियों के मध्य ऐश्वर्य विद्या एवं आज्ञा की दृष्टि से श्रेष्ठ होने के कारण इन्द्र है। वा शब्द सम्भावना अर्थ में है। देवताओं में श्रेष्ठ अन्यों के द्वारा भी यह विधान आचरित किया गया। कैसे तुम मनुष्यमात्र से सम्भव है? इसलिये यह विषय संभाव्य है–

प्रश्न है– कब आचरण किया? उत्तर है– पूर्वकाल में। यहां अग्र शब्द का अर्थ पूर्वकाल है। कशिक ईशान से सम्बन्ध से पूर्व। सर्वप्रथम देवतओं में आचरण किया अर्थात् कृत [सत्य, त्रेता, द्वापर आदि युगों में यह अर्थ है सुरों से इतर स्तेय युक्त। प्राणापहरण के कारण असुर प्रजापति के पुत्र के रूप में विज्ञेय है। असुरों के समीप, असुरों के सन्निकट, असुरों के सम्मुख, यह अर्थ है। प्रश्न है वह क्या है? उत्तर है– पाशुपत। यहाँ पशुपति के द्वारा उक्त परिग्रह के अधिकार अर्थ में पाशुपत शब्द है इसलिये इसे पाशुपत कहते हैं अथवा पशुपति का प्रापक होने के कारण पाशुपत है। पाशुपत यह शब्द समस्त एवं सम्पूर्ण विधान का ग्राहक है। कैसे ? चूंकि अव्यक्तादि का क्रम व्यक्त लिङ्गपूर्वक होता है। अतः इस सम्पूर्ण विधान को ही दुःखों के अन्त्येक्षुक इन्द्र ने शुद्धि की वृद्धि हेतु आचरित किया । धर्म बाहुल्य के कारण देवताओं का भूलोक में आचरण हुआ। अचरत् में अतीत काल है। अतीत काल में आचरण किया है यह अर्थ है ।।१०।।

प्रश्न है– इन्द्र के द्वारा असुरों में आचरण करने पर क्या फल प्राप्त हुआ? उत्तर है–

उसने उन असुरों में इष्ट एवं आपूर्त निष्पन्न किया ।।११।।

स का अर्थ है इन्द्र। तेषाम् से असुरों का निर्देश किया गया है। इष्टापूर्तम् में द्वन्द समास है। इष्ट और पूर्त अर्थात् इष्टापूर्त। इष्ट का अर्थ है जो मन्त्रपूर्वक विधि को दत्त, हुत, स्तुत्यादि से निष्पन्न सुकृत। जो अयत्रा पूर्वक निष्पन्न हो उसे पूर्त कहते हैं ।।११।।

इन्द्र ने असुरों के लिये किस उपाय से किया? कहा जाता है–

सुकृत माया से प्राप्त कराया ।।१२।।

क्राथन, स्पन्दन आदि प्रयोंगों से तिरस्कृत साधक को यह निद्राविष्ट, वायुसंसपृष्ट, मन्दवासी असम्यक्कारी, असम्यग्वादी है। इस प्रयोग से जो यह दुष्ट शब्द और अभियोग निष्पन्न होता है उस अनृत के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग है। मानस तथा कायिक अभियोग के अर्थ में भी। मायया में तृतीया विभक्ति है। सुकृतया में सु प्रशंसा अर्थ में है। उस सुकृता अर्थात् सम्यक् प्रयुक्त के द्वारा यहाँ प्रशंसा अर्थ में हैं उस सृकृता अर्थात् सम्यक् प्रयुक्त के द्वारा यहाँ साधक–

साधन प्राधान्य है। अन्दित यह प्राप्ति तथा प्राधान्य अर्थ में है। उसने उन असुरों को इष्टापूर्त दिया। कहा भी गया है–

''आक्रोशन करते हुये व्यक्ति, के प्रति आक्रोशन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार [इससे] रोष की तितिक्षा होती है। ऐसा साधक अपना दुष्कृत उन्हें देकर उनका पुण्य ग्रहण कर लेता है'' ॥१२॥

प्रश्न है–उत्तम इन्द्र? उसने, उनके, उनमें इष्टापूर्त दिया ऐसा कहने पर, पर के अपदेश के माध्यम से इन्द्र की वृत्ति को निर्गुणीकृत किया गया है, तो यहाँ आत्मापदेश है अथवा नहीं? उत्तर है-है। जैसा कि कहा है–

इसलिये यह निन्दा अनिन्दा है ॥१३॥

यहाँ अवमान, परिभव आदि निन्दा है। इसका कुत्सा, गर्हा, यह अर्थ है। यह शब्द निन्दा, उत्तमोत्कर्ष एवं उत्क्षेप [उछालना] अर्थ में द्रष्टव्य है। यह उत्तम शब्द के अधिकार से अवगत होता है। येषां का अर्थ है अतिक्रान्त का अपक्षेपण अवमान, परिभव परिवाद आदि निन्दा यह अर्थ है। अनिन्दा शब्द में अकार निन्दात्व का प्रतिषेध करता है। अनिन्दा का अर्थ है अकुत्सा, अगर्हा। यह तस्मात् शब्द पूर्वोत्तर की अपेक्षा करता है। इसमें पूर्व की आकांक्षा में सम्पूर्ण निन्दा का प्रकरण तथा गुण कथन है इन्द्र की भी शुद्धि वृद्धि कारिणी आत्मापदेश तथा परापदेश के द्वारा भगवान् ने असन्मान चर्या का संकेत किया यह अर्थ है। निराकांक्षा के निर्देश से जिस-जिस रूप में वर्णित हुआ, उस-उस रूप में उसकी व्याख्या की गयी ॥१३॥

निन्दा के अनिन्दितत्व गुण को जानकर साधक को क्या करना चाहिये?। कहा जाता है–

निन्द्यमान होते हुये विचरण करना चाहिये ॥१४॥

यहाँ निन्दा पूर्वोक्त है, निन्द्यमान से वर्तमान काल की निन्दा यह अर्थ है। चरेत् से अर्जन की ओर संकेत है इसका अर्थ धनार्जन तथा नियोग भी है। संशयान्यत्व के कारण चरिशब्द अपुनरुक्तरूप में द्रष्टव्य है ॥१४॥

इस प्रकार यहां आनुषंगिक असन्मार्ग चरि प्रकरण परिसमाप्त हुआ।

प्रश्न है–निन्द्यमान होते हुये विचरण करे यह कहकर आद्य विधान आचरण करने वाले साधक का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है?। निष्पन्न हो जाने से भी किस प्रकार का अभिलाष [लाभ] होता है? कहा जाता है–

अनिन्दितकर्मा ॥१५॥

यहाँ चर्योत्तर सम्बंन्ध के कारण जो यह अनिन्दितकर्म या धर्म है वहीं निन्द्यमान विचरण करने वाले को निष्पन्न होता है यह अर्थ प्रतीत होता है। इसलिये वह साधक अनिन्दित कर्मा हो जाता है ॥१५॥

प्रश्न है–निन्द्यमानरूप में विचरण करते हुए साधक का अनिन्दित कर्मत्व कहाँ सिद्ध है? उत्तर है– यहाँ। जैसा कि कहा है–

यह पन्थ सर्व विशिष्ट है ॥१६॥

यहां अयं शब्द प्रत्यक्षां अर्थ में है जैसे वह पुरुष ॥१६॥

यथाविधि चर्या इसको लक्ष्यकर जो क्रियायें तथा-अनिन्दित कर्म होते हैं उनका निर्वचन भगवान् ने किया है।

सत्पथ वाला ॥१७॥

कैसे? रुद्र का सामीप्य प्राप्त कराने के सामर्थ्य से। अनावृत्ति प्राप्त कराने के सामर्थ्य के कारण भी वह अविकल होता है। इसलिये सर्वज्ञ कथन के अविसंवादी होने के कारण यह साधक सत्पथ वाला होता है यह अर्थ है ॥१७॥

प्रश्न है–अन्य पन्थ अथवा मार्ग नहीं है? उत्तर है-है। किन्तु–

अन्य पन्थ कुपथ है ॥ १८॥

यहां कु, कुत्सा अर्थ में है। कैसे? कु शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है, कुपुरुष के समान। पन्थ का अर्थ है विधि, उपाय। कु शब्द यहां अनावृत्ति के उत्कर्ष के अर्थ में है। अन्य पन्थ से ताप्पर्य है- गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, भिक्षु एवं पाषंडियों के पन्थ। वे कुपथ हैं ॥१८॥

नहीं। प्रश्न है–यही सत्पथ है शेष कुपथ है यह कैसे सिद्ध होता है? इसका सत्पथत्व क्या है? अथवा शेष का कुपथत्व क्या है?। यहां जैसा कि कहा है–

इस विधि से रुद्र के समीप जाकर ॥१९॥

यहां अनेन यह अनपेक्ष अर्थ में है। विधि का अर्थ है भस्मस्नान क्राथन आदि उपाय के द्वारा। विधिता में तृतीया विभक्ति है। रुद्र शब्द कालोपदेश अर्थ में है। रुद्र का रुद्रत्व पूर्वोक्त है। समीप यह योग का पर्याय है। कैसे प्रतीत होता है? अन्य विधियों के नैरन्तर्य से उक्त होने के कारण। विधि की विषयता के होने पर भी पुरुष तथा ईश्वर का विषयाधिकार कृत वियोग को देखकर ज्ञान के द्वारा परिदृष्टि विधि से अध्ययन एवं ध्यान से अधिकृत विशुद्ध भाव एवं समीपस्थ यह अर्थ है। गति का अर्थ है भाव की प्राप्ति। त्वा प्रत्यय विधि एवं कर्म अर्थ में निष्ठार्थक है ॥१९॥

प्रश्न है– यहाँ इस प्रकार विध्याचरण तथा समीपगमन किसके लिये उपदिष्ट होता है? उत्तर है- तीर्थ यागादि धर्म के समान सबके लिये नहीं परन्तु संस्कार के समान केवल ब्राह्मण के लिये जैसा कि कहा है–

कोई ब्राह्मण पुनरावर्तिव नहीं होता ॥२०॥

यहां न कार का उपदेश अन्य आचरण तथा प्रतिपत्ति के निषेध अर्थ में है। कश्चित् शब्द ब्राह्मणों के विषय में ही है। गृहस्थ, ब्रह्चारी, वानप्रस्थ, भिक्षु एकवेद, द्विवेद, चतुर्वेद, अथवा गायत्री मात्रासार कोई भी ब्राह्मण इस विधि से रुद्र समीप्य को प्राप्त कर पुनरावर्तित नहीं होता यह अर्थ है। ब्राह्मण ग्रहण, ब्राह्मण के अवधारण अर्थ में, ब्राह्मण की, यह अर्थ है। क्षेत्रज्ञ अर्थ में ब्राह्मण संज्ञा है। कैसे ? उपचय जन्मयोग संस्कार योग तथा श्रुतयोग से ब्राह्मण होता है। पुनः शब्द पुनरावृत्ति के प्रतिषेध के अर्थ में है जैसे पूर्वकाल में संज्ञान आदि के द्वारा जाकर पुनः पुनः अवार्तित हो जाता है उस प्रकार इस विधि से रुद्र के समीप जाकर एक बार भी आवर्तित नहीं होता। पुनः पुनः सर्वथा भी आवर्तित नहीं होता यह अर्थ है। आङ् उपसर्ग स्वशास्त्रोक्त मर्यादा तथा अभिविधि की ओर संकेत करता है। जिससे इस विधि के द्वारा अज्ञान, कलुश, माया आदि को क्षपित नहीं किया है तथा जो क्षीण है वह बार-बार आवार्तित होता है। उनके साथ संयोग नहीं होता अर्थात् ऊपर जन्म नहीं प्राप्त होता है यह अर्थ है ॥२०॥

इस प्रकार यहां अध्याय की परिसमप्ति करके कहना युक्त है

यहां इस प्रकार ब्रह्म का जप करना चाहिए ॥२०॥

इसका अर्थ पूर्वोक्त है ॥२१॥

प्रश्न है– यह ब्रह्म क्या है? उत्तर है-कारणादि भाव से उक्त भगवान के एकत्व को जानकर साधक इसकी साधना आरम्भ करता है।

उस पुरुष को प्राप्त करे ॥२२॥

[तत्पुरुषाय विद्महे]

यहाँ पूर्वतः कारणत्व बहुत्व तथा नानात्वरूप से उपदिष्ट ब्रह्म का परामर्श करने के लिये तत् शब्द ग्रहण किया गया है। पुरुष शब्द का अर्थ पौरुष्य के अनुपूरण के कारण पुरुष अर्थ किया गया है। पौरुष्य अनेक रूपों में अवस्थान के कारण होता है। उसमें अवस्थित होने वाले रूप अधोर आदि हैं। तत्पुरुषाय में चतुर्थी विभक्ति है जिस प्रकार ग्राम के लिये तत्व जानने की इच्छा करता है। विद्महे में विद् धातु ज्ञान अर्थ में है। विद्महे का अर्थ है जानें प्राप्त करे ॥२२॥

प्रश्न है– पुरुष बहुत्व के कारण सन्देह है तो किस पुरुष के लिये? उत्तर है–

महादेव के लिये हम विलीन हो जाय ॥ २३॥

[महादेवस्य धीमहि]

यहां महादेवत्व पूर्वोक्त है। महादेवाय में चतुर्थी विभक्ति है। धीमहि में धिम् धातु संप्लेषण अर्थ में है। इसका अर्थ है ध्यान करें, लीन हो जांय। यहां धी ज्ञान शक्ति का पर्याय है जिसके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों के तत्व का ज्ञान करता है। जिसके द्वारा विधि एवं योग के आचरण में समर्थ होता है वह क्रिया शक्ति है ॥२३॥

प्रश्न है– क्या इस दृक् एवं क्रियाशक्ति को साधक महादेव से स्वशक्ति से प्राप्त कर लेता है अथवा परशक्ति से या दोनों की शक्ति से? उत्तर है–परशक्ति से। जैसा कि कहा है–

वह रुद्र हम लोगों को स्व में लीन कर ले ॥ २४॥

तत् से दृक् तथा क्रियाशक्ति दोनों का ग्रहण किया गया है। न यह आत्मकथा अर्थ में है, इसका अर्थ है हम लोगों को। रुद्र शब्द कारणापदेश अर्थ में है। रुद्र

का रुद्रत्व पूर्वोक्त है। प्र उपसर्ग आदि कर्म अर्थ में है। चुद धातु प्रेरणा अर्थ में है, प्रेरण का अर्थ है ज्ञान शक्ति क्रिया का संयोग। याद् ''यह लिप्सा अर्थ में है इसका अर्थ है मुझे संयुक्त करो। कहा है–

''जो योग रुद्र इच्छापूर्वक ज्ञान एवं क्रिया की शक्तियों से पशु आदि में सम्भव है उसी को आचार्यो ने प्रेरणा कहा है'' ।।२४।।

इस प्रकार यहां भगवान् कौण्डिन्य कृत पञ्चार्थ भाष्य में चतुर्थ अध्याय ब्रह्म के साथ ग्रन्थ तथा अर्थ दोनों ही दृष्टियों से परिसमाप्त हुआ।

पञ्चम अध्याय

अब अवसर प्राप्त पञ्चम अध्याय को सम्बन्ध करके बतायेंगे। जैसा कि कहा है–असङ्ग योगी। यही पञ्चम अध्याय का आदि है अब चार अध्यायों के साथ पञ्चम अध्याय का सम्बन्ध करके व्याख्यान करेंगे। प्रश्न है–चतुर्विधत्व के कारण सन्देह है? यहाँ चार प्रकार का असम्बन्ध है सूत्र सम्बन्ध, प्रकरण सम्बन्ध अध्याय सम्बन्ध तथा दूरस्थ। कहा है– ''सूत्रं प्रकरण अध्याय में तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं तथा अर्थशेष के कारण दूरस्थ सम्बन्ध भी पूर्व से सम्बन्ध के लिये माना जाता है।''

इस प्रकार चार सम्बन्ध होते हैं इसलिये हम लोगों को संशय है कि यह कौन सम्बंन्ध है? उत्तर है– यह सूत्र प्रकरण तथा दूरस्थ सम्बन्ध नहीं है अपितु अध्याय सम्बन्ध हैं। प्रश्न है– यदि ऐसा है तो आप बतावें कि किस पदार्थ के शेष रहने के कारण यह सम्बन्ध कहा जाता है? शेष रूप में क्या नियत है जिसका सम्बन्ध किया जाता है? उत्तर है– पहले चार अध्यायों में कारणत्व, बहुत्व एवं नानात्व रूप से उक्त भगवान का एकत्व नहीं कहा गया है उसकों कहेंगे। कारणत्व कहा गया है। पति होते हुये आद्या, अजात् एवं भवोद्भव है [अ० १, सू० ३८, ४०, ४४,]। बहुत्व का भी प्रतिपादन हुआ है– नाम, देव, ज्येष्ठ, रुद्र, कामी, शङ्कर, काल, कल, विकरण, बल प्रमथन, सर्वभूत दमन, भव-अमन [अ० २ सू० १.४, ६, २० एवं २३.२७]। नानात्व भी कारणत्व, बहुत्व, नानात्व रूप से उक्त भगवान का एकत्व प्रतिपादित करेंगे। भगवान महेश्वर के विषय में जिस प्रकार का योग करना चाहिये उस तत्व का निर्देश करेंगें। कहा है– 'दोनों' प्रकार से यजन करना चाहिये [अ० २ सू० ९]। किस प्रकार के महेश्वर में दोनां प्रकार के यजनादि करना चाहिये? इसीलिये कहा है– जिस प्रकार के महेश्वर में दोनां प्रकार के यजन कर्तव्य है, भक्तिसामीप्य, देवनित्यता, नित्ययुक्ता, अध्ययन, ध्यान, स्मरण, सायुज्य तथा चित्तस्थिति द्रष्टव्य है, वैसा कहूंगा और जिस प्रकार दोषादि

विशिष्ट यह आत्मा शुद्ध से युक्त हो जाता है वैसा कहूँगा। तन्निष्ठ योग लक्षण निष्ठायोग तथा क्रियायोग का प्रतिविभाग तथा वसति के अर्थ में वृत्तिबल एवं क्रिया बल इन सबको कहूँगा तथा सामीप्य प्राप्त साधक की चित्त की स्थिति भी बताऊंगा। इस प्रकार इन उक्त शेषों से पञ्चम अध्याय का सम्बन्ध है जैसा कि कहा है–

असङ्ग ॥१॥

यहाँ अकार सङ्ग के प्रतिषेध अर्थ में है। यहाँ सङ्ग से तात्पर्य है पुरुष में विषयीत्व। उस विषयीत्व से योग होने के कारण पुरुष जब अध्ययन तथा ध्यान से च्युत होता है। त्रिकाल में होने वाले दृष्टान्त श्रवण, प्रेक्षण स्वरूप वन–गज के समान यह अर्थ है। असङ्गीत्व है, यह अर्थ है ॥१॥

प्रश्न है–क्या एकमात्र असङ्गीत्व ही कहा गया है अन्य लक्षण नहीं? उत्तर है-जैसा कि कहा है–

योगी ॥२॥

यहाँ योग का अर्थ आत्मेश्वर संयोग रूप योग समझना चाहिये। कहा भी है–

''शंख, दुन्दुभि के निर्घोष एवं विविध गीत तथा वाद्यों के क्रियमाण होने पर भी न जगे, यह योगी का लक्षण है ॥२॥

प्रश्न है–क्या ये दो लक्षण ही योगी के कहे गहे गये हैं? नहीं; जैसा कि कहा है-

नित्यात्मा ॥३॥

यहाँ नित्यत्व विशेषण से अनित्यत्व की निवृत्ति होती है। नित्यत्व का अर्थ है विमुक्त के होने पर भी पुरुष एवं ईश्वर का मन के साथ गत वृत्ताकार आत्मा का, भाव का विषय के प्रति क्रमापेक्ष अवस्थान वृक्ष [पक्षी] शकुनि के समान। उसके महेश्वर में निवृत्त हो जाने पर योगी को युक्त एवं नित्य कहा जाता है। आत्मा का अर्थ है क्षेत्रज्ञ। कैसे प्रतीत होता है? चित्त स्थिति के उपदेश से योग हेतु, विद्याचरण के उपदेश से अङ्ग योगी, युक्त आत्म, अज, मैत्रादि का चेतन में ही सम्भव होने के कारण न कि कार्य-करण प्रधानादि अचेतनों में। उस चेतन के विषय में ही आत्म शब्द का प्रयोग है। आत्मा कैसे?। सतत् गमन करे उसे

आत्मा कहतें हैं अथवा कार्य-करण को आपूरित कर विषयों का जो बोध कराये उसे आत्मा कहते हैं। कहा गया है ''जो विषयों को प्राप्त करता है, ग्रहण करता है, भोग करता है तथा जिसका अस्तित्व सतत् है उसे आत्मा कहते हैं।

वह आत्मा श्रोता, स्प्रष्टा, द्रष्टा, रसयिता, व्राता, मन्ता, वक्ता, बोद्धा इत्यादि है। कहा है- ''वह आत्मा पुरुष, चेत भोक्ता क्षेत्रज्ञ, पुद्गल, जन, अणु, वेद, अमृत, साक्षी, जीवात्मा, परिभू एवं पर है।''

उसका सुख-दु:ख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, चैतन्य आदि लिङ्गों के द्वारा अधिगम किया जाता है यह अर्थ है। ।।३।।

प्रश्न है– क्यां योगी के तीन ही लक्षण कहे गये हैं? नहीं; जैसा कि कहा है–

अज ॥ ४॥

यहाँ अज शब्द अन्य अर्थ के प्रादुर्भाव के प्रतिषेध अर्थ में कहा गया है। यहां अन्य अर्थ का अर्थ है शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से भिन्न अध्ययन, ध्यान, स्मरणादि। इनमें जो नहीं जाता उसे अज कहते हैं ।।४।।

प्रश्न है–क्या चार लक्षण ही योगी के कहे गये हैं? नहीं, जैसा कि कहा है–

मैत्र ।।५।।

यह मैत्र समता अर्थ में है जैसा– मैत्र आदित्य, महेश्वर के सर्वभूत स्थित होने पर स्थित चित्त साधक इच्छा द्वेष विनिवृत्त होकर अप्रवृत्ति मान होने के कारण मैत्र कहा जाता है। इसलिये कार्य कारण वाला ही चित्त स्थिति के साथ-साथ असङ्गादि भाव से युक्त होता है ।।५।।

प्रश्न है–यह कैसे प्रतीत होता है कि कार्य-कारण वाला ही चित्त स्थिति के समकाल ही असङ्गादि भाव से युक्त होता है? कहा जाता है– प्रतीत होता है, जैसा कि कहा है–

पूर्णरूपेण युक्त होता है ।।६।।

यहाँ अभि शब्द विशेषण है। इसकी क्या विशेषता है? कहा जाता है–यह सङ्गी, अयोगी, अनित्यात्मा, अजन, अमैत्र होकर असङ्गादि भावों से युक्त होता

है यह विशेषता है। जायते में जनी धातु प्रादुर्भाव अर्थ में है। इसलिये कार्य-कारण वाला ही चित्त स्थिति के समकाल असङ्गादि भावों से साथ-साथ युक्त होता है। अवश्यादि के समान [अ० १ सू० २८] यह अर्थ है ॥६॥

असङ्ग आदि भावों में कौन से वे अभ्युपाय हैं जिनसे वह प्रादुर्भूत होता है?। कहा ज़ाता है-

इन्द्रियों के अभिजय के द्वारा ॥७॥

यहां जय का अर्थ है विजय करने का भाव। उस जय से असङ्गादि प्राप्त होते है। यहां परिग्रहण के कारण इन्द्रिय से लेकर बुद्धि आदि वाक् पर्यन्त त्रयोदश करण समर्थ होते हैं। उनके अभिजय के कारण यह अर्थ है- प्रश्न है बुद्धि आदि की सिद्धि किस प्रकार होती है? उत्तर है-सिद्धता के कारण। यहां मति तथा बुद्धि के विधान तथा स्थापन के उद्देश्य के कारण घट-घट के समान सिद्धता के द्वारा बुद्धि सिद्ध होती है तथा पर के उपदेश से स्वात्मपरात्म के प्रति विभाग के दर्शन से तथा मैं सुर हूं, मैं नर हूं इस भिन्न वृत्तिता के कारण अहंकार सिद्ध होता है तथा मन प्रवृत्त होता है, मनोजवी, मनोन्मन, यह संकल्प, विकल्प वृत्ति नानात्व भी सिद्ध होता है। इस प्रकार पुरुष का त्रिकाल वृत्ति अन्तःकरण व्याख्यात हुआ तथा ज्ञानेन्द्रियों का श्रोत्र व्याख्यात हुआ। पर परिवादादि [अ० ३ सू० ७] कथन से उन्नत रूप में उभयथा प्रमुख द्वि अधिष्ठान में समन्तात् सन्निविष्ट शब्द व्यंजन में समर्थ सिद्ध होता है। तथा अतितप के उपदेश से [अ०२ सू० १६] त्वचा, अन्तर तथा बाहर सन्निविष्ट हो शरीर को व्याप्त कर स्पर्श के व्यञ्जन में समर्थ सिद्ध होती है। तथा मूत्र पुरीष दर्शन के प्रतिषेध से [अ० १ सू० १२], एवं कृतान्नादि के कथन से [अ० ४ सू० ७]। चक्षु अत्यधिक मात्रा में प्रमुख द्विअधिष्ठान में सन्निविष्ट उभयथा घट-रूपादि में व्यञ्जन में समर्थ सिद्ध होता है तथा मांस लवण के उपदेश से [अ० ५ सू० १५] जिह्वा उसके मुख में मांसपेशी में सन्निविष्ट हो, रसज्ञान के जनन से समर्थ सिद्ध होती है तथा प्राणायाम के उपदेश से [अ० १ सू० १५] घ्राणेन्द्रिय अत्यधिक मात्रा में उभयथा प्रमुख द्विअधिष्ठान में सन्निविष्ट होकर द्वन्द के ग्रहण करने में समर्थ सिद्ध होती है। इस प्रकार यह पुरुष अधिकार वृत्ति वाली इन इन्द्रियों से प्रति बुद्ध होता है इसलिये इन्हें बुद्धेन्द्रिय कहते हैं इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी । मण्टन तथा विहरण के उपदेश से [अ० ३ सू० १४, अ० ४ सू० ६]।

पादेन्द्रिय अधस्तात् [नीचे] द्विअधिष्ठान में सन्निविष्ट होकर गमन क्रिया में समर्थ सिद्ध होती है तथा मुत्रपुरीष दर्शन प्रतिषेध से [अ०१ सू० १२] पायुयेन्द्रिय [गुदा] गुह्य प्रदेश में सन्निविष्ट होकर उत्सर्ग क्रिया में सन्निविष्ट होती है तथा स्त्री के प्रतिषेध [अ० १ सू० १३] उपस्थेन्द्रिय [लिंग] त्रिवली गुह्य प्रदेश में सन्निविष्ट होकर आनन्द क्रिया में समर्थ सिद्ध होती है तथा अपितत् कर्म के उपदेश से [अ०३ सू०१६] हस्तेन्द्रिय उभयथा द्विअधिष्ठान भुजान्तदेश में सन्निविष्ट होकर आदान क्रिया में समर्थ सिद्ध होती है। तथा अपितत् भाषण के उपदेश से [अ०३ सू० १७] वागेन्द्रिय वाक्, तालु, जिह्वा आदि अधिष्ठानों में सन्निविष्ट होकर वचन क्रिया में समर्थ सिद्ध होती है। यहाँ विकार एवं उनकी वृत्तियों के द्वारा पुरुष में कर्म की उत्पत्ति होती है। इसलिये इन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार ये त्तयोदश करण इन्द्रियां सूत्र के द्वारा व्याख्यात हुई। कैसे? इन्द्रियों का इस सामान्य ग्रहण से विकरण के समान सामान्य अन्य प्रतिषेध के कारण इन्द्रियाणाम् में षष्ठी बहुवचन विभक्ति है। कहा गया है–''आदानग्रहण त्याग, रंगण, वामन, इंगन तथा द्रवण के कारण इन्हें इन्द्रिय कहते हैं।''

अभिजय के कारण। अभि उपसर्ग अत्यन्त विजय तथा वशीकरण अर्थ में है। आक्रमण करके वश में करना चाहिए। वायु, काम, क्रोध, पाटलिपुत्र के समान। इसलिये अकुशलों से व्यावर्तित करके अपनी इच्छा से कुशलों में जब ये योजित होते हैं तब विजित होते हैं इसीलिये इन्द्रियों के अभिजय से, ऐसा कहा है। असङ्गादि के जन्म के निमित्तता के कारण पञ्चमी विभक्ति द्रष्टव्य है।।७।।

प्रश्न है– अन्यत्र सांख्य योगादि के असङ्गादि युक्त-मुक्त पुरुष शान्ति को प्राप्त हुये। जो निरभिलप्य हैं वे ही मुक्त कहें जाते हैं। मुक्त ही युक्त नहीं यह कहां से सिद्ध हुआ?। कहा जाता है-यहाँ जैसा कि कहा है–

तो रुद्र ने कहा।।८।।

यहां रुद्र शब्द कारणापदेश अर्थ में है। रुद्रत्व पूर्वतः उक्त है प्र उपसर्ग अभिधान की विशुद्धि अर्थ में है। इस प्रकार जो सांख्य और योग का वर्णन करता है कि जो असङ्गादि योग से मुक्त पुरुष शान्ति को प्राप्त हुए वह उनका दर्शन विशुद्ध है। तैमिरिक [रतौंधी] रोग से युक्त व्यक्ति के चक्षु से चन्द्रदर्शन के समान । यह तो युक्त [योगी] है न कि मुक्त, इसलिये वचनादि के अविसंवादी होने के कारण यह गम्य है। इस प्रकार यह है अन्यथा नहीं। और यह भी है

कि अथ शब्द से लेकर शिवान्त रुद्र प्रोक्त प्रवचन सम्पूर्ण तन्त्रों में श्रेष्ठ है यह तावत् शब्द से प्रतीत होता है इसलिये कारण एवं शास्त्र का पर प्रमाण भाव अवधारित होता है यह अर्थ है। यहां इस अर्थ में निर्वचन श्लोक है ।।८।।

प्रश्न है कि क्या प्रधान के समान ये इन्द्रियाँ परिज्ञान मात्र से विजित हो जाती हैं? उत्तर है- नहीं, ज्ञान के द्वारा वचन इत्यादि से इनका विजय करना चाहिए। जैसा कि इनके जय में भगवान ने वसति, अर्थ, वृत्ति, बल, क्रिया आदि के लाभ के लिए निवास करने वाले के द्वारा कहा है इसलिये इनके विजय के विषय में वसति के लिये कहा जाता है–जैसा कि कहा है–

शून्यागार, गुहावासी ।।९।।

यहां शून्य ही है आगार जिसका उसे शून्यागार कहेंगे। शून्य का अर्थ विविक्त निर्जन, आगार गृह का पर्याय है। आगार का पर्याय है गृह, वेश्म, सदन। गुहू धातु संवरण अर्थ में है। प्रविष्ट साधक को आवृत्त करती हैं छिपाती है इसलिये इसको गुहा कहते हैं। प्रश्न है–आवरक होने के कारण भेद नहीं होने से आगार और गुहा दोनों भिन्न हैं? इसका उत्तर है–मृत्तिका तृण, काष्ठादि से निर्मित होता है। आगार तथा पर्वत आदि की गुफा को गुहा कहते हैं इसलिये दोनों भिन्न नहीं हैं जिस प्रकार विभुत्व के होने पर भी पुरुष एवं ईश्वर का साधर्म्य सत्त्व है किन्तु आगार अथवा गुहा में उपपत्ति के अनुकूल विचार कर विविक्त का विवेचन कर जो मात्र स्थान, आसन, शयन आदि से उपजीवित रहता है इसलिये मात्र संस्मरण की मर्यादा से तथा उपयोग क्रिया के अधिनिवेश से साधक को निवास करना चाहिये। वसति के संयोग से उसे गुहावासी कहते हैं पुलिनवासी के समान ।।९।।

प्रश्न है–तो कैसे जाना जाय कि इन्द्रियाँ जीत ली गयी अथवा इन्द्रियाँ जीतने का क्या लक्षण है?। उत्तर है–

देव में नित्य हो जाता है ।।१०।।

यहाँ देव का अर्थ है भगवान् अर्थात् तब भगवान देव में इस साधक की नित्यता हो जाती है। कैसे? अध्ययन तथा ध्यान की नित्यता द्वारा। देव के विषय में अधिकृत साधक की प्रधान रूप से निश्चलता हो जाती है। स्वल्पतर व्यवधान होने पर भी अतियोगाभ्यास से नैरन्तर्य की प्राप्ति हो जाती है। देव नित्यता का अर्थ है स्मृति ।।१०।।

प्रश्न है–देव नित्यता का क्या लक्षण है? उत्तर है– जितेन्द्रियत्व। जैसा कि कहा है–

जितेन्द्रिय ॥११॥

यहां जितेन्द्रियत्व का अर्थ है उत्सर्ग एवं निग्रह की योग्यता। इन्द्रियों से तात्पर्य है ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् पर्यन्त पूर्वोक्त त्रयोदश करण। वे जब अकुशलों से व्यावर्तित करके हत-विषय डर्वीकर [कलछुल] वाले व्यक्ति के समान स्वेच्छया कुशल में योजित होती हैं तब साधक देवनित्य अर्थात् जितेन्द्रिय होता है ॥११॥

प्रश्न है–देवनित्यता ही इस साधक का सर्वोत्कृष्ट निष्ठायोग है? उत्तर है-नहीं, जैसा कि कहा है-

छः मास तक नित्यथुक्त साधक का ॥१२॥

अथवा अन्य दूरस्थ सम्बन्ध है जैसा कि कहा है ''जिसका जिससे दूरस्थ होने पर भी अर्थ सम्बन्ध होता है उससे अर्थतः अन्ध समान वस्तुओं के साथ आनन्तर्य होने में भी असंगति होती है।''

इस प्रकार यहाँ भी दूरस्थ सम्बन्ध है। कैसे? यहाँ पहले कहा गया है- इसके विज्ञान प्रवृत्त होते हैं [अ०१ सू० २१] इन गुणों से युक्त [अ० १ सू० ३८] ये गुण कितने काल में प्रवृत्त हो जाते हैं। क्या युक्त के या वियुक्त के या युक्त वियुक्त दोनों के या क्रमशः या सकल के अथवा निष्कल के इन अनिर्वाचित अर्थों के निर्वचन के लिये यह प्रारम्भ किया जाता है। जैसा कि कहा है-छः मास तक नित्ययुक्त साधक का। यहाँ षट् संख्या वाचक है, मास काल निर्देश है। मनुष्य की गणना से तीस दिन का मास होता है, द्वादश मास का संवत्सर होता है, द्वादश पक्ष का अर्ध संवत्सर होता है। उसी को छह मास कहते हैं। इसका अर्थ है प्रथम से छह मास के मध्य् में। नित्य का अर्थ है सतत् अविच्छिन्न। युक्त में योग का अर्थ है आत्मेश्वर संयोग। नित्य युक्तस्य में षष्ठी विभक्ति है ॥१२॥

प्रश्न है–इस युक्त का क्या होता है?। उत्तर है–

भूयिष्ठ मात्रा में संप्रवृत्त होता है ॥१३॥

यहां भूयिष्ठ का अर्थ है क्रम जैसे कि क्रमशः देता है अथवा आदित्य भूयिष्ठता को प्राप्त है। इसलिये सूची के अग्रभाग से उत्पल के शतपत्रों के भेदन

के समान क्रम से दूरदर्शन आदि प्रवृत्त होते हैं यह अर्थ है। सम् उपसर्ग का अर्थ है एकीभाव। निष्कल का अर्थ है कार्य-कारण रहित। प्र उपसर्ग कर्म या आरम्भ के अर्थ में होता है। युक्त हो जाने के प्रभाव से गुण प्रवृत्त होते हैं यह अर्थ है। किसमें प्रवृत्त होता है? दर्शन दृश्य में, श्रवणादि श्रव्यादि में, यह अर्थ है। इसलिये छठे तथा प्रथम मास के मध्य में नित्ययुक्त साधक के गुण क्रमशः प्रवृत्तः होते हैं। कैसे? **महेश्वर के प्रसाद से**। अशिवत्व के निवृत्त हो जाने पर शिवत्व के प्रसाद से गुण प्रवृत्त होते हैं। गुण शब्द दूरदर्शनादि के कथन अर्थ में है ।।१३।।

प्रश्न है– किस वृत्ति में अवस्थित होकर शून्यागार अथवा गुहा में वास करना चाहिए? उत्तर है–

भैक्ष्य ।।१४।।

भिक्षा के समूह को भैक्ष्य कहते हैं जिस प्रकार कपोतों के समूह को कपोत कहते हैं और वह नगर ग्रामादि से एक गृह से दूसरे गृह तक पर्यटन करने से भक्ष्य अथवा भोज्य में से जो कुछ भी प्राप्त हो जाय। कृतान्नादि [अ० ४ सू० ७] वचन से भैक्ष्य, भय के क्षपण करने के कारण भी भैक्ष्य कहते हैं। भिक्षा कथन से अभैक्ष्य का प्रतिषेध है ।।१४।।

प्रश्न है–किन्तु आधार के कारण सन्देह करके यह पूछा जा सकता है कि वह भैक्ष्य किसमें ग्रहण करना चाहिये ? उत्तर है– पात्र में। जैसा कि कहा है–

पात्रागत ।।१५।।

यहां भैक्ष्य के समान पात्र प्रसिद्ध है। अलाबु, दारु, वस्त्रादि में जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसकी हिंसादि अस्तेयादि रहित क्रम से पर्याप्त मात्रा में ग्राह्य पदार्थ का आहरण करे। उस अफलक पात्र में आगत वस्तु को पात्रागत कहेंगे यह अर्थ है ।।१५।।

प्रश्न है–ब्रह्मचारी तुल्य साधक के लिये, मद, मांस, लवण वर्जनीय है तो क्या मधु, मांसादि ऐकान्तिक रूप से दुष्ट है? उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है–

अदुष्यमाँस अथवा लवण से।।१६।।

भैक्ष्य के समान मांस प्रसिद्ध है जिस साधक को, महिष, वराह आदि में अन्यतम हिंसा, अस्तेयादि से रहित होने के कारण जो कुछ भी प्राप्त हो जाय।

अथवा लवण से यहाँ सैन्धव, सौवर्चल आदि लवण मांस के समान प्रसिद्ध है। यह मांस असृष्ट हो अथवा भैक्ष्य विधि से प्राप्त हो। अदुष्य का तात्पर्य है अकुत्सित अगर्हित। वा का अर्थ है विकल्प। माँस अथवा लवण से अथवा दोनों से अथवा साक्षात् अदुष्य है यह अर्थ है ।।१६।।

प्रश्न है–भैक्ष्य के न प्राप्त होने के समय अथवा अपर्याप्त होने के समय इस साधक को क्या करना चाहिये? उत्तर है। जल पीकर स्थित होना चाहिये।

अथवा अनुपूर्वशः यथाकाल जल भी ग्रहण करे ।।१७।।

यहाँ आङ् आपः शब्द में उपसर्ग है। यहां आङ् कृतान्नोत्सृष्ट के समान अपदान्तरितत्व [पदान्तर से भिन्न न होना] के कारण संवृत परिपूतादि की मर्यादा की ओर संकेत करता है। आपः में द्वितीया विभक्ति के स्थान पर प्रथमा विभक्ति द्रष्टव्य है। यहाँ जल लोकप्रसिद्ध है। इसका अर्थ है तृणादि से व्यावृत्त उदक। वा शब्द विभाग अर्थ में है। जल पीकर भी जिये न कि शास्त्र व्यपेत क्रम से वृध्यर्जन करे। यथा शब्द समानार्थ में है। भैक्ष्य भिन्न है, जल भिन्न है। अपि शब्द सम्भावना अर्थ में है। यथा भैक्ष्य का उपदेश कर योगकर्म के विषय में उद्यम करे यह व्याख्यात हुआ। उसी प्रकार जल पीकर भी । काल भी दो प्रकार का हैं अलाभकाल तथा अपर्याप्ति काल। जब नगर तथा ग्राम में एक बार पर्यटन करके कुछ भी न प्राप्त कर सके वह अलाभ काल है। अपर्याप्त काल का अर्थ है जब एक अथवा दो भिक्षा को प्राप्त करे तब जल पीकर भी जिये। प्रश्न है– इस प्रकार स्थित साधक को क्या करना चाहिए ? उत्तर है– उपयोग करना चाहिए। जैसा कि कहा है अनुपूर्वशः अशन् करे [जलपीवे]। अश्नीयात् का अर्थ है योग क्रिया के अनुपरोध से आहार लाघव। अश् धातु भोजन अर्थ में है। अनु उपसर्ग पृष्ठ कर्म तथा क्रिया अर्थ में है। अनुपूर्वशः का अर्थ अतिक्रान्तापेक्षण तथा प्रकार वचन है। यथापूर्व ग्रामादि में प्रवेशकर भैक्ष्यार्जन करके अलाभकाल अथवा अपर्याप्ति काल में जल पीकर भी जिये इस कारण ही भगवान् ने कहा कि अनुपूर्वशः अशन् करे। यहाँ श्लोक निर्वचन है ।।१७।।

प्रश्न है– शून्यागार गुहावस्थ साधक के इन्द्रिय जयपूर्वक व्यवहार से क्या बल प्राप्त होता है? अथवा अकलुषत्वमात्र? उत्तर है– नहीं?। जैसा कि कहा है–

गोधर्मा अथवा मृगधर्मा [बने] ॥१८॥

यहाँ गो शब्द अर्थ मृग के समान खुर, कपुद, [डील] विपाशा सासा आदि से युक्त प्रसिद्ध है। तथा मृग भी गोद्रव्य के समान लोकादि प्रसिद्ध है। कृष्णमृगादियों में से अन्यतमा दोनों में से धर्म बहुत्व के कारण समान धर्म गृहीत होता है-अध्यात्मिकादि द्वन्द्व सहिष्णुत्व है वह आगे बताऊँगा। गो तथा मृगधर्म परस्पर विशेषण के लिये है। वा शब्द विकल्पार्थक है। क्रिया सामान्य की दृष्टि से रौद्री बहुरूपी के समान एक धर्म के अथवा एकधर्म के द्वारा स्थिर रहे यह अर्थ है ॥१८॥

प्रश्न है–किस बल से इसके कार्य की निष्पत्ति होती है? उत्तर है–

जल से ही शुचि होवे ॥१९॥

यहाँ आङ् के समान ही अद्भिः का अर्थ है जल से ही। जल, आपादि अर्थ में पूर्वोक्त है। अद्भिः में तृतीया विभक्ति है। आङ् उपसर्ग पूर्व प्रसिद्ध मात्रा की ओर संकेत करता है। गो-मृग के समान द्वन्द्व सहिष्णुत्व अर्थ की ओर भी संकेत करता है। इव उपमा अर्थ में हैं जिस प्रकार जल अथवा मृत्तिका से प्रक्षालित वस्त्रादि शुद्ध होते हैं उस प्रकार ॥१९॥

प्रश्न है–क्या गो-मृग धर्मिता के बल से शुचि होता है? उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है-गो तथा मृग का अकुशल धर्म में प्रतिषेध तथा कुशल धर्म में नियोग अभीष्ट है उसी प्रकार-सिद्ध शक्ति की प्रशंसा के द्वारा असिद्ध शक्ति के प्रतिषेध का व्याख्यान करेंगे। इसीलिये कहा है–

सिद्ध योगी कर्म अथवा पातक से लिप्त नहीं होता ॥२०॥

किन्तु असिद्ध सर्वथा लिप्त होता है यह अर्थ है। इसलिये योगी सिद्ध होता है। ऐसा सिद्ध होने पर मुख सुखपूर्वक उच्चारण करने के लिये सिद्धयोगी ऐसा कहा गया है। योग का अर्थ है आत्मा एवं ईश्वर का योग। इस योग के कारण ही यह योगी होता है। सिद्ध का अर्थ है दर्शन आदि ऐश्वर्य को प्राप्त वह निश्चित रूप से वशीकरण, आवेशन एवं पालन आदि में प्रवीण होता है। लिप्त नहीं होता इसका अर्थ है संयुक्त नहीं होता। प्रश्न है– किससे लिप्त नहीं होता? उत्तर है– कर्म से। यहां कर्म से यह कहा जाता है। कैसे? कृतकत्व [कर्म] के कारण। कर्मणा में तृतीया विभक्ति है। इष्ट स्थान शरीर, इन्द्रिय, विषय के सम्बन्ध से

कृत कर्म से लिप्त नहीं होता, संयुक्त नहीं होता यह अर्थ है। प्रश्न है–अनिन्दित शुभ कर्म से संयुक्त नहीं होता, यह कहा जाता है –अथवा अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होता। यह कहा जाता है। उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है-पातक से अनिष्टस्थान एवं शरीरेन्द्रिय विषयगत अशुभ का भोग करता है उस अशुभ कर्म से भी लिप्त नहीं होता अर्थात् युक्त नहीं होता। वा का अर्थ है विकल्प। पातक या अपातक समस्त के वशीकरण, आवेशन, पालन आदि में प्रवर्तनमान योगी लिप्त नहीं होता अर्थात् संयुक्त नहीं होता। कैसे? सिद्धि के सामर्थ्य से। असिद्ध भी यह योगी ब्राह्मण गोमृग धर्मावस्थ यदि सर्वथा गोमृग के समान प्रवर्तन करे तब लिप्त होता है इसलिये गो एवं मृग का अकुशल धर्म ग्राह्य नहीं है। स्वकीय आध्यात्मिकादि द्वन्द सहिष्णुत्व रूप कुशल धर्म परिग्रहीत होता है इससे यह शुचि होता है। प्रश्न है–इसका अशौच क्या है? उत्तर है– योग के व्यासंग, [आसक्ति वाले] द्वन्दों से अथवा काम क्रोध, शिरोरोगादि के कारण शीलादि से। नहीं लिप्त होता अर्थात् संयुक्त नहीं होता है। कैसे? बल प्राप्त कर लेने के कारण यह अर्थ है। यह परिष्कृत निर्वचन है।। २०।।

प्रश्न है–शून्यागार गुहावस्थ योगी की इन्द्रिय जप के विषय में वर्तमान कौन सी क्रियायें होनी चाहिये? क्या स्नान, हसितादि अथवा क्राथन-स्पन्दन-मण्टानादि? उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है–

आत्म नियन्त्रित होकर इष्ट गायत्री ऋचा का अध्ययन करे ॥२१॥

यहां ऋचम् तथा ऋचाम् दोनों पाठ अदुष्ट हैं। यहाँ ऋचा का अर्थ है अघोरा। कैसे प्रतीत होता हैं? ऋक् के मध्य [बीच] होने के कारण सद्योजात, तत्पुरुष, ईशान के समान **अर्चि वर्च वाक्** यह इष्ट भी है।

तत्तस्थलों में जप करने योग्य रूप में गुणीकृत होने के कारण। पूर्वोत्तर सूत्रों में जप करने योग्य रूप में गुणाकृत होने के कारण। पूर्वोत्तर सूत्रों में जप करने योग्य के कारण गायत्री के साथ ध्यान–आशुभाव, समाधि तथा आसन के कारण भी इष्ट है। यहाँ अध्ययन करे यह अर्थ है। प्रश्न है–क्या केवल ऋच् का ही अध्ययन करना चाहिये। उत्तर है-नहीं गायत्री का। गायत्री का अर्थ है तत्पुरुष सम्बन्धी। इसका निर्वचन पूर्वोक्त है। मानस अध्ययन ही करे यह अर्थ है। प्रश्न है– किस प्रकार अध्ययन करें? उत्तर है-आत्म नियन्त्रित होकर। आत्म नियन्त्रण, प्रत्याहार का पर्याय है। आत्मा का अर्थ है क्षेत्रज्ञ। आत्मत्व इसका चैतन्य है प्राप्तव्य

है-कार्य, करण तथा विषय। आत्मयन्त्रणा त्रिक के योग होने पर ही सम्भव है। यन्त्रण का अर्थ है, जिस प्रकार यह आत्मभाव ब्रह्म में अर्थात् अकार पद पंक्ति में युक्त है तब यह आत्मानियन्त्रित होता है। कैसे? नृत्यासक्त चित्त के दृष्टान्त से। कैसे? आत्म तथा आत्मभाव के विच्छिन्न न होने के कारण तथा गुण एवम् गुणी दोनों का सहभाव रहता है। कैसे? जो यज्ञ करने में प्रवृत्त होता है वह नियन्त्रण में भी प्रवृत्त होता ही है, भिक्षु के समान। इसलिये यह प्रत्याहार यन्त्रण ही है ।।२१।।

प्रश्न है– यह गायत्री के कई होने के कारण सन्देह है–अत: कैसे प्रतीत होता है कि अघोर ऋचा अथवा तत्पुरूष से? उत्तर है-प्रतीत होता है। जैसा कि कहा है–

रौद्री अथवा बहुरूपी[१] ।।२२।।

यहाँ रौद्री का अर्थ है तत्पुरुषा। इसका निर्वचन पूर्वोक्त है। वा शब्द रौद्री तथा बहुरूपी दोंनो में प्रतिविभाग के अर्थ में द्रष्टव्य है। बहुरूपी का अर्थ है अघोरा। द्वितीय वा का अर्थ है–विकल्प। तुल्यफल होने के कारण। अत: वा का अर्थ है एक अथवा एक भी। आत्मनियन्त्रि,त होकर अध्ययन करे यह अर्थ है ।।२२।।

प्रश्न है– आत्म नियन्त्रित होकर अध्ययन करने वाले की क्या कार्यनिष्पत्ति होती है? उत्तर है–

इससे योग प्रवृत्त होता है ।।२३।।

यहाँ अत: से कारण का निर्देश किया गया है। आत्मनियन्त्रित होकर अध्ययन करे यह अर्थ है। इसलिये इस कारण हेतु निमित्त से, यह अर्थ है। योग का अर्थ है आत्मा एवं ईश्वर का संयोग। प्र का अर्थ है, आदि कर्म। प्रवर्तते का अर्थ है पूर्वोक्त यहां श्लोक निर्वचन है। ।।२३।।

प्रश्न है ऋचा का अध्ययन करने वाले को क्या अक्षर पद पंक्ति ब्रह्म में युक्त होकर ही स्थिर होना चहिये? अथवा इसकी अन्य सूक्ष्मतर उपासना, क्रिया, ध्यान आदि नमस्कार योग्य भी कुछ दृष्ट है?। उत्तर है–दृष्ट है। जैसा कि कहा है–

---

१. यह सूत्र द्विधा विभक्त है पहला है ऋचाभिष्टामधीयीत तथा दूसरा है गायत्रीमात्मयन्त्रित:।

ओङ्कार का अभिध्यान करे ॥ २४॥

यहाँ ओऽम् यह भी वामदेवादि के समान जाप का पर्याय है। कार शब्द अवधारणा अर्थ में द्रष्टव्य है। क्या कारण है? कहा गया है "प्रणव तथा सप्त व्याहृतियों एवं त्रिपदा गायत्री में नित्ययुक्त साधक परम मृत्यु को नहीं प्राप्त करता।"

इसलिये ध्येय के रुप में ओङ्कार ही निश्चित है न कि गायत्री आदि । अभि उपसर्ग का अर्थ है- अभ्यास अर्थात् साधक को ओंङ्कार के सन्निकृष्ट चित्त वाला होना चाहिये। ध्ये धातु चिन्ता अर्थ में है। कहा गया है-

"ध्ये चिन्तास्वरूप है, ध्यान ओङ्;कार स्वरूप ब्रह्म है, ध्यान एवं लीन हो जाने के कारण उसको ध्यान कहते हैं।"

"अर्धमुहूर्त अथवा एक मुहूर्त अथवा प्राणायाम के मध्य भी ध्येय के चिन्तन करने वाले मनुष्यों का पाप क्षयित हो जाता है। ईत यह आज्ञा तथा नियोग अर्थ में है।" ओङ्कार ही ध्येय है अन्य नहीं, यह अर्थ है ॥२४॥

प्रश्न है-ओङ्कार ध्येय है, इसके ध्यान का देश क्या है? अथवा किस देश में धारण करना चाहिये? अथवा ध्यायमान साधक को क्या करना चाहिए? उत्तर है-

हृदय में धारण करें ॥२५॥

यहाँ हृदय आत्मा का पर्याय है। कैसे? पूर्वोत्तर सूत्रों के सामर्थ्य से। जो अर्थ जहाँ मिले उसको वहाँ स्थापित करना चाहिये। वेद के प्रामाण्य से भी कहा गया है- "अंग-अंग से सम्भूत होता है, हृदय से-अधिजनित होता है अतः यह आत्मा ही पुत्र है यह सैकड़ों शरद तक जीवित रहता है।" अन्यत्र भी कहा गया है-

"आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। आत्मा ही आत्मा का पिता है, मैं आत्मप्रज होऊँ-क्योंकि वही परम् हृदय है।"

अतः हृदय आत्मा है यह सिद्ध होता है। 'अध्यवसायिता [निश्चायिका] बुद्धि भाव को हृदय में प्रिय अथवा अप्रिय के रूप में प्रस्थापित करती है इसलिये करणों की स्थिति तीन प्रकार की होती है। 'तथा लोक में भी वक्ता कहते हैं कि तुम्हारे हृदय को जानता है। इससे क्या उक्त होता है? अतः यह प्रतीत होता है कि हृदय आत्मा का पर्याय है। हृदि यह औपश्लेषिक सन्निधान है, यहाँ

ओङ्कार धार्य है आत्मा नहीं। किन्तु जो अपने में आत्मभाव है वह इस ओङ्कारसे प्रच्युत विषयों से, वृत्ति विकार मात्र से गत आत्मा का प्रत्यानयन ही प्रत्याहार है। प्रत्याहत करके हृदय में धारणा करनी चाहिये। ओङ्कार का चिन्तन धार्य है। उसी में सुदीर्घ काल तक अवस्थान ही अध्ययन है। उस धारणा से आहित परम ध्यान है। निष्ठा का योग तो स्थापित करके [अ० ५ सू०३८] में कहेंगे कुर्वीत में डुकृञ् धातु करण अर्थ में है। हृदय में धारणा करनी चाहिये। ईत यह आज्ञा और नियोग अर्थ में है। पाद, जानु, कटि, नासिकादि स्थानों में धारणा कर्तव्यता के प्रतिषेधार्थ नियोग है। हृदय में धारणा करनी चाहिये अन्यत्र नहीं।

प्रश्न है– क्या ओङ्कार परम [७] विभु, उमा, कुमार है अथवा चार अर्ध मात्रायें अथवा समान पुरुष। उत्तर है–नहीं। जैसा कि कहा है–

यह महान् ऋषि विप्र है।।२६।।

यहाँ ऋषि भगवान का नामधेय है। ऋषि कैसे? ऋषि क्रिया में। क्रिया के संशन से ऋषित्व होता है तथा सम्पूर्ण विद्या आदि कार्य ईश्वर से होते हैं। अतः ऋषि है तथा विप्र भी भगवान् का नामधेय है।

विप्र कैसे? विद् धातु ज्ञान अर्थ में है। विप्रत्व का अर्थ में है ज्ञानशक्ति। इस भगवान के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञेय जगत व्याप्त है अतः यह विप्र है। तथा महान शब्द अभ्यधिकत्व अर्थ में है। जो यह दिक् क्रिया स्वरूप है वह अनागन्तुक, अकृत ऐश्वर्य उसके गुण का सद्भाव है, तत्वधर्म सतत्व है। वह पुरुष चैतन्य के समान अकृतक है। वह अन्य का नहीं होता अतः वह अभ्यधिक, उत्कृष्ट एवं अतिरिक्त है अतः महान है। एषः यह प्रत्यक्ष अर्थ में है। यह जो पूर्व में मेरे द्वारा ओङ्कार श्रवण से प्रत्यक्षीकृत अर्थ है वह विष्णु, उमा, कुमार इत्यादि से अन्यतम नहीं है। कैसे? ऋषित्व, विप्रत्व एवं महत्त्व के कारण, यह अर्थ है ।।२६।।

प्रश्न है–ऋषित्व एवं विप्रत्व किस प्रकार के महेश्वर में चिन्तनीय है अथवा ओङ्कार किस प्रकार ध्येय है? कहा जाता है–

वाग्विशुद्ध ।।२७।।

यहाँ वाग्विशुद्ध भी भगवान का नामधेय है। ये नहीं इनसे भिन्न भगवान है, वह वाणी तथा मन के साथ छोड़कर रूप, रस, गन्ध, विद्या, पुरुषादि से परे निष्कल रूप में ध्येय है जैसा कि कहा है–

"नित्य पररुद्र में आकृति का परित्याग करके मुहूर्त मात्र भी जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त है वही परयोग है।" परमयोग यह अर्थ है ।।२७।।

प्रश्न है–क्या यह समान पुरुष बालक के समान निष्कल है? उत्तर है–नहीं। जैसा कि कहा है–

तब भी यह महेश्वर [महेश्वरः] ।।२८।।

यहाँ अनादि अज्ञान आदि से रहित [२] ऋषित्व एवं विप्रत्व संज्ञक महान ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण यह महेश्वर है यह सिद्ध है। यहाँ तो जब यह वाग्विशुद्ध तथा निष्कल है तब क्यों सामान्य पुरुष के समान अनीश्वर है इस संशय को समाप्त करने के लिये कहा जाता है महेश्वर, क्योंकि- निष्कल भी इस ईश्वर का ऐश्वर्य स्वगुण सद्भाव तथा तत्वधर्म सतत्त्व है। पुरुष चैतन्य के समान उसका अकृनकत्व [किसी के द्वारा किया हुआ नहीं] है इसलिये तब भी वह महान ही ईश्वर है।

इस प्रकार ओङ्कार यह ध्येय कहा गया है । ऋषि, विप्र एवं यह महान है ऐसा ध्येय के गुणीकारण के लिये कहा गया है। ध्येय के अवधारण के लिये वाग्विशुद्ध तथा निष्कल यह कहा गया है। इस प्रकार जिससे इन्द्रिय जय होता है। अतः वसति अर्थ वृत्ति, बल, क्रिया, लाभ आदि व्याख्यात होते हैं।२८।।

अतः यहाँ कहना युक्त है कि शून्यागार गुहा प्रकरण परिसमाप्त हुआ।

प्रश्न है– शून्यागार गुहा में जब इन्द्रियों की जय हो जाती है तथा देवनित्यता प्राप्त हो जाती है तब क्या उसी भैक्ष्य वृत्ति को स्वीकार कर उसी शून्यागार गुहा में दुःखान्त की प्राप्ति के लिये इस साधक को रहना चाहिये अथवा इससे भी वसति अर्थ, वृत्ति, बल, क्रिया, लाभ आदि दृष्ट हैं। उत्तर है- दृष्ट हैं। जैसा कि कहा है–

श्मशान वासी[१] ।।३०।।

प्रश्न है– शून्यागार गुहा को छोड़कर प्रयोजन के अभाव के कारण श्मशान में संक्रान्ति अयुक्त है? तो इसका उत्तर है- नहीं। योग के व्यासङ्ग के परिहारार्थ

---

२. यह पादटिप्पणी सूत्र संख्या ३० पर न होकर सूत्र संख्या २२ पर होनी चाहिये।

होने के कारण यहाँ एक अवस्थान से दूसरे अवस्थान को प्राप्त करके ब्राह्मण के लिये सर्वत्र वसति अर्थ वृत्ति, बल, क्रिया, लाभ आदि अयत सिद्ध रूप में वक्तव्य है। आयतन में इसके [साधक के] वहाँ आदि धर्म हैं-वसति अर्थ वृत्ति, भैक्ष्य, बल, अष्टांग ब्रह्मचर्य, क्रियायें, स्थान, हसितादि, स्थान, कलुष का अपोह शुद्धि, ज्ञान की प्राप्ति तथा अकलुषत्व रूप लाभ। तथा असन्मान [अ० ४ सू०९] परिभव के उपदेश से [अ० ३ सू० ५], आयतन में वसति हेतु, उत्सृष्ट वृत्ति, अकलुषत्व रूप बल तथा इन्द्रिय द्वार का विधान, इन्द्रियों का विधान करके [अ० ४ सू० ४] उन्मत्त के समान अवस्थान से पापक्षय के कारण शुद्धि रूप लाभ प्राप्त होता है। किन्तु सम्पूर्ण धर्म, समान रूप से इन्द्रिय-विजय के पश्चात् ही होता है। तथा वसति हेतु शून्यागार, गुहा, वृत्ति, भैक्ष्य, बल-गोमृग का सहधर्मित्व क्रिया-अध्ययन-ध्यानादि, शुद्धि, अजितेन्द्रिय वृत्तिता का अपोह [जितेन्द्रियत्व] किन्तु लाभ है देवनित्यता तथा जितेन्द्रियत्व। तथा यहाँ भी श्मशान में वसति हेतु निवास करता हुआ यथालब्ध वृत्ति, क्रिया, स्मृति तथा अस्मृति का अपोह शुद्धि है किन्तु लाभ है सायुज्य। उसी प्रकार उत्तर सूत्र में ऋषि से वसत्यर्थ बल अप्रमाद, प्रसाद, उपाय, दुःख का अपोह रूप शुद्धि तथा गुण की प्राप्ति है लाभ। तथा कहा भी है। ''पाँच लाभों, पाँच मलों, पाँच उपायों को पञ्चार्थ में जो समझता हैवह विद्वान् है इसमें कोई सन्देह नहीं हैं।''

प्रथम विद्यालाभ, द्वितीय तपस्लाभ, तृतीय देवनित्यत्व, चतुर्थ योग तथा पञ्चम लाभ गुण प्रवृत्ति के रूप में विज्ञेय है।

''अज्ञान, अधर्म, विषयाभ्यास, स्थिति का अलाभ, एवं अनैश्वर्य ये पांच मल पञ्चार्थ में विज्ञेय हैं।''

वास, ध्यान, अखिल करण निरोध, स्मृति तथा प्रसाद ये पांच उपाय पञ्चार्थ में विज्ञेय हैं।

वासार्थ लोक, शून्यागार, श्मशान तथा रुद्र, ये पांच सिद्धि के लिये नियत देश आख्यात हैं।

इसलिये युक्तियुक्त कहा है। इन सबका सम्बन्ध प्रागुक्त सूत्र ''श्मशानवासी'' से है।

यहाँ श्मशान का अर्थ है लोकादि प्रसिद्ध संस्थान जहां लौकिक मृत शव छोड़ते हैं। शव के सम्बन्ध में श्मशान कहते हैं। उस आकाश में वृक्ष के मूल में अनासक्ति की मर्यादा से निर्द्वन्द्व होकर स्मृति क्रिया निविष्ट होकर निवास करना चाहिये। वसति के संयोग से श्मशान वासी होता है-पुलिन के समान, यह अर्थ है।।३०।।

प्रश्न है– क्या इसका गो–मृग का सहधर्मित्व ही बल है? उत्तर है- नहीं। जैसा कि कहा है–

धर्मात्मा ।।३१।।

यहाँ धर्म का अर्थ है जो यह यम-नियम पूर्वक अभिव्यक्त महात्म्यादि धर्म है वह पूर्वोक्त है। वह उसकी आत्मा में प्रचित [संचित] होता है। उस धर्म से वह धर्मात्मा होता है यह अर्थ है ।।३१।।

प्रश्न है–क्या इसकी भैक्ष्य ही वृत्ति है?। उत्तर है -नहीं।

जैसा कि कहा है–

यथालब्धोपजीवक ।।३२।।

यहाँ यथा शब्द समान अर्थ है– अम्लादि में जितेन्द्रिय होने कें कारण। लब्ध का अर्थ है अप्रार्थित रूप में आशादित। उप, उपसर्ग समीप धारण अर्थ में है। उस यथालब्ध अन्नपान को श्मशान से बाहर न जाते हुये [ग्रहण करे]। प्रतिदिन जीवन की स्थिति हेतु उपजीवित रहते हुये यथालब्धोपजीवक हो जाता है यह अर्थ है ।।३२।।

प्रश्न है– क्या जीवन ही सर्वोत्कृष्ट लाभ है? उत्तर है -नहीं। जैसा कि कहा है–

रुद्र सायुज्य प्राप्त करता है ।।३३।।

यहाँ लभते का अर्थ है प्राप्त करना, समीप जाना। रुद्र से कारण का निर्देश किया गया है। रुद्र का रुद्रत्व-पूर्वोक्त है। रुद्र के साथ साक्षात् संयोग ही रूद्रसायुज्य है। भावग्रहण, आत्मा एवं ईश्वर से अन्यत्र प्रतिषेध के लिये किया गया है। योग

का सम्यकत्व [पूर्णत्व] ही सायुज्य है इसलिये यह योग का पर्याय प्रतीत होता है। धर्मात्मा [अ० ५ सू० ३१] इस कथन से अतिगति एवं आनन्त्य के समान यह अर्थ है ॥३३॥

प्रश्न है– किस उपाय से प्राप्त करता है क्या मात्र अध्ययन-अध्यापन से? उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है–

रुद्र का सदा अनुस्मरण करें ॥३४॥

यहाँ सदा का अर्थ है नित्य, सतत्, अविच्छिन्न। रुद्र शब्द कारण के अपदेश अर्थ में है। रुद्र का रुद्रत्व पूर्वोक्त है। रुद्रम् में कर्म अर्थ में द्वितीया विभक्ति है। अनु उपसर्ग पृष्ठकर्म तथा क्रिया अर्थ में है। पूर्वोक्त ध्येय अर्थ सतत् अनुस्मर्तव्य है। स्मृ धातु चिन्ता अर्थ में है। उष्मा के समान अवस्थित कर्म की च्युति के हेतु के क्षपणार्थ सतत् अनुस्मरण करना चाहिये। स्मृति का अर्थ है-देवनित्यता। तदनन्तर कर्मों के क्षीण हो जाने पर उसके दोषों के हेतु जाल मूल विशिष्ट के प्रत्यागमन के निमित्तों के अभाव के कारण सायुज्य-प्राप्ति हो जाने पर पुनः संसार प्राप्त नहीं होता। यहाँ श्लोक-निर्वचन है ॥३४॥

प्रश्न है-अज्ञान, कलुष, पाप वासना आदि प्रसङ्ग के प्रसार के सम्भव होने के कारण सन्देह होता है कि कर्म के क्षीण हो जाने पर सूक्ष्म रूप में अवस्थित होने पर अत्यन्त विशुद्ध व्यक्ति ही सायुज्य प्राप्त करता है अथवा अविशुद्ध? उत्तर है- विशुद्ध। जैसा कि कहा है–

दोषों के हेतु जाल के मूल का छेदन करके ॥३५॥

यहां व्युत्क्रम के अभिधान के कारण छेद शब्द क्रमशः योजनीय है। छेद का अर्थ है यन्त्रणा एवं धारण। क्यों? सूक्ष्मरूप में अवस्थित कर्म क्षय के लिये वसति अर्थादि निर्देशार्थ होने के कारण। किञ्च अर्थों के अनिर्वचनार्थ होने के कारण वहाँ केवल जप ही अभिहित है। यहाँ तो जो इन्द्रियाँ जेतव्य हैं, जो जेता है [विजेता है], जिसके द्वारा जेतव्य है, जिस प्रकार जेतव्य है, यदर्थ जेतव्य है तथा जिसके विजित होने पर विजित होती हैं वह कहूँगा। तथा जिसकी आत्मवृत्ति अध्ययन- ध्यान- स्मरणादि हैं वह भी कहूंगा। तथा जो आत्मा छेतव्य है उसके छेत्ता, छेद के करण, छेद के प्रयोजन, छेद्य क्षित्ति एवं जिसके छिन्न होने पर छिन्न

होता है वह कहूँगा इसीलिये कहा है-छेदन करके। यहाँ छेद का अर्थ है, मात्र आत्म-भाव का विश्लेषण। विच्छेद वचन से प्रतीत होता है। त्वा से शून्यागार गुहा में अवस्थित साधक के अध्ययन, ध्यान, धारण, यन्त्रणा आदि अवगत होते हैं। प्रश्न है-वह क्या है- अथवा किनके द्वारा छेतव्य है? इसीलिये कहा है-दोषों के हेतु जाल का मूल। यहाँ दोष है-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। कैसे? कामार्जनादि मूलत्व के कारण। जैसा कि कहा है-

''काम, क्रोध, लोभ, भय तथा पञ्चम स्वप्न, राग-द्वेष एवं मोह'' तथा अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसादि दोष हैं।'' अर्जन का अर्थ है प्रतिग्रह जप, क्रय-विक्रय तथा निर्वेश्यादि में ब्रह्मचारियों के विषयार्जन के उपाय। इनमें विषयों का अर्जन करते समय आत्मपीड़ा तथा परपीड़ा अवर्जनीय होती है। यदि वहाँ स्वयं को पीड़ित करता है तो इससे इसी लोक में दुःखी होता है किन्तु यदि दूसरे को पीड़ित करता है तो उसका भी अधर्म, दुःखादि रूप फल संचित होता है। उस दुःख का अनुभव अन्य नहीं करता, कर्ता ही करता है। और भी, विषय किंपाक फल [विष-वृक्ष] के समान होते हैं। जैसा कि सुना जाता है-लवण सागर के समीप कालयवन द्वीप में किंपाक् नामक विष वृक्ष थे। उनके फल स्वाद में अमृतोपम थे जिन्हें कुछ लोग अज्ञानवश गुड़ के समान भक्षण किया एवं भक्षित करके मूर्च्छा एवं छर्दि [क्षेरना] को प्राप्त हुये। इस तीव्र दुःख से अभिभूत होकर पञ्चत्व को प्राप्त हुये।''

''अपने सहृदय की बात सुनकर जो व्यक्ति उसका अपमान करता है वह व्यक्ति विपाकान्त [अन्त में] के किंपाक फलोपम विषय सेवन काल में सुख उत्पन्न करते हैं तथा संसार के परिणाम काल में जन्म निमित्त होने के कारण दुःखों को प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार विषयों के अर्जन में दोष को जानकर सैकड़ों तथा सहस्रों में कोई एक विरक्त होता है। ऐसा अन्य व्यक्ति। कैसे? अस्तु, वह उनमें रहे, हम उसका प्रतिषेध नहीं करते किन्तु यह विषयदोष अन्य कष्ट है। कौन है वह? उत्तर है- रक्षण दोष। अर्जित को इनकी रक्षा अवश्य ही शस्त्रपाणि होकर करनी चाहिये। कैसे? नृपदहन, तस्कर-दापाद, के समान फल होने के कारण। वहां आत्मपीड़ा होती है। पर पीड़ा के विषय में भी यथोक्त है। कहा गया है-

''जिस प्रकार चोर स्वकीय द्रव्य को तथा मांसभक्षी स्वकीय मांस को भक्षित करते हैं उसी प्रकार घोर विषय भी मनुष्य को पीड़ित करते हैं।''

''विषयों के परिग्रह के कारण मनुष्य क्लेश का ही समुपभोग करता है तथा उन्हीं विषयों के परित्याग से उसके सम्पूर्ण क्लेशों का क्षय हो जाता है। आत्मदु:खोपघात हेतु त्यागधर्म का समाचरण करें। विषयी व्यक्ति विषयों का परित्याग किये बिना सुख नहीं प्राप्त कर सकता। ''

विषयों के अर्जनादि में दोष को जानकर सैकड़ों या सहस्रों में कोई एक व्यक्ति ही विरक्त होता है तब अन्य क्यों? अस्तु यह विषयों के अर्जन तथा रक्षणादि में दो दोष हैं उन दोनों का हम प्रतिषेध नहीं करते किन्तु यह विषयों का अन्यतर कष्टतर दोष है। वह कौन है? उत्तर है-क्षय दोष। अर्जित एवं सुरक्षित भी इन दोषों में यह क्षय दोष अवश्यमेव अभ्युपगन्तव्य है। विषय क्षय होने पर विषयी व्यक्तियों के पुन: तीव्र दु:ख की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार नदियों के उदक क्षय होने पर मत्स्यादि की अभिव्यक्ति होती है-इसलिये यह अशोभन है। कहा गया है- ''तीन ही सर्वभूतापहारी ह्रद रूप दुर्ग हैं– स्त्रियाँ, अन्नपान एवं ऐश्वर्य है, उनसे हे ब्राह्मणों! जाग्रत रहो।''

ज्ञान के समान नेत्र नहीं है, क्रोध के समान शत्रु नहीं-लोभ के समान दु:ख नहीं है तथा त्याग के समान परमसुख नहीं है।

इस प्रकार विषयों के क्षय दोष को जानकर सैकड़ों या सहस्रों से कोई एक विरक्त होता है। ऐसा अन्य कैसे? ये विषय दोष रहे। एक अन्य दोष भी कष्टतर है। वह कौन है? सङ्गदोष। यदि अर्जन एवं रक्षण, क्षय हो जाने पर पुन: किये जाते हैं तथा पुन: अर्जन एवं रक्षण किया जाता है। यदि सङ्गदोष न हो। कैसे? जब तक यह इन्द्रिययुक्त होकर विषयों की अभिलाषा करता है तब तक इसकी तृप्ति उपशान्ति औत्सुक्य विनिवृत्ति नहीं होती । पुन: विषयों के अन्वेषण का आरम्भ करता है। उससे पुन: अतृप्ति आदि पूर्ववत् उत्पन्न होती है इसलिये यह अशोभन है। कहा गया है–

''कामियों के काम की शान्ति उपभोग से कभी नहीं होती जिस प्रकार हविष्य से कृष्णवर्त्मा [धुआँ] अग्नि की पुन: वृद्धि ही होती है। इस पृथ्वी में ब्रीहि [धान], यव, स्वर्ण, पशु, स्त्रियाँ इनमें से एक भी उस तृप्ति के देने में समर्थ नहीं है इसलिये विद्वान शम को स्वीकार करता है।''

इस प्रकार विषयों के सङ्गदोष को जानकर सैकड़ों, सहस्त्रों में कोई एक व्यक्ति विरक्त होता है। वैसा अन्य कैसे? विषयों के ये अर्जनादि दोष होवें, हम उनका प्रतिषेध नहीं करते । विषयों का यह अन्य कष्टतम दोष हैं कौन है वह? कहा जाता है-हिंसा दोष। विषयों के अर्जनादि दोष सक्य हैं। इन्द्रिय लोल्य [चंचलता] दोष भी होवे। यदि हिंसा दोष न हो। कैसे? इन्हीं विषयों के उपभोग में रत व्यक्ति से हिंसादि दोष अवश्यमेव कर्तव्य [हो जाते हैं] हैं। कैसे?भूतों की हिंसा किये बिना। विषयोपभोग सम्भव नहीं है। वहाँ शब्द के कारण यह किया जाता है। जैसे वीणा के निमित्त विद्यमान खदिरादि [खैरा] को देखकर अथवा तन्त्री निर्माण हेतु किसी को हिंस्यमान देखकर यदि कोई कहे कि यह अशोभन भूतवध किया जा रहा है, क्रदन कर्म किया जा रहा है [वह वक्तव्य है कि यह तुम्हारे लिये शोभन नहीं है।]। जहाँ भिक्षाप्रद गृहों में रम्य शब्दों को सुनोगे वहां परम परितोष प्राप्त करोगे। तथा [सूत्रादि के निमित्त भूतबध किया जाता है। जैसे बद्यमान कोश कीटों] कोशकारा [दियों] कों देखकर यदि कोई कहे कि यह अशोभन भूतवध तथा क्रदन कर्म [क्रूरतापूर्ण कर्म] किया जा रहा है। वह वक्तव्य है कि यह कहना तुम्हारे लिये शोभा कर्म नहीं है। यहाँ भिक्षाप्रद गृहों में मृदुतर स्पर्श वाले [कोमल] वस्त्रों को प्राप्त करोगे। वहां तुम्हें परम परितोष को प्राप्त होगा। तथा रूप के निमित्त भूतबध किया जाता है जैसे यदि कोई विद्यमान अशोकादि वृक्षों को देखकर तथा दन्तनिमित्त वध्यमान गजादिकों को देखकर कोई कहे कि यह अशोभन भूतवध तथा कदन कर्म किया जा रहा है तो यह वक्तव्य है कि यह तुम्हारे लिये शोभन नहीं है। जब तुम भिक्षाप्रद गृहों में अलंकृत बाट एवं गोपुरों को देखोगे वहाँ तुम्हें परम परितोष प्राप्त होगा तथा रस के निमित्त भूतबध को किया जाता है जैसे तित्तिर, मयूर, बराहादि को वध्यमान देखकर यदि कोई कहे कि यह अशोभन भूतबध किया जा रहा है वह वक्तव्य है कि यह तुम्हारे लिये शोभन नहीं हैं जहाँ भिक्षाप्रद गृहों में षट्रस से युक्त मांस का भक्षण करोगे वहाँ तुम्हे परम-परितोष प्राप्त होगा तथा गन्ध के निमित्त भूतबध किया जाता है जैसे बध्यमान पञ्चनरवादिकों [मृगादिकों]को देखकर कोई कहे कि यह अशोभन भूतबध एवं क्रदनकर्म किया जा रहा है तो वह वक्तव्य है कि यह तुम्हारे लिये शोभन नहीं है। जब तुम भिक्षाप्रद गृहों में सुगन्धों को प्राप्त करोगे वहाँ तुम्हें परम परितोष प्राप्त होगा। इस प्रकार "काम, क्रोध, लोभ, भय, पांचवा स्वप्न, राग, द्वेष तथा मोह" अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग हिंसादि मूलक होने के कारण यहां शब्दादि विषय दोष है। दोष कैसे? दुष् धातु चित्त-वैचित्र्य अर्थ में

है। दूषित करते हैं अतः दोष है। अध्ययन–ध्यानादि निष्ठ साधक को विचित्त या दूषित कर देते हैं अतः दोष हैं। दोषाणां में षष्ठी बहुवचन विभक्ति है। प्रश्न है– क्या दोषों के लिये ही क्षेतव्य कहा गया है? नहीं। जैसा कि कहा गया है– हेतु। यह हेतु अधर्म है। कैसे? चित्त की चिति का हेतु होने के कारण क्योंकि उससे आविष्ट साधक अध्ययन-स्मरणादि से च्युत हो जाता है। अतः यहाँ अधर्म हेतु है। धर्म स्थिति आदि का हेतु है। प्रश्न है– यह किसका हेतु है? उत्तर है–जाल का । यहाँ जब अधर्म कूटस्थ एवं अनारब्ध कार्यवाला होता है तब हेतु कहा जाता है किन्तु जब अज्ञान वासना वशात् धृति से स्थिति आदि भाव को प्राप्त कर लेता है तब जाल की आख्या प्राप्त करता है। कैसे? जालादि के समान समूह का यह अर्थ है। अन्य तत्वरूप कारण के अभाव के कारण। जालस्य में छेदन शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति है इसलिये छिन्न ही हो जाता है। कैसे? हेतु एवं जाल के दोष तथा चित्त सन्निपात प्रभव होने के कारण। प्रश्न है– क्या प्रति सम्बन्धी दोष हेतु तथा जाल से संश्लिष्ट होता है? तब कैसे अभिलाप किया जाता है? इसीलिये कहा है-मूल। यहाँ मूल कहने पर किसका यह प्रश्न उठता है? हेतु एवं जाल के दोष एवं चित्तसन्निपात प्रभव होने के कारण, प्रवृत्ति होने के कारण प्रतीत होता है कि यहाँ मूल का अर्थ है संयोग मूल ।।३५।।

प्रश्न है– यह छेत्ता,मूलच्छेद किससे करता है?। उत्तर है–

बुद्धि से ।।३६।।

अन्तःकरणाख्या बुद्धि, यह कही गयी है। धर्म स्मृति, प्रेरणादि सहित विद्यागृहीता उस बुद्धि से छेद्य स्थाप्य है, यह अर्थ है ।।३६।।

प्रश्न है– क्या दोषादि से सहगत वधादि से विशिलष्ट भी वह परतन्त्र कहा जाता है? नहीं। जैसा कि कहा जाता है-मूलाख्या के निमित्त होने पर।

संचित्त ।।३७।।

यहाँ सम् उपसर्ग दोषादि विशिलष्ट को स्वयमेव स्वगुणत्व से परिगृहीत होता है, अग्नि की उष्णता के समान वित्यानुबन्धी होने के कारण, यह अर्थ है। प्रश्न है– वह क्या है? उत्तर है-चित्त। यहाँ चिति धातु संज्ञान अर्थ में है। सचेत होता है अथवा संचय करता है। इससे अतः यह चित्त है। सुख-दुःख या पदार्थों को जानता है, धर्म एवं अधर्म का अर्जन करता है अतः जानता है अथवा संचय करता है इससे, अतः इसे चित्त कहते हैं। चित्त अर्थात् मन, अन्तःकरण। यहाँ इन दोष

हेतुत्ववादियों से यह युगपत् [साथ-साथ] छेतव्य है तथा विद्यमान से क्रमशः क्षपण होता है ।।३७।।

प्रश्न है–उस चित्त का छेदन करके क्या कर्तव्य है? उत्तर है- रुद्रस्थ होता है। जैसा कि कहा है–

रुद्र में स्थापित करके ।।३८।।

यहाँ ष्ठा धातु गति निवृत्ति अर्थ में है। चित्त की रुद्र से अत्यवधान स्थिति है यह कहा जाता है। त्वा यह श्मशानादि में अवस्थित स्मृति कर्म के अर्थ में निष्ठा प्रत्यय है। च शब्द समुच्चय अर्थ में है। न केवल छेदन करके स्थिर होना चाहिये अपितु स्थापयितव्य है यह अर्थ है। रुद्र ने यह कारणापदेश अर्थ में है। रुद्र का रुद्रत्व पूर्वोक्त है। रुद्र, यह औपश्लेषिक सन्निधान है। चित्त रुद्र में उपश्लेषयितव्य है, अन्यत्र नहीं यह अर्थ है। इस प्रकार विषयों से इन्द्रियों का जय करना चाहिये। यहाँ जो जेता है?, आत्मा। जिससे जेतव्य है? बुद्धि से। यथा जेतव्य है? क्रमशः। जिस हेतु जेतव्य है? चित्त स्थिति हेतु। जिसके विजित होने पर विजित होते हैं? चित्त के। यह भी व्याख्यात हुआ। इस प्रकार जप, यन्त्रणा, धारणात्मक छेदादि के विषय में भी यह योजनीय है तथा अन्तःकरण वृत्ति को स्थिर कर काल विशेष निमित्त मणि-दीप के समान तथा आत्मवृत्ति को स्थिर कर काल विशेष निमित्त मणि-दीप के समान तथा आत्मवृत्ति, अध्ययन, ध्यान, स्मरणादि एवं चित्त-स्थिति व्याख्यात हुई। [?] यह श्लोक निर्वचन हुआ ।।३८।।

प्रश्न है–चित्तस्थिति के समकाल ही कार्य-करण भी रुद्र में स्थित एवं युक्त हैं, तो क्या वे ही युक्त के लक्षण हैं? उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है–

एक [शरीरादि वियुक्त] क्षेमी [सम्पूर्ण शंकाओं को अतिक्रान्त करने वाला] होता हुआ वीत शोक [समस्त चिन्तारहित] ।।३९।।

यहाँ धर्म एवं अधर्म की वृत्तियों के उपरंत हो जाने पर अवसित प्रयोजन हो जाने के कारण, पक्वफल तथा सर्प-कञ्चुक के समान कार्यकरणों के गतप्राय हो जाने पर रुद्र में स्थित चित्त साधक को निष्कल एवं एक कहा जाता है तथा दोषव्यसंगकर अधर्म के निवृत्त हो जाने पर दोषादि विश्लिष्ट, निस्तीर्ण कान्तार व्यक्ति के समान अवस्थित, रुद्र में स्थित चित्त साधक क्षेमी कहा जाता है। तथा

सूक्ष्म, स्थूल, बाह्य-आभ्यान्तर सलक्षण एवं विलक्षण क्रियाओं के विनिवृत्त हो जाने पर रुद्र में स्थित चित्त निष्क्रिय साधक को सन् [विद्यमान, अर्थात् होते हुऐ] कहते हैं।

प्रश्न है यह निष्क्रिय है यह कैसे अवगत होता है? क्या युक्त के तीन ही लक्षण है? उत्तर है-नहीं। जैसा कि कहा है-वीतशोक। शोक एवं चिन्ता दोनों पर्याय हैं। वह चिन्ता दो प्रकार की होती है। कुशला एवं अकुशला। इसमें कुशला चिन्ता है- अध्ययन-ध्यान, स्मरणादि। अकुशला चिन्ता है- अनध्ययन, अध्यान, अस्मरणादि। इस प्रकार जप, यन्त्रण, धारणादि को करूंगा, इन अनेक विध चिन्ताओं के विनिवृत्त हो जाने पर व्ययगत शोक साधक को वीत शोक कहते हैं ।।३९।।

इस प्रकार यहां योगपदार्थ समाप्त हुआ। कैसे? अर्थों के निर्वचन के कारण। क्योंकि अध्याय के आदि में उद्दिष्ट जो पदार्थ थे वे दोषच्छेद, असङ्ग स्थिति आदि में व्याख्यात हो गये। इस प्रकार इस युक्त से क्रम आदि देवता अशेषित होते हैं। तत् असङ्गादि वचन के कारण।

प्रश्न है- क्या सांख्य-योग मुक्त विशेषित नहीं होते? उत्तर है-विशेषित होते हैं। कैसे? ज्ञानातिशय के कारण। कैसे? सांख्ययोग मुक्त कैवल्यगत स्वात्मपरात्मज्ञान रहित समूर्च्छित व्यक्ति के समान स्थित रहते हैं किन्तु इसको [साधक को] ज्ञान रहता है। जैसा कि कहा है-

ईश के प्रसाद से अप्रमादी दुःखों के अन्त को प्राप्त करता है ।।४०।।

इस प्रकार करता हुआ सर्वज्ञ इसके असंमोह को ज्ञापित करता है। कहा गया है-

"पण्डित [बुध] वह है जो कार्य करणाञ्जन एवं निरञ्जन सम्पूर्ण पुरुषों के लिये अप्राप्तांन्त पुरुष का अभ्यधिक वर्णन करे।

प्रश्न है-जो गन्तव्य है वह प्राप्त है? क्या यह उपचार है? उत्तर है-नहीं। अपरिज्ञान के कारण हमारा तन्त्र योगनिष्ठ नहीं है अपितु योग के कैवल्य से व्यतिरिक्त भी सर्वज्ञ रूप से कहा जाता है। ईश के प्रसाद से अप्रमाद के द्वारा दुःखों के अन्त को प्राप्त होता है। यहाँ प्रमाद शब्द अनागत एवं अनवधान गतत्व

रूप परतन्त्रता को ज्ञापित करता है यह अर्थ है। अंकुर परिरक्षण के समान अनागत काल के प्रतीकार करण के रूप यह अप्रमादी शब्द द्रष्टव्य है। इसलिये युक्त को अप्रमादी रूप में स्थिर रहना चाहिये तथा वर्तमान में माहेश्वर ऐश्वर्य प्राप्त ही है यह कहा गया है। गच्छेत् का अर्थ है गति अर्थात् प्राप्ति होती है। गम्लृ तथा सृप्लृ धातु गति अर्थ में है। पत्र की पांडुता तथा फल के पाप के समान आत्मा को प्राप्त करता है उसी में प्रवर्तन करते हुए साधक का जो यह दुःखापोह रूप गुण है उसी में यह गति नामक संज्ञा होती है यह अर्थ है। दुःखों से यहां प्रसिद्ध आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविकदुःख गृहीत होते हैं। उसमें आध्यात्मिक दुःख को मानस दुःख कहते हैं जिसके निमित्त हैं- क्रोध, मोह, लोभ, भय, विषाद, ईर्ष्या, असूया, द्वेष, मद, मान, मात्सर्य, अरति आदि विशेष दर्शनादि तथा शरीर दुःख हैं। शिरोरोग दन्तरोग, अक्षिरोग, ज्वर, प्रतिमत्स्य [सन्निपात], अतिसार, का [खाँसी] श्वास, उदर आदि आमय के निमित्तों से उत्पन्न। अन्य भी दुःख पाँच प्रकार के होते हैं जैसे-गर्भ, जन्म, अज्ञान, जरा, मरण। उस गर्भ में- जब यह पुरुष माता के उदर में निहस्त स्वगात्र होकर खण्ड शकटस्थ के समान नियम-क्षम को अनुभव करता हुआ अवकाश रहित, आकुंचन प्रसारण आदि में अपर्याप्तावकाश पुरुष सम्पूर्ण क्रियाओं में निरुद्ध अत एव द्वाररहित अन्धतपस में मूढ़ बन्धनस्थ के समान अवश्य अनुभव करता है। कैसे? चेतन, भोक्ता तथा तन्मय होने के कारण किन्तु कार्य करण नहीं। कैसे? अचेतन अभोक्ता एवं अतन्मय होने के कारण।

इस प्रकार जन्म दुःख भी। जब यह पुरुष उत्पन्न होते हुये पुरीष रूपी पंक में मग्न शरीर होकर मूत्र की धाराओं से अभिषिन्चित होते हुये संवृत [बन्द] द्वार वाले शरीर में,योनि से बर्हिभूत होने के संकट काल में अत्यन्त पीड़ित होते हुये अस्थि तथा मर्म बन्धनों से घिसते हुये, विक्रोश एवं रूदन करते हुए उत्पन्न होता है एतत्पश्चात् पुनः उसको अनुचित बाह्य वायु से जनन आवर्त से स्पष्ट होने पर उसको तीव्र दुःख की अभिव्यक्ति होती है। राजपुष्टकादि के समान। इसी कारण अन्य जन्मादिक स्मृति के हेतु भूत संस्कारों का लोप हो जाता है। इस प्रकार जन्म दुःख का अनुभव भी पुरुष ही करता है। कैसे? चेतन भोक्ता तथा तन्मय होने के कारण न कि कार्य एवं करणों को। कैसे? अचेतन अभोक्ता एवं तन्मय होने के कारण। इसी प्रकार अज्ञान दुःख भी अहंकार को आत्मसात् करने वाला पुरुष यह न जानते हुये, मैं कौन हूँ कहाँ से आया हूं अथवा किस

बन्धन से बँधा हूं?। क्या कारण है? क्या अकारण है? क्या भक्ष्य है? क्या अभक्ष्य है? क्या पेय है? क्या अपेय है? क्या सत्य है? क्या? असत्य है? क्या ज्ञान है? क्या अज्ञान है? इत्यादि अज्ञान दुःख का अनुभव पुरुष ही करता है। कैसे? चेतन भोक्ता एवं तन्मय होने के कारण, न कि कार्य एव करणों को। कैसे? अचेतन, अभोक्ता एवं अतन्मय होने के कारण।

इसी प्रकार जरा दुःख भी। जब यह पुरुष जरा जर्जरित कृश शरीर शिथिलीकृत नयन, कपोल, नासिका, भ्रूव, दसन, क्रौञ्च पक्षी के घुटनों के समान निर्विड [खिन्न] अक्षिदूषिकादि के कारण अपकर्षादि में असमर्थ परकटे पक्षी के समान लङ्घन, प्लवन तथा धावन में असमर्थ पूर्व काल में व्यतीत, भोग-व्यायाम-शिल्पादि पदों का अनुस्मरण करते हुये स्मृति की विकलता के कारण अवश्य क्लेश का अनुभव करता है। कैसे? चेतन, भोक्ता एवं तन्मय होने के कारण न कि कार्य करणों को। कैसे? अचेतन अभोक्ता एवं अतन्मय होने के कारण। इसी प्रकार मृत्यु दुःख भी। जब यह पुरुष मृत्यु के समय शिथिलेन्द्रिय, गले को धारण किये हुये कंठ वाला अपने द्वारा उपार्जित मणि, सुवर्ण, धन, धान्य, पत्नी, पुत्र, पशु आदि का समूह किसका होगा। इस कारण अनुतप्त होते हुये, विषयों से व्यथित, सलिलादि की याचना करता हुआ, मर्मो से छिद्यमान हो अवश्य क्लेश का अनुभव करता है। कैसे? अचेतन अभोक्ता एवं अतन्मय होने के कारण। कहा है-''गर्भ में प्रवेश करते हुये, निवास करते हुये, निकलते हुये तथा उत्पन्न होने पर पुरुष दुःख को प्राप्त करता है इसलिये पुनर्जन्म का न होना ही श्रेयस्कर है।''

इसी प्रकार अन्य पांच प्रकार के भी दुःख होते हैं। जैसे-इहलोक भय, परलोक भय, अहित संप्रयोग, हित विप्रयोग तथा इच्छा का व्याघात। इसी प्रकार अन्य भी तीन प्रकार के दुःख होते हैं। पुरुष के विषय में आध्यात्मिक अज्ञान, आधिभौतिक विषयीत्व तथा आधिदैविक पशुत्व से प्रकार के अन्य दुःख हैं इत्यादि अप्रीति जिसका फल है ऐसी बाधा का जन्म निमित्त होने के कारण दुःख के रूप में उपचरित होते हैं।

प्रश्न है—अनतिप्रसाद के कारण अशिवत्व संज्ञक चरणाधिकार में ये सभी अनतिप्रसाद बीजत्व के कारण अत्यन्त निवृत्ति क्यों नहीं होती? क्यों संहार को प्राप्त शृंखलायुक्त के समान, अशयित गुण प्राप्ति के हेतु कहा जाता है? दुःखों का अन्त प्राप्त करता है। दुःखों का अत्यन्त एवं परम अपोह एवं गुण की प्राप्ति

परमोत्कृष्ट रूप में होती है। ये दोनों ही इससे प्राप्त होते हैं। इसीलिये कहा है– इसके प्रसाद से। यहां ईश यह भगवान का नामधेय है। ईश कैसे? विद्यादि कार्य के ईशन् के कारण ईश है। प्रसाद का अर्थ है सम्प्रदान की इच्छा। उस प्रसाद से सम्पूर्ण दुःखों का अपोह तथा गुणों की प्राप्ति दोनों ही अन्य उपाधियों के परपरिवादि वचन से शुद्धि के समान होती है। इसी प्रकार यह अथ शब्द है। ''पशुपति से'' इस रूप में उद्दिष्ट [लक्ष्य भूत] दुःखान्त तथा प्रसाद का एवं दुःखों का अन्त ईश्वर की कृपा से प्राप्त करता है।

इस प्रकार दुःखान्त परिसमाप्त हुआ ।।४०।।

इस प्रकार अध्याय की परिसमाप्ति करके कहना युक्तियुक्त है–

इस ब्रह्म का जप करे ।।४१।।

इसका अर्थ पूर्वोक्त है। विधिपूर्वक ही जप करना चाहिये न कि दुःखान्तगत रूप से गणपति के समान [अ०१ सू०३८]। यह अर्थ है।। ४१।। प्रश्न है– कमी होने के कारण स्वेच्छया ही भगवान् कृपा करके दुःखान्त प्रदान कर देता है? पुनः अदुःखान्त नहीं करेगा? यदि असक्त भी है तथापि इसका शक्ति व्याघात तथा पाचक के समान अकर्मापेक्षत्व कहा जाता है?। यहाँ जिस प्रकार दुःखान्त नहीं करेगा? यदि असक्त भी है तथापि इसका शक्ति व्याघात तथा पाचक के समान अकर्मापेक्षत्व कहा जाता है? यहाँ जिस प्रकार दुःखान्त नित्य रूप से हो जाता है वैसा आगे कहेंगे और जैसे लिप्सा एवं आकांक्षा करने वाले साधक की अधिकार निवृत्ति हो जाती है वैसा भी कहेंगे। पदार्थ नियमन हेतु भी कहते हैं।

सम्पूर्ण विद्याओं का ईशान है ।।४२।।

ईशन [शासन] करने के कारण वह ईशान है। यहाँ ईशन् करने के कारण वह ईशान है इससे कारण उक्त होता है। ईशान का अर्थ है धाता प्रभु। प्रश्न है– यह किसका ईशान है?। उत्तर है– वह सबका ईशान है। सर्व शब्द विद्या प्रकृति से निरवशेषवाची रूप में द्रष्टव्य है। विद्या अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, कैवल्य एवं उनके साधन में लीन जनों का ईशान है।

विद्यानां में षष्ठी बहुवचन विभक्ति है। प्रश्न है क्या वह केवल विद्याओं का ही ईशान है न कि जो विद्याओं के ज्ञान प्राप्त करते हैं उनका। उत्तर है–

सम्पूर्ण भूतों का ईश्वर है ।।४३।।

यहाँ ऐश्वर्य में निरतिशय होने के कारण ईश्वर कहा जाता है। चैतन्य के समान पुरुष है, यह अर्थ है। प्रश्न है– यह किसका ईश्वर है? उत्तर है सम्पूर्ण भूतों का। यहां सर्व शब्द चेतन एवं अचेतन दोनों के लिये है न कि केवल पृथ्वी आदि के लिये। किन्तु सिद्धेश्वर भिन्न चेतनों के विषय में ही सर्वभूत प्रकृति के कारण सर्वशब्द निरवशेषवाची अर्थ में द्रष्टव्य है। किस कारण भूत कहते हैं? भावन करने के कारण भूत कहे जाते हैं। भूतानां में षष्ठी बहुवचन विभक्ति है।

प्रश्न है– यहाँ कोई विद्या एवं भूत से व्यतिरिक्त ब्राह्मण को मानते हैं? क्या यह उसका प्रभु होता है या नहीं? उत्तर है- प्रभु होता है। जैसा कि कहा–

[ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा तैत्तिरीय पाठ]

ब्रह्मण का अधिपति ब्रह्मा होता है ।।४४।।

यहां जो यह विरञ्चि, परमपति, सर्वचेतन, व्यतिरिक्त एवं क्षेत्रज्ञ है उसके विषय में यह ब्रह्म संज्ञा है न कि प्रधानादि के विषय में। क्यों? अधिपति कथा विरोध के कारण। ब्रह्म कैसे? बृंहण एवं बृहत् होने के कारण ब्रह्मा कहते हैं। जिसे विद्या, कला एवं भूत फलते-फूलते हैं और इनसे जो बड़ा है अतः वह अधिपति और ब्रह्मा है। यहाँ ब्रह्मण में षष्ठी विभक्ति का एक वचन है। अधि उपसर्ग अधिष्ठातृत्व अर्थ में है। उसके स्वाभाव्य के कारण संहृत या असंहृत कार्य में, यह अर्थ है। अधिपति का अर्थ है सुपति का पति, राजराज के समान। वह पालन, दर्शन एवं भाग तीनों में पति है क्योंकि वह ईश्वर ब्रह्मादि का पालन करता है, ब्रह्मादि के कार्य की रक्षा करता है। ब्रह्मा अधिपति है, ईश्वर अधिपति है।

इस प्रकार विद्यादि कार्य जिससे वृद्धि को प्राप्त करते हैं और इससे जो बड़ा है, इसलिये वह अधिपति ब्रह्मा एवं भगवान है ।।४४।।

प्रश्न है–यहां ब्रह्म के विषय में कार्यकरण का महाभाग्य ही चिन्तन का विषय है न कि साधक की लिप्सा अथवा लाभ? उत्तर है–नहीं। जैसा कि कहा है–

शिवं मेरे होवें ।।४५।।

यहाँ जिनके साधिकारत्व के कारण [शिव] अनति-प्रसन्न हैं उनके अशिवत्व को देखकर तथा दुःखान्त को प्राप्त साधकों के विषय में शिवत्व को देखकर कहा-शिव मेरे होवें। ये शब्द आत्मापदेश अर्थ में है अर्थात् मेरा। अस्तु यह कांक्षा अर्थ में है। अर्थात् कांक्षा करता है, लिप्सा करता है, खोजता है [अनुसन्धान करता है]।

प्रश्न है– कितने काल तक के लिये भगवान् शिव इसके हो जाते हैं? उत्तर है– नित्य। जैसा कि कहा है–

सदा ॥४६॥

यहाँ सदा शब्द का अर्थ है नित्य, सन्तत, अविच्छिन्न। प्रश्न है–किसको ऐसा कहा है? कौन इसका शिव होता है? उत्तर है–

शिव ॥४७॥

यहाँ शिव भी भगवान का नाम है। शिव कैसे? परिपूर्ण एवं परितृप्त होने के कारण शिव हैं। इसलिये सदाशिव के उपदेश से दुःखान्त नित्य रूप से हो जाता है। कारणाधिकार की निवृत्ति हो जाती है। तदर्थ दुःखान्त नित्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥४७॥

इस प्रकार के कार्य, कारण, योग, विधि, दुःखान्त पाँच पदार्थ समास, विस्तार, विभाग, विशेष एवं उपसंहार– निगमन के माध्यम से व्याख्यात हुए। कहा गया है।

प्रारम्भ में जो समासोक्त होता है। मध्य में उसका विस्तार होता है। विभाग तथा उपनय एवं निगमन के माध्यम से ॥?॥ होने पर यह निश्चय होता है।

यहाँ पति से कारण पदार्थ का उपदेश समास [संक्षेप] रूप से किया गया है। विस्तार तो वाम, देव, ज्येष्ठ, रुद्र, काम, शंकर, काल, कलविकरण, बलविकरण, अघोर, घोरतर, सर्व, शर्व, तत्पुरुष, महादेव ओङ्कार, ह्रषि, विप्र, महान, ईश, ईशान, ईश्वर, अधिपति, ब्रह्मा, शिव, इत्यादि रूप में। विभाग भी– पतित्व अन्य हैं, अजातत्व अन्य है, भवोद्भवत्व अन्य है, इस तरह किया गया है। विशेष अन्यों के प्रधानादि हमारे तद्व्यतिरिक्त भगवान ईश्वर है। कारणाधिकार में जैसा कि कहा है सर्वभूतों का ईश्वर है। सार्वकामिक कहा जाता है, यह उपसंहार है। निगमन है ईश, ईशान, ईश्वर, अधिपति, ब्रह्मा, शिव।

इसी प्रकार पशु, यह कार्य पदार्थ का उद्देश [उद्देश्य] है। उसका विस्तार है विद्या, कला, पशु। उत्पाद्य, अनुग्राह्य, तिरोभाव्य, काल्प्य, कल्पना योग्य, विकार्य, इसके बोध्य, अधिष्ठेयत्व के विषय में इत्यादि सूत्र। विद्या, धर्मार्थ एवं काम के भेदों से दुःखान्त विद्या है। कला द्विविध है–कार्य एवं करण रूप। कार्य रूप पृथ्वी आदि है। करण बुद्धि आदि। पशु त्रिविध हैं, देव, मनुष्य, तिर्यक, देव ब्रह्मादि अष्टविध हैं। मनुष्य अनेकविध ब्रह्मणादि है, तिर्यक् योनि में पशु मृगादि पंचविध

हैं। पशु साञ्जन एवं निरञ्जन दो प्रकार के होते हैं। इत्यादिं रूप में विस्तार है। विभाग भी विद्या भिन्न है, कलायें भिन्न हैं और पशु भिन्न है, इत्यादि रूप में है। विशेष भी अन्य के प्रधानादि कारण हैं वे इस शास्त्र में कार्य रूप में व्याख्यात हैं। वहाँ अन्य कारण प्रधान है। वहाँ अन्य का कारण प्रधान है। वह इस शास्त्र में पश्यन् तथा पाशकत्व के कारण कार्य रूप में व्याख्यात है। इसी प्रकार अन्यत्र पुरुष कारण है। किन्तु इस शास्त्र में–पशुत्व के कारण कार्यरूप में व्याख्यात हैं। इसी प्रकार कर्म मध्यत्व के कारण काल स्वभाव उपसंहार के समान है। कार्यत्व के कारण भूत कार्य रूप में व्याख्यात हैं। उपसंहार है– सार्वकामिकानिगमन है विद्या, कला, भूत, ब्रह्म।

इसी प्रकार योग से योग पदार्थ का उद्देश्य है। उसके इस प्रकार विचरण करने पर योग प्रवृत्त होता है [अ० १, सू० १९, २०]। उभय का यजन करना चाहिये [अ० २ सू०७]। अत्यागति को गयित करता है [अ० २ सू० १७] शङ्कर के विषय में अनन्य भक्ति [अ०२ सू० २०] एवं देव नित्यता, नित्य युक्तता, अध्ययन, ध्यान, स्मरण और नित्य सायुज्य यह विस्तार है। विभाग है क्रिया लक्षण, क्रियोपरम लक्षण, दूरदर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान। [अ० १ सू० २१], गणपति [अ० १ सू० ३८] भूयिष्ठ संप्रवृत्त होता है [अ० ५ सू० २०, २९] सिद्ध दुःखों के अन्त को प्राप्त करता है [अ०५ सू० २०,२९] इत्यादि विभाग है। शक्ति ज्ञान एवं क्रिया दोनों है। श्रवणादि ज्ञानशक्ति है, मनोजवित्व आदि क्रियाशक्ति है इत्यादि है। विशेष [भेद है] है, अन्य के लिये कैवल्य किन्तु यहाँ विशेष विकरण है।

प्रतिकरण– यह कैवल्य धर्मातिसक्ति एवं निष्कल ऐश्वर्य यह विशेष है। उपसंहार है इन गुणों से युक्त यह। अतः जितने वाक्य-विशेषों का सन्निकृष्ट [नजदीक] अथवा विप्रकृष्ट रूप में निर्वचन किया गया है उन सर्व निर्वचनों को करके युक्तियुक्त रूप में कहा गया है।

इस प्रकार यहां श्री भगवत् कौण्डिन्य विरचित श्रीमद् योग पाशुपत सूत्र व्याख्यान के पञ्चार्थ भाष्य का पञ्चम अध्याय ब्रह्म के साथ ग्रन्थतः एवं अर्थतः परिसमाप्त हुआ।

आचार्यभासर्वज्ञविरचिता

गणकारिका

नमः सर्वज्ञाय ॥

पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।
वेत्ता नवगणस्यास्य-संस्कर्ता गुरुरुच्यते ॥१॥

लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः।
दीक्षाकारिबलान्यष्ट पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः ॥२॥

गुरुभक्तिः प्रसादश्च मतेर्द्वन्द्वजयस्तथा।
धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम् ॥३॥

अज्ञानहान्यधर्मस्य हानिः सङ्गकरस्य च।
च्युतिहानिः पशुत्वस्य शुद्धिः पञ्चविधा स्मृता ॥४॥

व्यक्ताव्यक्तं जयच्छेदो निष्ठा चैवेह पञ्चमी ।
द्रव्यं कालः क्रिया मूर्त्तिः गुरुश्चैवेह पञ्चमः ॥५॥

गुरुर्जनगुहादेशः श्मशानं रुद्र एव च।
ज्ञानं तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः सिद्धिश्च पञ्चमी ॥६॥

वासश्चर्या जपध्यानं सदारुद्रस्मृतिस्तथा।
प्रसादश्चैव लाभानामुपायाः पञ्च निश्चिताः ॥७॥

मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेयाधिकारिकाः ॥८॥

समाप्ताः गणकारिकाः ।

गणकारिकाया रत्नटीका

नमः सर्वज्ञाय।।

अनादिसृष्टिसंहारस्थितिनिर्वाणकारिणे।
नित्यानन्त्येश्वरत्वाय नमः सर्वार्थदर्शिने।।

संसारकूपपतितं यः समुद्धरति द्विजम्।
पञ्चार्थज्ञानहस्तेन तस्मै सद्गुरवे नमः ।।

किं नु भगवन् पञ्चार्थोक्तसमस्तनियोगानुपालनादेव दुःखान्तः प्राप्यत इति?। उच्यते। न केवलं ततः किन्तु समस्तनियोगानुष्ठानशक्तिविकलेनापि ब्राह्मण-विशेषाणां शिष्यत्वेनोपगतानां सम्यगनुग्रहकरणादपि दुःखान्तः प्राप्यते। कस्मात्? सम्प्रदायरक्षणात्। सम्प्रदायं पालयता हि तत्सम्प्रदायसामर्थ्येन दुःखान्तं गमिष्यतां बहूनामपि दुःखान्त सम्पादितो भवति। ततोऽनन्तफलपुण्योपचयः। ततो योगप्राप्तौ प्रसादाद्दुःखान्त इति। तदेवं दुःखान्तनिमित्तेन शास्त्रसम्प्रदायपालनार्थं ब्राह्मण-विशेषाणां सम्यगनुग्रहः कर्तव्यः। असम्यक्करणे तु सम्प्रदायो विप्लावित एवं स्यात्ततो महानरकपात एवेति। सम्यगनुग्रहकर्तृत्वं पुनः पञ्चार्थशास्त्रोक्तार्थनिश्चये सति भवति। स च शास्त्रार्थः पञ्चधा नवधा वा ज्ञातव्यः। तद्प्रतिपादने हि विधावप्यनधिकारः, कुतस्तस्य योगमोक्षाविति। तस्मान्मुमुक्षुभिः-

पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः।

पञ्चपञ्चसङ्ख्याऽवच्छिन्नाः समुदायाः पञ्चका लाभादयस्तेषां न्यूनाधिकव्यवच्छेदेन अष्ट इति सङ्ख्यामाह। तुशब्दः सङ्क्षेपविस्तारपरिज्ञानयोः तुल्यफलत्वमवधारयति शिष्यजिज्ञासाऽनुरोधेन भाष्यारम्भोऽप्यर्थवानिति। विज्ञेया विशेषेण ज्ञातव्याः पुनः पुनरभ्यासेन दृढीकर्तव्या, येन सर्वदा शास्त्रार्थे चित्तस्थे कृते सति ग्रन्थविस्मरणेऽपि ब्रह्माद्यदोषो न भवेत्। अनुष्ठानाशक्तस्यान्यथा हि

सुरापानसमं पातकं स्यादिति। गणशब्दः समुच्चययवाची। चशब्दः समुच्चयेन केवलमष्ट पञ्चका विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मको विज्ञेयः इति। एक इत्यनन्तरोक्ताष्ट- सङ्ख्याशङ्कानिराकरणार्थम्। त्रिसङ्ख्याविच्छिन्नः समुदायः त्रिकः। स एव आत्मा स्वभावो यस्य भैक्षादिवृत्तिगणस्य स तथोक्तः, वृत्त्यन्तरनिषेधार्थम्। एवमेते नव गणा ज्ञेयत्वोनोद्दिष्टाः। यस्तान्सम्यगवधारयति सो वश्यं दुःखान्तं यास्यत्यन्येषां चानुग्रहकरणसमर्थो भवतीति। कुतः पुनरेतन्निश्चीयत इति। निश्चीयते यस्मात्सर्वैरेव परमयोगिभिः।

वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्ता गुरुरुच्यते॥

विद् ज्ञाने। तस्य वेदितेति प्राप्ते छन्दोभङ्गपरिहारार्थ छान्दसः प्रयोगो वेत्ता इति कृतः। अथवा विचारणे तस्य वेत्तेति भवति। वेत्ता विचारयति। नवगणानामिति बहुवचने प्राप्ते छन्दोभङ्गपरिहारार्थ तत्परिज्ञानस्य भिन्नफलत्वज्ञापनार्थं वा नवगणस्य इत्युक्तम्। नन्दिमहाकालादिष्वपि गणशब्दो दृष्टः तदाशंकानिराकर-णार्थमस्येत्युक्तम्। अस्य अनन्तरोद्दिष्टस्य लाभादिकस्येत्यर्थः। सुपरीक्षितं ब्राह्मण दीक्षाविशेषेण पञ्चार्थज्ञानविशेषेण च शिष्यं संस्कुर्वन्संस्कर्त्ता इत्युच्यते। स च तज्ज्ञैर्मुख्यत एव गुरुरुच्यते। गुरुराचार्यः श्रद्धावतामाश्रमिणां दर्शनसम्भाषणादिभिरपि पापघ्नः पुण्यातिशयकारी चेत्यर्थः। अथवा अन्यथा कारिकासम्बन्ध प्रदर्श्यति। द्विविधः खल्वत्र ब्राह्मणोऽपवर्गगन्ता श्रूयते साधक आचार्यश्चेति। तत्रेह दर्शने यः साधकः सन्नपवर्गं गन्तुमिच्छति तेन शास्त्रं श्रुत्वाऽऽचार्योपदेशमात्राद्धा विध्यादिस्वरूपं ज्ञात्वा विधियोगानुष्ठानमत्यन्ताभियोगेन कर्तव्यम्। यस्त्वाचार्यः सन्नपवर्ग गन्तुमिच्छति तेन किं कर्तव्यमिति आह–

पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चेकस्त्रिकात्मकः। इति

तुशब्दः समस्तसूत्रसूत्रावयवानामुपोद्धातादिनिश्चयद्वारेण नवगणा विज्ञेयास्ता-न्विज्ञाय शिष्याणां संशयाद्यज्ञानं निर्वर्तयता संस्कारः कर्तव्य इत्येवंभूतं विशेषं सूचयति। शेषस्त्ववयवार्थः पूर्ववत्। कथं पुनरेतत् गम्यते। दुःखान्तनिमि-त्तमाचार्यत्वमात्मन इच्छता नवगणा विशेषतो ज्ञातव्या इति गम्यते। यस्मात्–

वेत्ता नवगणस्यास्य संस्कर्ता गुरुरुच्यते ॥१॥

एवं चानुष्ठानाभिनिवेशासमर्थोऽपि यदि श्रद्धान्वितो भूत्वेषदपि समयमात्रं पालयन् ज्ञानाभ्यासं न मुञ्चति तदा पवर्गगन्ता भवत्याचार्य इति चोच्यते।

यस्त्वागमार्थज्ञानमात्रेण तुष्टः सन् श्रद्धादिविरहितः श्रद्धादिमात्रयुक्तो वा लाभादिज्ञानविकलः स खल्वाचार्याभास एवं नापवर्गगन्तेति ॥१॥

गणस्वरूपं तर्हि वाच्यम्। अथ केऽष्ट पञ्चकाः, कश्च त्रिकात्मको गणः इत्यत आह–

लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः।
दीक्षाकारिबलान्यष्ट पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः ॥२॥

विधीयमानमुपायफलं लाभः अथवा ज्ञानतपोदेवनित्यत्वस्थितिसिद्धिभेदभिन्न लाभाः, अथवा नाभिव्यक्तपूर्वा भावाः साधकात्मनि व्यज्यमाना लाभाः। येषामात्माश्रितानां भावानां क्षपणार्थं साधकः प्रयतते ते मलाः। अथवा मिथ्याज्ञाना–धर्मसङ्गच्युतिपशुत्वेभेदभिन्ना मलाः। साधकस्य साधकतमाः शुद्धिवृद्धिहेतव उपायाः। अथवा वासश्चर्याजपध्यानसदास्मृतिप्रसादभेदभिन्ना उपायाः। चशब्दः पादपूरणे, लाभादीनां वा परस्परासङ्कीर्णलक्षणसूचक इति। देशाश्चावस्था–श्चविशुद्धयश्चेति द्वन्द्वः। यदाश्रयसामर्थ्येन साधकः शुद्धिवृद्धी प्राप्नोति ते देशा गुरुजनगुहाश्मशानरुद्रलक्षणा इति वक्ष्यामः। आलाभप्राप्तेरेकमर्यादयाऽवस्थितयः साधकस्य अवस्थास्ता व्यक्तादिविशेषेण विशिष्टा वक्ष्यन्ते। मिथ्याज्ञानादीना–मत्यन्तव्यपोहा विशुद्धयः। दीक्षाकारीणि च बलानि चेति द्वन्द्वः। दीक्षानिमित्तानि दीक्षाकारीणि द्रव्यकालक्रियामूर्तिगुरुसंज्ञकानि साधकात्मगतान्युपायप्रवृत्ति निमित्तानि। बलानि गुरुभक्तिमतिप्रसादद्वन्द्वजयधर्माप्रमादलक्षणानि। अष्ट पञ्चका इत्युपसंहारः। तिस्रो वृत्तय इति प्राप्ते त्रीणि वृत्तय इति छान्दसः प्रयोगः कृतः पञ्चमलघूकरणार्थम्। आगमाविरोधिनोऽर्जनोपाया वृत्तयः भैक्षोत्सृष्टयथालब्ध–संज्ञिकाः। तत्र प्रथमावस्थस्य तावद्भैक्षमेव वृत्तिस्तस्याः को विधिरित्युच्यते। ज्ञात्वा भिक्षाकालं शुचिर्भूत्वा भस्मना हस्तौ प्रक्षाल्य पात्रं गृहीत्वा उदकप्रक्षालितं मन्त्रसंस्कृतं च कृत्वा महादेवं प्रणम्यानुज्ञां प्रार्थयेत्तदनु गुरुनिति। ततो देवगुरुभिरनुज्ञातो मन्त्रानावर्तयन् ईश्वरासक्तचित्तो वा दृष्टिपूतेन पथाऽभिशस्त–पतितगृहाणि वर्जयित्वा यत्र च भयनिमित्तं च काकादि कलुषानिमितं चामेध्यवि–वस्त्रयुवतिविटदुर्जनवचनभिक्षुकाकीर्णतवाद्युपलभ्यते तद्गृहाण्यपि वर्जयन्नेकमेव ग्रामादीनामन्यतमं पर्यटेद्यन्तराले एवं पर्याप्तिर्न भवति उपघातो वा कश्चिदिति ततः स्वायतनमागत्यापराधानुरूपं प्रायश्चित्तं कृत्वा मन्त्रसंस्कृतं च कृत्वा तद्भैक्षं शिवायानुगुरवे च निवेद्य महेश्वरं हृदि सन्धाय संयतवागुदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा समरसं कृत्वोपर्युपरि वा भुञ्जीतेति। पात्रं पात्रशौचं च सूत्रानुमतं स्मृतिप्रसिद्ध

प्रतिपत्तव्यम्। तथा च याज्ञवल्क्यः –

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलाबुमयानि च।
सलिलैः शुद्धिरेतेषां गोवालैश्च निघर्षणाम् ॥

मनुरप्याह–

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥

सापन्नं च सलेपं च विभिन्नं चापि यद्भवेत्।
तत्र भुक्त्वा च पीत्वा च यतिश्चान्द्रायणं चरेत ॥ इति यमः॥

आगमाविरोधिग्रहणादेकान्नस्य विद्याख्यापनानुशासनलोकयात्रादिभिर्निमित्तेरर्जितभैक्षस्य प्रतिषेधो द्रष्टव्य इत्येषा प्रातिपदावस्थस्य विधिः। तृतीयावस्थस्याप्ययं विधिः। एतावानत्र विशेषः। प्रायश्चित्तनिवेदनपञ्च- ब्रह्मजपानुस्नानादिकं न करोति तृतीयावस्थः परमयोगित्वादिति। द्वितीयावस्थस्योत्सृष्टमेव वृत्तिः। देवाद्युद्देशेन परित्यक्तमन्न पानं कारुण्य कौतूहलाभ्यां वा यदि कश्चिददुष्ट जातिर्दद्यादशुचित्वादिदोषरहितं तदृत्सृष्टम्। तच्च मायाभेदेनोपयोक्तव्यम्। भैक्षनिवृत्तेः पात्रनियमो नास्ति। चतुर्थावस्थस्य यथालब्धं वृत्तिः। श्मशानदेशावस्थितेनैव दिवसे दिवसद्वये त्रये वा यदन्नपानं प्राप्यते तद्यथालब्धमुच्यते। पञ्चमावसथस्य तु शरीराभावादेव वृत्त्यनुषपत्तिरिति ॥२॥

ग्रन्थक्रमस्य अप्राधान्यमर्थज्ञानस्यैव प्राधान्यं मन्यमानो क्रमेणैव निर्देशं करोति गुरुभक्तिः इत्यादिना। अथवा सर्वारम्भाणां लाभार्थत्वात्तत्प्राधान्यज्ञापनार्थ पूर्वमादौ लाभा उद्दिष्टा इदानीं पुनः सर्वेऽपि लाभा उपायसाध्यास्ते चोपाया बलहीनैः पुरुषैनुष्ठातुं न शक्यन्त इत्यतः प्राधान्यज्ञापनार्थं बलानामादौ निर्देशमाह।

गुरुभक्तिः प्रसादश्च मतेर्द्वन्द्वजयस्तथा।
धर्मश्चैवाप्रमादश्च बलं पञ्चविधं स्मृतम् ॥३॥

गुरुः आचार्यः पञ्चार्थज्ञानोपदेष्टा। तस्य भक्ति श्रद्धां सर्वदुःखाभिभूतस्यममायमेव त्रातेत्येषा भावना कार्या। तथा चोक्तम्। ''गुरुर्देवो गुरुः स्वामी'' इत्यादि। न च कारणप्रवचनयोर्भक्तिविरोधस्तदनुमत्यैव तयोर्भक्तिसम्भवात्। यतस्तु तयोर्भक्तिः कर्तव्येति नानुमन्यते स गुरुरेव न भवति अनुग्रहकारित्वात्। सा च गुरुभक्तिस्तदनभिप्रेतं परिहरतोत्थानादिकं कुर्वतां च सततं सेवनीया। ज्ञात्वा

तदभिप्रायमशास्त्रोक्तमपि तद्धिवं कर्तव्यम्। यथा चोक्तम् ''ग्रन्थार्थविदुषः'' इत्यादि। यदेव हि गुरोरभिप्रेतं तदेव विहितं शास्त्रानुक्तमपि श्रेयस्कारि भवति रामस्य मातृवधवत्। गुरोर्वाक्यानि च श्रोत्रयानि अन्यथा दोषश्रवणात्तत्त्वज्ञानालाभप्रस-ङ्गाच्च। भक्तिबलविहीनो हि ग्रहणाद्युपेतोऽपि ज्ञानावलेपेनान्यथा पिऽशास्त्रर्थं प्रतिपद्यत इत्यतो ग्रहणाद्युपेतस्य भक्तिरेव बलम्। भाष्यविरोधोऽपि नास्ति। यतो बलमष्टाङ्गं भक्तिरेवोच्यते, वेदाङ्गवदर्थान्तराभिधानात्। सैव ब्रह्मचर्यनिमित्तत्वात् ब्रह्मचर्यमित्युच्यते। यदि पुनर्यथाश्रुतार्थः स्यात्तदा वासोविधानमित्यादिज्ञा-पकाभिधानविरोधः स्यादिति। विधावधिकृतस्य द्वितीयं बलमाह। प्रसादश्च मतेः इति। मतिप्रसादशब्देनाकलुषत्वमुक्तम्। सति हि तस्मिन्मतिः प्रसन्ना भवति। तथा च ''बलमकलुषत्वम्'' इति भाष्यम्। अत्रापि तर्हि स्पष्टाभिधानं किमर्थं न कृतम्? मतिप्रसादहेतोरन्यस्याप्याशोचव्यामोहाद्यभावस्य बलत्वज्ञापनार्थं, प्रधानापेक्षयात्व-कलुषत्वमुक्तम्। चशब्दः पूर्वोक्तबलस्य विद्यमानस्यापि चरितार्थत्वात्तद्बलत्वं प्रधान्यान्न चिन्त्यत इति सूचयति। तच्चा कलुषत्वं द्विविधं परमपरं च । ता कलुषत्वबीजसद्भावेऽप्युत्पन्नकलुषत्वनिरोधि यावदनागतं कलुषं नोत्पद्यते तावत्कालं यदकलुषत्वं तदपरं, यदबीजक्षयादत्यन्तनिमित्तसद्भावेऽपि कलुष नोत्पद्यते तत्परमिति। योगक्रियायामधिकृतस्य तृतीयं बलमाह। द्वन्द्वजयास्तथा इति। आध्यात्मिकाधिभैतिकाधिदैविकानि दुःखसाधनानि द्वन्द्वानि तेषां जयः सहिष्णुत्वम् द्वन्द्वानभिभावयत्वमित्यर्थः। तथाशब्दः समानार्थे। यथा प्रागुक्तबले सत्यप्यचरितार्थं विध्यधिकृतस्याकलुषत्वमेव बलं चिन्त्यत इति। तदपि द्विविधं परापरभेदात्। यत्तावदक्षपिते पापे योगक्रियायामभिनिविष्टस्य साधकस्य मृदुमध्यमशीतातपादि-भिरनुभाव्यत्वं ध्यानाद्यभ्यासस्तदपरम्। यत् क्षपिते निःशेषपापे गुहादेशं गतस्यातितीब्रैरपि शीतादिभिरनभिभाव्यत्वलक्षणं द्वन्द्वसहिष्णुत्वं तत्परम्। भाष्यकृता तु परमेव गोमृगधर्मत्वं व्याख्यातम्। अकलुषत्ववदभ्यूह्य शिष्या अपरं गोमृगधर्मित्वं प्रतिपत्स्यन्त इत्यभिप्रायवता नोक्तमिति। सदास्मृत्यधिकृतस्य चतुर्थ बलमाह धर्मश्चैव इति। एवशब्दोऽवधारणे। यदा धर्म एवावस्थितस्तदा बलमित्यर्थः। ईषदधर्मसद्भावेऽप्यवधारणे नास्ति दोषः कृष्णविन्दुसद्भावे शुक्ल एवायं पट इति यथा। चशब्दः पूर्वोक्तबलत्रयसद्भावेऽपि धर्म एवाचरितार्थत्वेन बलमिति सूचयति। निष्ठायोगयुक्तस्य पञ्चमं बलमाह अप्रमाद इति। विशिष्टं ज्ञानमेवात्राप्रमाद इत्यभिप्रेतम्। तथा च भाष्यम् ''अस्य तु ज्ञानमस्ति यस्मादाहाप्रमादी'' इति। च शब्दः शरीरेन्द्रियधर्माधर्मव्यावृत्तौ सत्यामप्रमाद एव बलमिति सूचयति बलानां न्यूनाधिकभावव्यवच्छेदं चेति। बलं पञ्चविधमित्युपसंहारः। स्मृतमित्याप्तोक्तत्वं

दर्शयति। ननु च तत्र बलचिन्तायुज्यते यत्र तत्संपाद्यशत्रुक्षय उपपद्यते। अत्र पुनर्मोक्ष-शास्त्रे वीतरागस्य निष्परिग्रहस्य शत्रव एव न विद्यन्ते कुतः तत्क्षय इत्यतोऽत्र बलचिन्ता-नुपपन्नेति। नैतदेवत्। अत्रापि साधकस्याज्ञानादिशत्रुहान्यु पपत्तेस्तत्प्रतिपादनार्थमाह–

अज्ञानहान्यधर्मस्य हानिः सङ्गकरस्य च।
च्युतिहानिः पशुत्वस्य शुद्धिः पञ्चविधा स्मृता ॥४॥

अज्ञानहानिरधर्मस्य इति प्राप्त छन्दोभङ्गपरिहारार्थमज्ञानहान्यधर्मस्येत्युक्तम्। आर्षत्वान्न दोष इति। अज्ञानं च वक्ष्यमाणकं तस्य हानिः सबीजस्यात्यन्तोच्छेदः। अधर्मोऽपि वक्ष्यमाणकंस्तस्य हानिः सविकारयात्यन्तोच्छेदः अधर्मवत्सङ्ग-करस्यापि हानिर्व्याख्याता। चकारो हानिपदस्यानुकर्षणार्थः च्युतेः खलु वक्ष्यमाणिकायाः सह बीजेनात्यन्तोच्छेदश्च्युतिहानिरित्युच्यते। पशुत्वस्येति षष्ट्यन्तत्वाभिधानादनन्तरोक्तहानिपदेन सम्बन्धः। डमरुकमणिन्यायेन वा मध्योक्तं हानिपदं च्युतिपशुत्वाभ्यां सम्बध्यते। चकारो वा सङ्गकरप- दान्तोक्तोऽत्रानुवृत्तः। स न केवलं हानिपदानुकर्षकः, शुद्धीनां न्यूनाधिकभावं व्यवच्छिनत्ति। पशुत्वस्य माहेश्वरैश्वर्यसम्बन्धादात्यन्तिको निरोधः पशुत्वहानिरित्युच्यते। शुद्धि पञ्चविधा इत्युपसंहारः। स्मृता इत्याप्तोक्तत्व प्रदर्शनार्थम्। किं पुनरेताः शत्रुनिवृत्तयो बलानि चावस्था- भेदभिन्नस्य संपद्यन्तेऽथेकावस्थस्येति? कुतः संशय उभयथा दर्शनाद्विष्णुचक्रवत्। उच्यते प्रायेण तावदवस्थाभेदभिन्नस्य, यस्मादवस्थाभेदमाह–

व्यक्ताव्यक्तं जयच्छेदो निष्ठा चैवेह पञ्चमी । इति

प्रातिपदावस्था खलु व्यक्तावस्थेत्युक्ता। कस्मात्? पाशुपत्येयमिति व्यक्तिनिमित्तत्वात् भस्मस्नानशयनानुस्नानादिभिर्लिङ्गधारीत्युपदेशादिति। द्वितीया-वस्था तु जात्यादिव्यक्तेरहेतुत्वादव्यक्तावस्थेत्युक्ता। कस्मात्? अव्यक्तलिङ्गित्वो-पदेशाद्विद्यादिगोपनोपदेशाच्चेति। तृतीयावस्था पुनरिन्द्रियजयार्थत्वेन जयावस्थे-त्युच्यते। देवनित्यत्वार्थत्वेऽप्यस्या इन्द्रियजयार्थतैव प्राधान्येनोक्ता सूत्राणां सम्बन्ध-कथनद्वारेणाचार्यभाष्यकृतेति। छेदावसानार्थाऽवस्था छेदावस्थेत्युक्ता। सर्वस्य साधकव्यापारस्यात्यन्तोपरमो निष्ठा। तदुपलक्षिताऽवस्था निष्ठावस्थेत्युच्यते। व्यक्तादिविशेषणाभिधानाद्यूहादिशक्तिमतां विशेषप्रतिपत्तिर्भविष्यतीत्यभिप्रायव-ताऽत्रावस्थाग्रहणं न कृतमिति। च शब्दो न्यूनाधिकव्यवच्छेदसूचकः। प्रेतोन्मत्तमू-ढ्यावस्थान्तरसद्भावादधिकव्यवच्छेदानुपपत्तिरिति चेन्न गोपननियमेनाव्यक्तावस्था-यामेवान्तर्भावात्। जयच्छेदावस्थयोरप्यव्यक्तावस्थात्वप्रसङ्ग इति चेन्नानयोर्गोपन-

नियमानभ्युपगमान्निरूढ़ावस्थामनभ्युपगम्य सिद्धावस्थां पञ्चमीमाहुः। केचित्तन्मत-मवधारणेनैव निराचष्टे। निष्ठा चैवेह पञ्चमी इति। इहेत्यस्मिन्पञ्चार्थदर्शने निष्ठावस्थैव पञ्चमी सूत्रप्रामाण्ययात्प्रतीयते न सिद्धावस्था। तत्र क्षपणीयप्रापणीया-भावात्साधकावस्थाश्चेह निरूप्यन्ते, न ततोऽन्यस्येति। अत्राह। अनधिकारिणो-ऽवस्थाप्राप्तिरयुक्ता। तत्र तथा द्वितीयाद्यवस्थाप्राप्तौ ज्ञानाकलुषत्वादयोऽधिकारित्वापादकाः तथा प्रथमावस्थाप्राप्तौ को हेतुरित्युच्यते। अत्रापि कारणविशेषोत्पादिता दीक्षा हेतुः। यतस्तत्कारणप्रतिपादनार्थमिदमाह-

द्रव्यं कालः क्रियां मूर्तिर्गुरुश्चैवेह पञ्चमः ॥५॥ इति

अत्र विद्याकलापशुसंज्ञितं त्रिविधं कार्य द्रव्यमित्युच्यते। तत्र विद्या तावच्छिष्यगता दीक्षाङ्गं, यया शिष्यो दीक्षाऽधिकृतो भवति। यया त्वाचार्यः सम्पूर्णा दीक्षां निर्वर्तयति साऽऽयार्यगता विद्या । कला दर्भाद्या दीक्षाङ्गम्। उक्तं हि-

पूर्व दर्भाः पुनर्भस्म चन्दनं सूत्रमेव च।
पुष्पाणि च पुनर्धूपं मन्त्रा एष क्रमः स्मृतः ॥

पशुः संस्कर्तव्यो ब्राह्मणः। इत्थं व्याख्यानकरणादुपकरणादेरपि सङ्ग्रह इत्यतो न संस्कारकारिकाविरोधः कालः पूर्वाह्णः। कारणमूर्त्तिशिष्ययोः संस्कारकर्म क्रियेत्युच्यते। तत्क्रमश्च संस्कारकारिकायां द्रष्टव्यः। मूर्तिशब्देन यदुपहारसूत्रे महादेवेज्यास्थानमूर्ध्वलिङ्गादिलक्षणं व्याख्यातं, तत्समीपदक्षिणभूप्रदेशः कुअया-द्यव्यवहितोऽत्राभिप्रेतः। गुरुराचार्यः स द्विविधः तरापरभेदात्। पत्रापरः पञ्चार्थज्ञानमर्यादान्वीतः। यथा चोक्तम्-

शास्त्रानुगो प्रचारे योऽभिनिविष्टः प्रकृष्टधीः कुशलः
स भवति मतः किल सतामाचार्यो ज्ञानहेतुश्च ॥

तथा -

आचारे स्थापयन् शिष्यान्यस्मादाचरति स्वयम्।
आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन कीर्त्यते॥

तस्याधिष्ठाता भगवान्महेश्वरः परो गुरुस्तथा चैवं वर्णिते निमित्तमप्यत्र नानुक्तं भवति। च शब्दो न्यूनाधिकव्यवच्छेदसूचकः। एवशब्दो गुरोः प्राधान्यम-वधारयति। इय इति स्वसिद्धान्तनिर्देशः। पञ्चम् इत्युपसंहारः। अथवा एवइहपदयोः पाठविपर्ययं कृत्वाऽन्यथाऽर्थः प्रदर्श्यते। इहैव पाशुपतदर्शने एवंविशिष्टानि

दीक्षानिमित्तानि नान्यत्र। ततश्च निष्पाद्या दीक्षाप्यत्रैव विशिष्टाऽस्ति नान्यत्रेत्युक्तं भवति। अथ किं कारणविशेषैरेवेयं दीक्षा विशिष्यते, न किं तर्हि फलविशेषैरपि?। यस्मात्तदर्थमिदमाह–

ज्ञानं तपोऽथ नित्यत्वं स्थितिः सिद्धिश्च पञ्चमी। इति

तत्र पञ्चपदार्थविषयं समासविस्तरविभागविशेषोपसंहारनिगमनतस्तत्वज्ञानं प्रथमो विद्यालाभो ज्ञानमिति चोच्यते। तेषां समासादीनां स्व रूपं यद्यपि श्रीमताऽऽचार्येण भाष्यावसाने प्रकटितं तथाऽपि लेशतस्तद्भाष्यविवरणार्थमस्माभिरप्युच्यते। तत्र पदार्थानामुद्देशः समासः। सोऽथशब्दादिभिर्दुःखान्तादीनामभिहितः। उद्दिष्टानां प्रमाणतः प्रपञ्चाभिधानं विस्तरः। पतिः सन्नाद्य इत्येवमादि। तत्साधनत्वेन प्रमाणान्यपि विस्तरशब्देनोक्तानि। धर्मधर्मिणां यथासंभवं लक्षणतोऽन्यत्वाभिधानं विभागः। सर्वत्राप्यभिधीयति इत्यभिधानम्। कर्मव्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या। तत्र दुःखान्तस्य विभागस्तावदुच्यते। सर्वदुःखापोहो दुःखान्तः। स द्विविधोऽनात्मकःसात्मकश्चेति। तत्रानात्मकः सर्वदुःखनामत्यन्तोच्छेदः, सात्मकस्तु महेश्वरैश्वर्यलक्षणा सिद्धिः। सा द्विरूपा ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानमेव शक्तिर्ज्ञानशक्तिः। सा खल्वेकाऽपि सती समस्तव्यस्तविषयभेदात्पञ्चधोक्ता दर्शनश्रवणेत्यादिना ब्रह्मादिरिवोपचरितसर्वज्ञावप्रतिषेधार्थम्। क्रियाहेतुः शक्तिः क्रियाशक्तिः। सा त्रिविधा मनोजवित्वादिभेदा। तत्र निरतिशयं शीघ्रकारित्वं मनोजवित्वं, कर्मादिनिरपेक्षस्येच्छयैवानन्तररूपकर्तृत्वाधिष्ठातृत्वं कामरूपित्वं, संभृतकायेन्द्रियस्यापि निरतिशयैश्वर्यसंबन्धित्वं विकरणधर्मित्वं चेति। यदा चेयं द्विरूपा सिद्धिः प्राप्यते तदा दश सिद्धिलक्षणान्यवश्यत्वादीनि पतित्वान्तानि भवन्ति। तत्र निरतिशयमपराधीनत्वमवश्यत्वम्। अथ किमिदमवश्यत्वं नामेति?। वश्यत्वमलनिवृत्तावश्यत्वाख्यः पुरुषेऽवस्थितो धर्मोऽभिव्यज्यते, पटे शुक्लतावदित्येके। तच्चायुक्तम्, ऐश्वर्याभिव्यक्तेः प्रतिषिद्धत्त्वादनात्मकस्य च धर्मस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेरन्यथा नात्मकत्वविरोधः स्याद् यदा गुणैर्युक्त इत्यादिभाष्यविरोधाच्च नावस्थिताभिव्यक्तिः, किन्त्वैश्वर्यसंबन्ध एव पराधीनत्वनिवर्तकत्वादवश्यत्वमुच्यते। अथवा, यदा गुणैर्युक्तस्तदा स एवातथाभूतपूर्वस्तथा भवति। सर्पशिक्यादिवत्तय भावस्तत्वस्वरूपमवश्यत्वं भेदेनोच्यते व्यवहारार्थमित्येवमनावेश्यत्वादिष्वपि विचारो द्रष्टव्यः। सत्कार्यविचारे चायं विस्तारितो मया, तेनेह न प्रतन्यते। सत्त्वान्तरानभिभाव्यज्ञानसम्बन्धित्वमनावेश्यत्वं, सत्त्वान्तराधीनजीवितरहितत्वमवध्यत्वम्, समस्तभयातिक्रान्तत्वमभयत्वम्, ऐश्वर्येण नित्यसम्ब–

न्धित्वमक्षयत्वं, कायेन्द्रियवैकल्पलेनात्यन्तासम्बन्धित्वमजरत्वं, प्राणादिवियोगजदुःखासस्पर्शित्वममरत्वं सर्वत्राभिप्रेतार्थेषु प्रवर्तमानस्य महेश्वरेणाप्यप्रतिबन्धधर्मित्वम प्रतीघातः, सर्वपशुभ्योभ्यधिकत्वमैश्वर्यातिशयानमहत्त्वं, सर्वपश्वादिकार्यस्वामित्वं पतित्वमिति। यदस्वतन्त्रं तत्सर्वकार्यं तस्य विभाग उच्चये, विद्या कला पशुश्चेति। तत्र पशुगुणो विद्या- स्वशास्त्रदृष्ट्योक्ता। वैशेषिकदृष्ट्या द्रव्यवत्। सा द्विधा बोधाबोधस्वभावभेदात्। तत्राबोधस्वभावा धर्मादिलक्षणा विद्यान्तर्भावकरणाद-विद्यात्मकस्य विद्वान्तर्भावे कलादेरप्यन्तर्भावः स्यादिति। बोधस्वभावा तु विषयभेदाच्चतुर्द्धा पञ्चधा चोक्ता। स्वरूपतस्तु द्विधा विवेकवृत्तिः सामान्यवृत्तिश्चेति। तत्र विवेकवृत्तिः प्रायेणोपदेशव्यङ्गया न च तत्र समाख्यान्तरमस्ति। विद्येव हि विशेषसमाख्या, सामान्यवृत्तिस्तु प्रमाणमात्रव्यंग्या चित्तस्तु प्रमाणमात्रव्यंग्या चित्तमित्युक्ता। अनयोर्भेदष्टीकान्तरे मया दर्शित इति ने प्रदर्श्यते। चेतनाश्रितत्वे सति निश्चेतना कला। सोऽपि द्विविधा, कार्याख्या करणाख्या चेति। तत्र कार्याख्या दशविधा पृथिव्यप्तेजोवागवाकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दलक्षणा, करणाख्या तु त्रयोदशविधः, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्यन्तः करणत्रयं चेति। पशुत्वसंबन्धी पशुः। सोऽपि द्विविधः, साञ्जनोनिरञ्जनश्चेति। तत्र साञ्जनः शरीरेन्द्रियसम्बन्धी चतुर्दशविधः । उक्तं हि–

> "दैवमष्टविधं ज्ञेयं तैर्यग्योनं च पञ्चधा।
> पर्वमेकं तु मानुष्यमेतत्संसारमण्डलम् ॥" इति।

निरञ्जनस्तु त्रिविधः संहृतः कैवल्यगतो निष्ठायोगयुक्तश्चेति। समस्तसृष्टिसंहारानुग्रहकारि कारणं तस्यैकस्यापि गुणधर्मभेदाद्विभाग उक्तोन्यत्प-तित्वमित्यादिना। निरतिशयदृक्क्रियाशक्तिः पतित्वं, तेनैश्वर्येण नित्यसंबन्धित्वं सत्त्वम्, अनागन्तुकैश्वर्यत्वमाद्यत्वं, समस्तजन्मरहितत्वमजातत्वं, महासृष्टिसंहा-रकर्तृत्वं भवोद्भवत्वं, परमोत्कृष्ट गुणधर्मनिमित्तनामाभिधेयत्वं वामत्वं दुःखान्तनिमित्तधर्म्मोत्पादकनामाभिधेयत्वं वा, स्वेच्छयैवाशेषकार्योत्पत्त्यादिकारण-स्वभावः क्रीडा तद्धर्मित्वं देवत्वं, सिद्धसाधकपशुभ्यः परत्वं ज्येष्ठत्वं, सर्गादावपि रुतभयसंयोजकत्वं रुद्रत्वम्, कर्मादिनिरपेक्षस्य स्वेच्छयैवाशेषकार्यकर्तृत्वं कामित्वं, शमसुखनिर्वाणकरत्वं शङ्करत्वम्, अन्तरसृष्ट्यामपि संहारकर्तृत्वं कालत्वं, कार्य कारणाख्यानां कलानां स्थानशरीरादिभावेन संयोजकत्वं कलविकरणत्वं, धर्मादिबलानां यथेष्टं वृत्तिलाभलोपाक्षेपकर्तृत्वं बलप्रमथनत्वं, संर्वदेवामानुषतिर-श्चांरतिरञ्जनाधिवासनाकर्तृत्वं सर्वभूतदमनत्वं, सकलनिष्कलावस्था-

यास्तुल्यशक्तित्वं मनो मनस्त्वं सुखकरानंतशरीराधिष्ठातृत्वमघोरत्वं, दुःखकरानन्तशरीराधिष्ठातृत्वं घोरतरत्वं, सर्वविद्यादिकार्याणां व्याप्ताऽधिष्ठातृत्वं पूरणं, यथेप्सितानन्तशरीरादिकरणशक्तिः पौरुष्यम्। तदुभयं भगवतः पुरुषत्वमुच्यते। सर्वपश्वादिभ्यो भ्यधिकोत्कृष्टव्यतिरिक्तत्वं महत्त्वं, देवत्वं पूर्वोक्तम्। दुःखान्तनिमित्तं ध्यानैकविषयत्वमोङ्कारत्वम्। ऋषित्वं क्रियाशक्तिर्ज्ञान शक्तिस्तु विप्रत्वम्। अनयोरारयव्यापित्वानन्तविषयत्वनिरतिशयत्वज्ञापनार्थं तदाश्रयो भगवान्महा नित्युक्तः। सर्वदा सर्वत्राविचलित स्वभावेन वर्तमानो भगवानेश इत्युच्यते। गुणधर्मद्वारेण वाचः प्रवर्तन्ते यस्मादतस्तद्व्यतिरिक्तस्तदविशेषितश्च भागवान्विशुद्ध इत्युच्यते।

''नित्यानागन्तुकैश्वर्ययुक्ते परमकारणे।
यत्र वाचो निवर्त्तन्ते वाग्विशुद्धः स कीर्तितः॥

क्षणैकमपि यस्तत्र प्राप्नोत्येकाग्रतां यतिः।
स दग्ध्वा सर्वकर्माणि शिवसायुज्यमाप्नुयात्॥''

सर्वेश्वर्यप्रदातृत्वं महेश्वरत्वं, समस्तकार्यविषयं प्रभुत्वमीशत्वं, सर्वविद्याविषयं प्रभुत्वमीशानत्वं, सर्वभूतविषयं प्रभुत्वमीश्वरम्। प्रक्रमापेक्षः खल्वेवमीशादिशब्दानामर्थः प्रदर्शितोऽन्यथा पुनरेकार्थत्वमेवेति। ब्रह्मग्रहणस्योदाहरणार्थत्वादशेषपतिविषयप्रभुत्वमधिपतित्वं, बृंहणबृंहत्त्वं ब्रह्मत्वं, परिपूर्णपरितृप्तत्वं शिवत्वमिति। एवं सुनिश्चिताः खल्विमे गुणधर्माः परमेश्वरस्योपहारकाले गायता भावयितव्याः सततं वा जपं च कुर्वता विभक्त्युपसर्गनिपातक्रियापदानामर्थैः सह चिन्तनीयास्ततोऽचिरेणैव कालेन शुद्धिवृद्धी भवतः। ते च स्वात्मसंवेद्ये इति।

धर्मार्थः साधकव्यापारो विधिः। स द्विविधः प्रधानभूतो गुणभूतश्चेति। तत्राव्यवधानेन धर्महेतुर्यो विधिः स प्रधानीभूतश्चर्येति वक्ष्यते। यस्तु चर्याऽनुग्राहकः स गुणभूतो नुस्नानादिः। तत्र भुक्तोच्छिष्टादिनिमित्तायोग्यताप्रत्ययनिवृत्त्यर्थं लिङ्गाभिव्यक्त्यर्थं च यत्स्नानं यत्कलुषनिवृत्त्यर्थं तदुपस्पर्शनम्। एतदुभयमप्यजपतैवेश्वरनियोगमनुसन्धाय संसारदोषं भावयता गुरुलघुभावं च पर्यालोच्य भस्मनैव कर्तव्यम् निर्माल्यधारणमपि लिङ्गाभिव्यक्तिभक्तिविवृद्धिद्वारेण चर्याऽनुग्राहकम्। विचार्य कारणनिर्माल्यं निष्परिग्रहं परं कृतं गृहीत्वा संयतात्मा कारणं प्रणम्यानुज्ञां प्रार्थयेत्ततः प्रसन्नमुखं भावन्तुं स्वनिर्माल्यं निर्मलीकरणाय प्रयच्छन्तं ध्यात्वा

महाप्रसाद इत्याभिसन्धाय भक्त्यैव शिरसि धारयेत्। तथाऽऽयतनवासित्वमपि चर्यानुग्राहकम्।

तथा चोक्तम्–

"धर्मक्षेत्रं परं ह्येतद्यच्छिवायतनं भुवि।
विधिबीजस्य सा भूमिस्तत्र वप्तं महाफलम्।

लिङ्गाद्वसतशतं साग्रं शिवक्षेत्रं समन्ततः।
जन्तूनां तत्र पञ्चत्वं शिवसायुज्यकारणम्।।"

ग्रामे वा यदि वेत्यादि। उपस्पर्शनेनाक्षपितकलुषक्षापणार्थं प्राणायामः। कोष्ट्यस्य वायोर्गतिनिरोधः प्राणायामः। तत्रोपस्पृश्य कारणतीर्थकरगुरून्प्रणम्य प्राङ्मुखो वा पद्मकस्वस्तिकादीनामन्यतमं यथासुखमासनं बद्धा कृतमुन्नतं च कृत्वा शनैः संयतान्तः करणेन रेचकादीन् कुर्यात्। कलुषाभावे पिऽचित्तस्यातिनिर्मलत्वापादनार्थमभ्यासार्थं नित्यं कुर्यात्। उक्तं हि–

"प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।।

प्राणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्त्वस्थश्चैव जायते।।

जलविन्दुकुशाग्रेण मासे मासे च यः पिबेत्।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामैकतत्समम्।।

प्राणायामविशुद्धात्मा यस्मात् पश्यति तत्परम्।
तस्मात्किञ्चित्परं नास्ति प्राणायामादिति श्रुतिः।।

तदक्षपितकलुषक्षपणार्थं जपः कर्तव्यः। तृतीयचतुर्थयोरन्यतरस्मिन् ब्रह्मणि प्रयत्ननिरुद्धं चित्तं सम्पूर्णक्षरानुबोधेन तदर्थानुबोधेन वा पुनः पुनः सञ्चारयेदिति। एवं च प्रायश्चित्तान्तरमुत्सृष्टत्वान्न कर्तव्यमिति। ननु च त्रिकस्य कलुषनिवृत्त्यर्थमेवाभिधानं व्यभिचारान्तरेषु पुनः किं प्रायश्चित्तम्? न चैतद्वाच्यं यतेरप्रमत्तस्य सर्वदैव संयतत्वादसम्भवी व्यभिचार इति, कामादिव्यभिचारेण समानत्वात्त्रिकस्या-प्यनारम्भप्रसङ्गो वा। किं चाधर्मसामर्थ्याद्विदुषोऽपि

व्यभिचारसम्भवात्। उक्तं च "ह्रियते बुध्यमानोपि" इत्यादि। हिंसा-याश्चावश्यंभावित्वात्।

उक्तं हि–

"अह्ना रात्र्या च यान्जन्तून्निहन्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत्॥"

प्रतिदिनमित्यर्थः। अत्रैके सर्वव्यभिचारेषु त्रिकमेव कर्तव्यमिति मन्यन्ते। वयं तु पश्यामः कलुषनिवृत्त्यर्थमेव त्रिकं कर्तव्यम्। भाष्यस्यापि तथैव श्रुतत्वान्नादृष्टार्थ-मदृष्टशुद्धेश्चानिश्चयात् त्रिकानुपरमप्रसङ्गः स्यात्, तस्मात्कलुषनिवृत्तौ पूर्वकृताधर्मक्षपणवद्व्यभिवारकृताधर्म क्षपणार्थमपि विध्याचरणमेव कर्तव्यम्। तथा च सूत्रं "भूयस्तपश्चरेत्" इति। मनुरप्याह–

यत् किञ्चिदेनः कुर्वन्ति वाङ्मनोमूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्नुदन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात् ततः॥

तथा श्रीमद्भाष्यकृताऽपि ज्ञापकमुक्तम्–

तपोभिरार्या निनुदन्ति पापं ध्यानोपयोगात् क्षपयन्ति पुण्यम्।
ते निर्मलास्तत्त्वविदो विशुद्धा गच्छन्ति मोक्षं ह्युभयोरभावात्॥

न चायं नियमः पुण्यक्षय एव ध्यानात्, किन्तु पापक्षयोऽपि। यतः तत्रैव ज्ञापकान्तरमुक्तम्–

सर्वंदहति ध्यानेन पुण्यपापक्रियाश्रयम्।
पुण्यपापफले दग्धे स्वामी तस्य न विद्यते॥ इति।

एवं तर्ह्यनर्थकं विध्यनुष्ठानमिति चेन्नानेन विधिना रुद्रसमीपं गत्वेति प्रवचनाद्धि विध्यनुष्ठानविकलस्य योगानुष्ठानसामर्थ्याभावात्॥ तथा चान्यत्राप्युक्तम्–

धर्मः प्रयत्नतः कार्यो योगिता तु विशेषतः।
नास्ति धर्मादृते योग इति योगविदो विदुः॥ इति।

तस्मादुपस्पर्शनादिभिः प्रसन्नंचित्तं कृत्वा सर्वस्याधर्मस्य क्षपणार्थं विधियोगानुष्ठानमेवात्यंतादिभियोगेन कर्तव्यं न प्रायश्चित्तान्तरमिति। तथा दशाहिंसादयो यमाश्चर्यानुग्राहका यदा तदा विध्यन्तर्भूता, यदा तु योगक्रियानुग्राहकास्तदा योगान्तर्भूता इति। तत्र वाक्कायमनोभिः परदुःखानुत्पादनमहिंसा, इन्द्रियसंयमो ब्रह्मचर्य, धर्मसाधनाङ्गवचनप्रतिषेधः सत्यं, वर्णाश्रमिभिः सह दृष्टार्थसङ्गतिप्रतिषेधो संव्यवहारः, धर्मसाधनाङ्गादभ्यधिकस्य न्यायतोप्यस्वीकरणमन्यायतस्तु धर्मसाधनाङ्गस्याप्यस्वीकरणं चास्तेयं, परेरपकृतस्याप्यम्लानचित्तत्वमक्रोधः वाक्कायमनोभिर्गुरौ हिंसभावेनैव वर्तनं गुरुशुश्रूषा, कायान्तःकरणात्मशुद्धि शौचं, स्ववृत्त्यैवोपार्जितान्नस्य विधियोगानुष्ठानाविरोधेनाभ्यवहरणमाहालाघवम्। अष्टौ ग्रासा मुनेरिति केचित, तन्नेष्टं, विधियोगानुष्ठानं विरोधप्रसङ्गात्। सव्यञ्जनशनोदकाभ्यां कोष्ठस्य भागत्रयं पूरयित्वा चतुर्थ भागं वायोः संचरणार्थमवशेषयेदित्यन्ये। तदिष्टमेवाविरोधात्। अत्र च पञ्चविधेमेक्षाभिधायकं वाक्यं ''चरेन्माधुकरीम्'' इत्याद्यविरोधेन व्याख्येयम्। यथाविहितविधियोगानुष्ठाने सततमेवोद्यमो प्रमादः। अयं च प्रधानभूतो यमः। तथा चोक्तम्–

यतिधर्मस्य सद्भावः श्रूयतां गुणदोषतः।
अप्रमादात्परा सिद्धिः प्रमादान्नरकं ध्रुवम् ॥ इति॥

वासो पि ज्ञानोत्पादनद्वारेण चर्यानुग्राहकत्वाद्गुणविधिरेवेति। चित्तद्वारेणेश्वरसम्बन्धः पुरुषस्य योगः। स द्विविधः क्रियालक्षणः क्रियोपर- मलक्षणश्चेति। तत्र क्रियालक्षणो जपयन्त्रणधारणध्यानस्मरणात्मक इति। वक्ष्यामः। क्रियोपरमलक्षणोऽप्यतिगत्यादिशब्दवाच्य इति।

शास्त्रान्तरोक्तपदार्थेभ्यो मीषमतिशयाभिधानं विशेषः। तथाहि शास्त्रान्तरे दुःखनिवृत्तिरेव दुःखान्तः, इह तु परमैश्वर्यप्राप्तिश्च। तथा न्यत्राभूत्वा भावि कार्यमिह नित्यं पश्वादि। तथा न्यत्रास्वतन्त्रं प्रधानादि कारणमिह तु स्वतन्त्रो भगवानेव। तथान्यत्र कैवल्याभ्युदयफलो स्वर्गादिफलो योगः, इह तु परमदुःखान्तफलः। तथान्यत्रावर्त्तकः स्वर्गादिफलो विधिरिह त्वनावर्तको रुद्रसमीपादिफल इति। पदार्थानां समाप्तिरुपसंहारस्तत्र दुःखान्तकार्यकारणविधीनामिति शब्देन समाप्तिरुक्ता। योगस्य तु त्वाशब्देनेति। समाप्तानां निःशेषीकरणार्थं प्रासङ्गिकसंशयनिवृत्तयर्थमित्यन्ये। तदेवं विधियोगयोः कार्यान्तर्भावे पि अतिप्रयोजनवशात् पृथगभिधानं कृत्वा पञ्चानामेव समासादय उक्ता इत्यतः पञ्चैव

पदार्था उच्यन्ते। अन्येतु पदार्थभेदमन्याथा वर्णयन्ति। तत्त्वं गुणो भाव इति। तत्र यदनाश्रितं तत्तत्वम्। तच्च विंशतिभेदम्। पञ्च पृथिव्यादीनि त्रयोदशेन्द्रियाणि पशुः कारणं चेति। तत्त्ववृत्रयः भावाश्राया गुणास्तत्र पृथिव्यादिषु यथासम्भवं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः पञ्चैव वर्तन्ते। इन्द्रियतत्त्वानि तु निर्गुणानि। पशुषु सप्त गुणावर्तन्ते पशुत्वधर्माधर्मचित्तविद्याप्रयत्नेच्छालक्षणाः। सुखादीनां तु तद्विकारत्वा-त्तदन्तर्भाव एव, मृद्विकारवत्। कारेण त्रयो गुणा कामार्थित्वंविप्रत्वाख्या इति धर्मिभ्योन्यानन्यत्वेनानिर्वचनीयाः। सत्त्वगुणानां धर्मा भावा इत्युच्यन्ते। तद्विचारश्च सत्कार्यविचारे कृत इति नेह क्रियते। तदेवं कारणादिनिश्चयज्ञानं प्रथमो लाभ इति। द्वितीयं लाभमाह तपः इति। भस्मस्नानादिविधिजनितो धर्मस्तप इत्युच्यते। तस्योत्पादो रक्षणादिलिङ्गादपि निश्चीयते। अधर्मतस्करेण सन्मार्गादपहिणयमाणः। साधकः पुरपाल स्थानीयेन धर्मेण रक्ष्यते। अवस्थानादवस्थान्तरगमनं गतिः। विहितानुष्ठान एवं सन्तोष प्रीतिः। लाभसम्बन्धः प्राप्तिः। यद्बलेन विधियोगाभिनिविष्टस्य चित्तं रम्भादीनां गीतवाद्यादिभिरपि क्षोभयितुं न शक्यते तन्माहात्म्यं धर्मशक्तिरित्यर्थः। अतिगतिसायुज्यस्थितिशब्दा निष्ठायोगपर्यायाः। यस्मिन् सति पदार्थाः साधकस्याध्यक्षोपलब्धियोग्या भवन्ति, स प्रकाशः द्विविधः परापरभेदात्। तत्र येन विधियोगसाधनानि सम्यग्विवेचयति ध्येयतत्त्वे ब्रह्मणि च स्वं चित्तं समाहितं च्युतं च व्यवमानं च लक्षयति सोऽपरः प्रकाशः। येन तु स्थापनावसरे सर्वतत्त्वानि सगुणधर्माण्यानन्त्येन दृष्ट्वा योज्यायोज्यभावेन विवेचयति स पर इति। विषयिणामिष्टविषयेष्विवानिच्छतोऽपि रुद्रे चित्तवृत्तिप्रवाहः समीपं, तदेवात्यन्तोत्कर्षापन्न देवनित्यत्वमित्येत्सर्व धर्मज्ञापकत्वेनोक्तमिति। तृतीयं लाभमाह। अथ नित्यत्वमितिअथेत्यानन्तर्ये तपोणन्तर यददेवे भावाभ्योलक्षणं नित्यत्वं तृतीयो लाभा, स उच्यते। नतु नित्ययुक्ततेत्यर्थः । अव्यच्छिन्नप्रवाहो नित्यत्वमत्राभिप्रेतं यथा नित्यप्रवाहा गङ्गेति। चतुर्थ लाभमाह स्थितिरिति। दोषहेतुजालेभ्यश्छिन्नस्य मूलाख्यानिवृत्तौ चित्तस्य रुद्रेऽवस्थानमत्यन्तनिश्चलत्वं स्थितिरुच्यते। तत्समकालं योगिनोऽसङ्गित्त्वमदीनि नवलक्षणानि भवनित। तत्र लक्ष्यमाणस्य संगस्यात्यन्तव्याबृतिरस। केवलरूद्रतत्त्वावस्थित चित्तत्वं योगित्वम्। अनुरुध्यमानचित्तवृत्तित्वादीनि नित्यात्मतत्त्वय अप्रदुर्भाविचित्त्वं· अजत्वम्। परमसमता मैत्रत्वम्। शरीरादिवियुक्तत्वमेकत्वम्। सर्वाशङ्कास्थानातिक्रान्तत्त्वं क्षेमित्त्वम्। बाह्ययाध्यामिम्कक्रियाशून्यत्वं निःक्रियत्वम्। समस्तचिन्तारहितत्वं वीतशोकत्वमित्येतानि लक्षणान्यस्य योगस्यात्यन्तोत्कृष्टत्त्वप्रतिपादनार्थमुक्तानि। पञ्चमं लाभमाह सिद्धियश्च इति। सिद्धिः पूर्वव्याख्याता। सानुमानादप्यवगम्यते।

निरूपचरिता मुक्तात्मनः परमैश्वर्योपेताः पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजरहितत्वान्महेश्वरवत्। पराभिप्रेता मुक्तात्मानः परमैश्वर्यविकलत्वादस्मदादिवदिति। चकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदसूचकः। पञ्चमीति लाभानां पञ्चत्वोपसंहारार्थमिति ।।६।।

अथैते लाभाः किं देशनियमेन प्राप्तव्या यथा ब्रह्मचारिगृहस्थ वानप्रस्थभिक्षु- भिर्विद्याप्रजातयोगाख्या लाभाः किं वा देशनियमेनापि पञ्चविंशतितत्वज्ञेन कैवल्यवदिति?। उच्यते। देशनियमेन। यतस्तदर्थमिदमाह-

गुरुर्जनगुहादेशः श्मशानं रुद्र एव च ।। इति।

आर्षत्वाद्वा यथाश्रुतेऽप्यदोषः। गुरुः पूर्वोक्तदाज्ञया वतिष्ठमानस्तदाश्रितो भवति, यथा ग्रामण्यमाश्रितो ग्राम इति। तत्रादिधर्मावस्थस्य तावदायतने वास इत्यत्रायतनशब्दों गुरावेव द्रष्टव्यो, लिङ्गकर्तेत्यादिज्ञापकादुपचाराद्वा मञ्चशब्दवत्। यद्यप्यायतनसूत्रे प्रतिषेधः श्रूयते तथापि देश प्रस्तावे गुरुरभिप्रेत एवाचार्यो लोक इत्यादि ज्ञापकाभ्यनुज्ञानात्। अत एवं गूढव्रतोपदेशादायतने वास इत्यत्रायतनशब्दो जने विवक्षितो मर्यादयायतनादिति कृत्वा बद्धस्य रुद्रस्य हि शिवायतनवासानुपपत्तेः। यदा पि वासस्तदा पि जनाधीन एवेत्यतो द्वितीयावस्थस्य जन एव देशः। जनशब्देनात्र धर्माधर्मजननाधिकृता वर्णाश्रमिणोऽभिधीयन्त इति। तृतीयावस्थस्य गुहा देशः। गुहाग्रहणं सूत्रार्थोपलक्षणार्थमतः शून्यागारगुहयोरन्यतरं व्यासङ्गादिदोषवर्जितं यत्प्राप्यते तत्र वस्तव्यम्। देशग्रहणं तत्रावस्थानमात्रेण गृहायां देशत्वज्ञापनार्थं न तु गुरुजनवत्तदायत्तत्वेनेति। चतुर्थावस्थस्य श्मशानदेशः। श्मशानं च प्रसिद्धमेव ग्राह्यम्। तस्य च न गुहावद्देशत्वं किंत्वादेहपातात् तत्रैवानिर्गच्छता स्थेयमित्ययं विशेषः। पंचमावस्थस्य देशो रुद्रः। रुद्रो भगवान्महेश्वरः। प्रागपि रुद्रायत्तत्वा- त्साधकस्य रुद्रो स्त्येव देशस्तथापि प्रागन्यव्यपदेशोऽप्यस्ति, साम्प्रतं पुनः शरीरादिरहितस्य सर्वदेशविकलत्वादवधारणं करोति रुद्र एवेति। चशब्दो न्यूनाधिकव्यवच्छेदसूचक इति।

अथ किमेतद्देशावस्थितिमात्रेणैवैते लाभाः प्राप्यन्ते कल्पवृक्षदेशावस्थितिवत्? उच्यते- न। किं तर्हि देशभेदवदुपायभेदोऽप्यस्ति। यतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह-

वासश्चर्या जपध्यानं सदारुद्रस्मृतिस्तथा
प्रसादश्चैव लाभानामुपायाः पञ्च निश्चिताः।।७।। इति

ग्रहणधारणोहापोहविज्ञानवचनक्रियायथान्यायाभिनिवेशानां वास इति संज्ञा तान्त्रिकी शिष्टैः कृता। तत्र सकृदुच्चारितवाक्यस्य सम्यगर्थं प्रतिपत्तिसामर्थ्यं ग्रहणम्। गृहीतस्य चिरकालव्यवधाने पि स्मरणसामर्थ्य धारणम्। एकदेशश्रवणात् तन्नयायेनापूर्वार्थप्रतिपत्तिसामर्थ्यमूहः। आचार्य देशीयैरुक्तार्थानां युक्तायुक्तप्रविभागेन प्रतिपत्तित्यागसामर्थ्यमपोहः। श्रुतस्यार्थस्यानेकधाविचारणे परप्रतिपादने च सामर्थ्य विज्ञानम्। व्याहतपुनयुक्तादिदोषरहितं वाक्यं वचनम्। निर्दुष्टशब्दोच्चारणेनाचार्य परितोषयतो मिथ्याज्ञानमलनिवृत्तौ विद्याभिव्यक्तिर्भवति। तथोत्थानप्रत्युत्थानादिका गुरौ परिचर्या क्रियेत्युक्ता। युक्त्यापि पूर्वोत्तराविरुद्ध-शास्त्रार्थपर्यालोचने तदर्थानुष्ठानार्थमतियत्नो यथान्यायाभिनिवेशः। यथा चोक्तम्—

पूर्वोत्तराविरोधेन वाक्यार्थं ह्यविचालितम्।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः ॥

धर्मस्योपायः चर्या। भस्मस्नानादिर्मूढान्तः क्रियासमूहश्चर्येत्युच्यते। सा च त्र्यङ्गा दानयागतापाङ्गेति। पञ्चसु पवित्रेष्वावर्त्यमानेषु दशभिनमस्कारैः परमेश्वरायात्मसमर्पणं दानम्। तदेवातिदानमनावृत्तिफलत्वात्। अन्यत्तु कुदानमावृत्तिफलत्वादिति। परमेश्वरनियोगाभिसन्धिना भस्मस्नानादिक्रियाणां यथाविहितकरणं यागः। स एवातियागोऽन्यस्तु कुयागः पूर्वोक्तहेतुद्वयात्। स्वविध्यभिनिविष्टस्यैव त्रिविधदुःखोपनिपाते सति अनुपायतः प्रतीकारमकुर्वतः सहिष्णुत्वं तापः। स एवातितापोऽन्यत्तु कुताप इति। सा त्र्यङ्गापि चर्या द्विविधा, ब्रतं द्वाराणि चेति। तत्र स्नानशयनोपहारजपप्रदक्षिणानि व्रतम्, धर्मनिष्पत्यधर्मोच्छेदार्थ प्राधान्येन क्रियमाणत्वात् द्वराणि तु क्राथनस्पन्दनमन्दनशृङ्गारणापितत्करणा पितद्भाषणानि। अपमानपरिभवपरिवादनिष्पादनद्वारेण पूर्वात्पन्नयोर्धर्माधर्मयोरा-यव्ययनिमित्तत्वादिति क्रमः स्वरूपं चेषां भाष्य एव प्रपन्चितम्। तदनुसारेण शिष्यहितार्थं मयापि लेशतः प्रदर्श्यते। प्रागादित्योदयात् घटिकाद्वयं पूर्वाह्णसन्ध्या। सा त्रिदेवता। प्रथमा ब्राह्मी, मध्यमा वैष्णवी, अन्त्यारौद्री। तत्र पूर्वसन्ध्ययोः शौचं कृत्वा भस्म संस्कर्तव्यम्। कर्तृकारकादिदोषरहितं शुक्लादिगुणयुक्तं च भस्मार्जितं शिवदक्षिणमूर्तौ मन्त्रैः संस्कृत्यप्रदक्षिणं च दत्त्वा सूर्यरूपिणं भगवन्तं लोचनत्रयेण प्रसन्नदृष्ट्या भस्म पश्यन्तं ध्यायेत्। तदनु चाचार्याय शिवतत्त्वानुरञ्जितदृष्टये ज्येष्ठभ्रात्रे वा निवेदयेत्। तदन्वेकान्ते शुचौ प्रदेशे जन्तुस्थावरहीने पञ्च पवित्राण्यावर्तयतैव स्थेयं रौद्रसवनं यावत्ततो भगवन्तं प्रणम्य त्वदाज्ञां करोमीत्यभि-संधाय जपन्नेवापादतलस्तकं यावत् प्रभूतेन भस्मनाऽङ्गं प्रत्यङ्गं च प्रयत्नातिशयेन

निघृष्य स्नानमाचरेदित्येवं मध्याह्नापराह्णसन्ध्ययोरपीति। एतावदत्र विशिष्यते। मध्यान्हे प्रथमा ब्राह्मी, मध्ये मस्तकोपरिस्थिते रवौ रौद्री, तदन्ते वैष्णवी, अर्कास्तसमयोत्तरत्र प्रथमा रौद्री, तदनु वैष्णवी, तदन्ते ब्रह्मी चेति। सर्वत्र रौद्रसवनमेव स्नानकाल:। एवं स्नानं निर्वर्त्य जपन्नेवायतनं गत्वा शिवं भक्त्यतिशयेन प्रणम्य स्नानं निवेद्य च शनैर्गर्भगृहं प्रविशेत्। तदनु मूर्ति दक्षिणे भूप्रदेशे जानुनी पातयित्वा हृदि चाञ्जलिं बद्ध्वा मूर्त्तिस्थं साखादिव शिव पश्यन् यद्यनिवृत्तप्रत्याहारस्तदा गतमात्र एवं हसितं कुर्यादित्येके। वयं तु पश्यामोऽभिगम्य च यत्पूर्वं जपतीत्यादि भाष्यस्यार्थो यदि विचार्यते तदा वश्यं गत्वा संयतात्मनोत्तराभिमुखेन प्रत्याहारविशेषार्थं जप्तव्यं, जप्त्वा तु शिवध्यानासक्त एवाट्टहासं पुनः पुनः कुर्यात्। तदनु गीतमारभ्य गायन्नवोतिष्ठेत्श्चेति गीत सहितमेव नृत्यं कुर्यात्। तत्रादौ गीतं परिसमाप्य पश्चान्नृत्यं समापयेत्। तदनु पूर्वोक्तविधिनोर्यावश्य शिवं ध्यायन्नेव हुडुक्कारं कृत्वा नमस्कारं कुर्यात् तदनु जपमिति। अत्र जपनमस्कारौ मानसावेव, नृत्यं कायिकमेव, हसितगीतहुडुक्कारा वाचिका एवेति नियम इष्टः। तत्र दीर्घोच्छ्वासत्रयं यावद्धसितं, दण्डकत्रिरावर्तनं यावद्गीतनृत्ये, गम्भीरहुडुक्कारत्रयं, षष्ठि नमस्कारान्, पञ्चपवित्राणां त्रिरावर्तनंकुर्यादित्याह भगवानाचार्यः स्वामी मम येनाहमज्ञानार्णवादुत्तारितः। टीकाकारास्तु सर्वमापरितोषात् कर्तव्यमित्येवं प्रतिपन्नाः। तदेवं निर्वर्त्योपहारं ध्यायन्नीशं हसितगीत नृत्यहुडुक्कारनमस्कारजप्यैः षडङ्गोपहारं भगवनमहादेव। युष्मदनुज्ञया निर्वर्तितवानहमवभृथस्नानं च करिष्यामीत्येवं निवेदयेत्। ततो निष्क्रम्येशं प्रणम्य प्रणामान्तं प्रदक्षिणत्रयं जपन्नेव शनैः कुर्यात्। ततो वभृथस्नानं कृत्वा भगवंल्लकुलीशादीन् राशीकरान्तांश्च तीर्थकराननुक्रमेण कथावद्भक्त्या नमस्कुर्यातदनु प्रदक्षिणमेकमिति। अन्यदा तु यावदिच्छं प्रदक्षिणं जपन्नेव कुर्यात् पञ्चमन्त्रजपस्तु केवलोऽपि धर्महेतुरिति। अथायतनसन्धितं भूप्रदेशं दिवा परिगृहीतस्थावरादिदोषवर्जितत्वेन सुपरीक्षितं सन्ध्यावसाने वस्त्रान्तादिमृदुपवित्रेण विवेच्य भस्मनैव शुचिं कुर्यात्। तदनु तत्रोपविश्य विध्यभिनिविष्टस्तावत्तिष्ठेद्यावदतिनिद्राऽभिभूतः श्रान्तश्च भवति।

ततः पुनरुत्थायविवेचयेत्। तदनु मन्त्रैः संस्कृत्य भस्म प्राभूतं प्रस्तरेत्। ततस्तत्र पञ्च मन्त्रानावर्तयन्नेव स्वपेत्, पुनरुत्थायानेनैव विधिना स्वपेद्येनाश्वेव शुद्धिवृद्धी भवतः। सुप्तस्यापि प्राणात्यये चातिगतिः स्यादन्यथा विधिभ्रष्टस्य संसारापत्तिरेवेति। एवं प्रथमावस्थायां विधिमनुष्ठाय यदा खलु प्राप्तज्ञानः प्रक्षीणकलुषः कृताभ्यनुज्ञश्च भवति तदावस्थान्तरं गत्वा रङ्गवदवस्थितेषु जनेषु मध्ये तटवदवस्थितो विवेच्य

विवेच्य क्राथनादीनि कुर्यात्। तत्रासुप्तस्येव सुप्तलिङ्गप्रदर्शनं क्राथनं, वायव्यभिभूतस्येव शरीरावयवानां कम्पनं स्पन्दनम् उपहतपादेन्द्रियस्येव गमनं मन्दनम्। रूपयौवनसम्पन्नां स्त्रियमवलोकयन् कामुकमिवात्मानं यैर्लिङ्गैः प्रदर्शयति तच्छृङ्गारणं, कार्याकार्यविवेकशून्यस्येव लोकनिन्दितकरणमपितत्करणं, व्याहतापार्थकादिशब्दोच्चारणमपितद्भाषणमिति। न चैषां क्रमो नियम्यते। किन्त्वपमानादिनिष्पादकत्वं येन परिभवं गच्छेदित्युपदेशाद्वाग्नितुल्यत्वेनापमानादेरिष्टतमत्वादिति। एवं तर्हि हिंसास्तेयादिकरणदुष्टशब्दोच्चारणप्रसङ्गोऽपि स्यादपमानादिनिष्पादकत्वादिति। नापितत्करणाऽपितद्भाषणे........... देवाशेषक्रियाव्याप्तावहिंसाद्यविरोधज्ञापनार्थत्वात्क्राथनाद्यारम्भस्येति। देवनित्यत्वे कस्तर्हि उपाय इत्याह जपध्यानम् इति। तत्र तृतीयचतुर्थकस्य मन्त्रस्यावर्तनं जपः। स द्विविधः प्रत्याहारफलः समाधिफल इति। ननु तत्राद्यः प्रत्याहारफलस्तन्निष्पत्तौ च ...... क्रियमाणो जपः संवत्सरशतेनापि न प्रत्याहारं करोत्यपि तु दोषमेव तस्य जनयतीति। सत्यमेवमेतत्। किन्तु प्रत्याहारद्वैविध्यमिहेष्टं परापरभेदात्। तत्रान्तः। कारणपूर्वकोऽपरः तत्सहितेन जपेन निर्मलीकृतं चित्तं प्रयत्ननिरपेक्षमपि ब्रह्मण्येवालातचक्रवदवतिष्ठते यदा तदाऽसौ परः प्रत्याहारो जपपूर्वक एवायमित्युक्तः करणपूर्वकोऽपरः। स ह्यनेकजन्मोपार्जितं कर्म लक्षणामात्रेण दग्ध्वा ध्येयतत्त्वे चित्तं स्तम्भनिक्षिप्तायः कीलकवन्निश्चलीकरोति। रुद्रतत्त्वे सदृशश्चिन्ताप्रवाहो ध्यानम्। तद् द्विविधं जपपूर्वकं धारणापूर्वकं च। तत्र जपपूर्वकं प्रसङ्गेनैव पूर्वमुक्तं, धारणापूर्वकं तूच्यते। निरालम्बनं मगूढस्य धारणम्। संहृतमूर्च्छाद्यवस्थस्यापि चित्तं वृत्तालाभान्निरालम्बनमस्तीति तन्निवृत्त्यर्थमगूढस्येत्युक्तम्। यो विद्याऽनुगृहीतया बुद्ध्या स्वं चित्तं निरालम्बनं करोति सोऽमूढइत्युच्वते तयानिधारणया निर्मलीकृतं चित्तं रुद्रतत्त्वे स्थापितं सुदीर्घकालं न च्यवत त्यनेनैव विशेषेणपूर्वध्यानापेक्षयेदं धारणासहितं ध्यानं परमित्युक्तं श्रीमद्भाष्यकृता परमयोगिना। यद्यप्येव दीक्षाप्रभृति चित्तं निर्मलीकर्तुं न शक्यते तथापि धानुष्कचित्रकरादिवदभ्यासार्थं सर्वावस्थासु यथाशक्त्या ध्यानं कर्तव्यं मृत्युकालस्यानिश्चिततत्वात्। अन्यथा हि युद्धकाल एव अश्वमदमनन्यायः स्यादिति।

इत्थं सम्यग्विधिं ज्ञात्वा यस्तु ध्यायति शङ्करम्।
निशादावर्धरात्रे च निशान्ते चाच्युतव्रतः॥

यामं यामं तदर्धं वा यावच्छक्त्या दिवापि च।
सन्त्यज्यासक्तिमन्यत्र पश्यन्दुःखमयं भवम्॥

परं वैराग्यमास्थाय लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
उत्साहातिशयं कुर्वन् शुद्धोत्कर्ष विवर्धयन्।।

नैरन्तर्येण षण्मासं ब्रह्महत्यादिमानपि।
एकं संवत्सरं वापि तच्चित्तस्तन्मयो भवेत्।।

स हत्वा दुष्कृतं घोरं रागादीनां च पञ्जरम्।
पश्यत्येवाखिलं तत्त्वं सर्वोपाधिसमन्वितम्।।

सर्वसत्त्वाधिमं पश्यन्ननन्तं शिवमव्ययम्।
यो न पाशुपतादन्यैर्योगीशैरपि दृश्यते।।

तं दृष्ट्वा परमैश्वर्यं लब्ध्वा स्यान्निर्भयः सदा।
अज्ञात्वा पि विधानं यस्तेषु कालेषु सुव्रतः।।

सद्भक्त्युत्साहवैराग्यैर्नित्यं ध्यायति शङ्करम्।
तस्यापीशः प्रसन्नस्तां सिद्धिं दद्यादनुत्तमाम्।।

यां प्राप्य त्यक्तसंसारः स्वतन्त्रः शिववद्भवेत्।
ध्यायन्नेव तमीशानं यदि प्राणान्विमुञ्चति।।

तस्य देहान्तकाले वै दद्यादीशः परां गतिम्।
अभक्षा वायुभक्षाश्च ये चात्युग्रतपश्चराः।।

क्षित्यादीनां च दातारो यज्ञानुष्ठायिनश्च ये।
संवत्सरसहस्रेण यां सिद्धिं प्राप्नुवन्ति ते।

तां प्राप्नोत्यर्धयामेन जपध्याने रतो यतिः।
ज्ञात्वैवं योगमाहात्म्यं देहादेः स्थित्यनिश्चयम्।।

दुःखार्णवं च संसारं न कुर्यादन्यथा मतिम्।
शरीरं ध्रियते यावद्यावद्दुद्धिर्न हीयते।।

तावद्ध्यानं जपं चैव यावच्छक्त्या समभ्यसेत्।
इष्टं द्रव्यं यथा नष्टं कश्चिद्ध्यायत्यहर्निशम्।
तद्वद्धागाद्यसंसृष्टं शिवं ध्यायेदनालसः।।

विवक्षोर्वाग्विशुद्ध प्राग् यद्वच्चेतसि भासते।
तद्वत्तं प्रणिधानेन दिवा रात्रौ च चिन्तयेत्।।

गुणैर्धर्मैर्विशिष्टं वा भावयित्वाऽऽशु निश्चितः।
पश्चात्तं केवलं ध्यायेद्बुद्ध्या कृत्वा पृथक्ततः ॥

इत्येतत्पाशुपतयोगविधानं परमोत्तमं सुरैरपि अलभ्यं परमगुह्यम परमेश्वराद्गुरुपारम्पर्योपदेशैकसमधिगम्यं स्वल्पप्रज्ञानामनुग्रहार्थं व्यक्तमेवोपन्यस्तम्। यस्त्वेवं न श्रद्दधात्यपरीक्षितेभ्यो वा ददाति तस्य ब्रह्महत्यादिभ्यो पि गरीयः पातकं स्यादित्यतः शिष्यपरीक्षायां श्रद्धायां च यत्नः कर्तव्य इति। स्थितेरुपायमाह। सदारुद्रस्मृतिस्तथा इति। देवनित्यत्वमेव सदास्मृतिरित्युच्यते। स्थितं प्रत्युपायत्वप्रतिपादनार्थं संज्ञान्तराभिवानमिति। तथाशब्दः समानार्थं। यथा देवनित्यत्वं प्रत्यध्ययनध्यानयोरेवोपायत्वं धर्मं च प्रति चर्याया एवं तदनुग्राहकत्वेनानुस्नानादियमयन्त्रणादिरप्युपायत्वमुपचर्यते, तथा स्थितिं प्रति स्मृतिरेव प्राधान्येनोपायस्तदनुग्राहकत्वेनेन्द्रियजयोऽप्युपायत्वेनोक्तं इत्यतो नेन्द्रियजयादित्यनेन विरोधः। सङ्गादिनिवृत्तेरूपायान्तरमिन्द्रियजय इत्येके। तन्न पञ्चोपायत्वविरोधात्, त्यागादानसूत्रभाष्यविरोधाच्च। देवनित्यत्वेन्द्रियजययोरभेद इत्यन्येऽपि। तदपि न। लक्षणभेदादिन्द्रियोत्सर्गग्रहयोः प्रभुत्वमिन्द्रियजयः। देवे भावाभ्यासतरत्वं देवनित्यत्वमिति। सिद्धेस्तर्ह्युपायोवाच्य इत्यत आह। प्रसादश्चैव इति। कारणस्य स्वगुणदित्सा प्रसाद इत्युच्यते। चशब्दो न्यूनाधिकव्यवच्छेदसूचकः। एवशब्दः प्रसादस्या न्यानपेक्षवमवधारयति। लाभानामुपाया इत्येतद्गम्यमानार्थस्याप्यभिधानं शास्त्रान्तरोक्तानां मोक्षोपायनामनुपायत्वज्ञापनार्थम्। पञ्च इत्युपसंहारार्थम्। निश्चिता इत्याप्तैर्दृष्टा इत्यर्थः॥७॥

अथ किमेतैरुपायैः पञ्चलाभा एव प्राप्तव्या इति, न किं तर्हि मलाश्च पञ्च क्षपणीयाः? के पुनस्ते इत्याह–

मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वं मूलं पश्चैते तन्त्रे हेयाधिकारतः॥८॥

तत्र प्रमाणाभासजं ज्ञानं मिथ्याज्ञानमुक्तं संशयविपर्ययादिलक्षणम्। शास्त्रान्तरेभ्योऽपि तर्हि संशयादिनिवृत्तप्रतिपादनादाचार्यवैशेष्यप्रकरणे। तत्र शास्त्रान्तरेभ्योऽपि विपर्ययानिवृत्तिप्रतिपादनादाचार्यवैशेष्यप्रकरणे। तत्र शास्त्रान्तरेभ्योऽन्तर्भावः। कस्मात्? अव्यक्तावस्थागमने प्रत्यनीकृत्वात्। तददिं संशयादि

कलुषं च सह बीजेन मिथ्याज्ञानमित्युच्यते। द्वितीयं मलं दर्शयति अधर्मश्च इति। पापमबीजं पापमेवात्राधर्म इत्यभिप्रेतम्। तस्य सविकारस्यैकमलत्वं विकारविकारिणोरनन्यत्वादिति। सत्यप्यज्ञानकलुषसङ्गच्युतिहेतोरधर्मत्वे पापाख्य एवात्राधर्मोऽभिप्रेत इति चः सूचयति। तृतीयं मलमाह। सक्तिहेतुः इति। सक्तिः सङ्गः विषयासक्लिक्षणसुखं भाष्ये सुखाभिमान इत्यनेनोक्तम्। तस्यैव लक्षणार्थं भाष्यम्, ''अविवेचनमिश्रणप्रेरणप्रेरणलक्षणो वनगजवत्'' इति। तस्य सङ्गस्य हेतुस्तन्मयकारणं विध्यन्तरोपार्जितो धर्मः सङ्कर इति य उक्तः सह विकारेणासौ तृतीयो मल इति। चतुर्थ मलमाह। च्युतिस्तथा इति। रुद्रतत्त्वादीर्षच्चित्तं च्यवते विषयं न प्राप्नोति तच्चित्तच्यवनं च्युतिरित्युच्यते। तथाशब्द समानार्थे। । यथा मिथ्याज्ञानस्य स्वबीजेन सह मलत्वम्, अधर्मसङ्गकरयोश्च सविकारेण, तथा च्युतेरपि ऊष्मवदवस्थिताधर्माख्येन स्वबीजेन सह मलत्वमिति। अत्र भाष्य विरोधान्न मिथ्याज्ञानकलुषपाप्सङ्गच्युतयः पुरुषस्य भावाश्चित्तविद्ययोर्वा। नापि कलुषमिच्छायां भावः किन्त्वधर्मविकारा एवैते ज्ञानेच्छाभ्यां सह क्षीरोदकवदभिन्ना इव गृह्यन्ते। तथा च सत्कार्यविचारे प्रपञ्चितमेतदिति। पञ्चमं मलमाह पशुत्वम् इति। धर्माधर्मव्यतिरिक्तः प्रतिघातानुमेयः पुरुषगुणः पशुत्वम्। तस्य चतुर्दशलक्षणोपेतस्य मलत्वम्। तानि च लक्षणान्यसर्वज्ञत्वादीन्यपतित्वान्तानि सर्वज्ञत्वादिविपर्ययेणैव व्याख्यातानीति। तच्चेत्थं भूतं पशुत्वं संसारस्यानादिकारणं प्रधानभूतमित्येवं मत्वाह मूलमिति। तथाहि कैवल्यगतानामन्यमलाभावेऽपि पशुत्वादेव पुनः संसारापत्तिरिति। पञ्च इति न्यूनाधिकव्यवच्छेदेनोपसंहारार्थम्। एवे इत्यवधारणार्थम्। एते एवं संसारबन्धात्मका मला न तु शास्त्रान्तरोक्ताभोक्तृभोग्यसम्बन्धादयः इत्यर्थः। क्व पुनरित्थंभूता मलाः प्रसिद्धा? इत्याह। तन्त्रे साक्षान्महेश्वरप्रणीतमथशब्दादि शिवान्तं शास्त्रं तन्त्रं तस्मिन्नेते प्रतिपादिता इत्यर्थः। धर्मज्ञानादेश्पि त्यज्यमानत्वादधर्मादेरिव मलत्वं प्राप्तमित्याशङ्कयाह हेयाधिकारतः इति। येषां कर्दमादिवद्दुःखहेतुत्वं मत्वा साधकः क्षपणार्थमधिक्रियते त एव मला न तु येषां पुष्पादिवदनिच्छतोऽपि विनाश इत्यतो हेयाधिकारादज्ञानादय एव मला इति। हेयाधिकारिका इति वा पाठस्तत्राप्ययमर्थः। हेयत्वेन क्षपणीयत्वेनाधिकारो योग्यताऽस्ति येषां ते हेयाधिकारिणस्त एवं हेयाधिकारिकाः। स्वार्थे कप्रत्ययः। अधिकारशब्दाद्वा इकण्प्रत्यये कृते हेयपदेन कर्मधारयस्तदयमर्थो यतो हेयाधिकारिका एवात्र मला विवक्षिताः। तस्मान्न धर्मज्ञानवैराग्यादयोऽपि मला इति।

इत्येतत्सर्वमाख्यातं संक्षिप्याब्धिसमं मया।
आचार्याणां प्रसादेन ज्ञानं पञ्चार्थलक्षणम्।।

किं ज्ञातैर्बहुभिः शास्त्रैः स्वानुष्ठानापहारिभिः।
इदमेवोत्तमं ज्ञात्वा योगाभ्यासरतिर्भवेत्।।

कृतकृत्यं स्वमात्मानं श्रुत्वैतन्मन्यते तु यः।
तस्मै देयमिदं ज्ञानं नान्यस्मिन् सिद्धिमिच्छता।।

यस्तु मर्यादाहीनेभ्यो दद्यात्केनाऽपि हेतुना।
स गुह्यभेदतो गच्छेत्सह शिष्यैरधोगतिम्।।

नमः सद्गुरवे तस्मै सर्वविद्यान्तगामिने।
सच्छ्लोकैरष्टभिर्येन पञ्चार्थाब्धिः प्रदर्शिताः।।

आचार्यभासर्वज्ञविरचितायां गणकारिकायां रत्नटीका परिसमाप्ता।।

आचार्य भासर्वज्ञ विरचित

गणकारिका[१]

॥ सर्वज्ञ को नमस्कार ॥

आठ पञ्चक [पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त] और एक गण तीन अवान्तर भेदों से जानने योग्य हैं। इन नवगणों का ज्ञाता और जो संस्कार करने वाला है, वह गुरु कहलाता है ।।१।।

लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और बल ये अष्टपञ्चक [प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद] तथा वृत्तियाँ [कार्य] तीन हैं ।।२।।

गुरुभक्ति, मति-प्रसाद [बुद्धि की निर्मलता], [सुखदुःखादि] द्वन्द्वों पर विजय, धर्म और अप्रमाद इस तरह बल पाँच प्रकार का स्मृत है।। ३।।

अज्ञानहानि, अधर्महानि, सङ्गकर [आसक्ति हेतु] की हानि, च्युत हानि, और पशुत्वहानि शुद्धि पाँच प्रकार की स्मृत है ।।४।।

व्यक्त [जब साधक के उपाय अनुष्ठान आदि प्रकाशित हों] उसे लोगों के स्तुतिनिन्दा की चिन्ता न रहे, [अव्यक्त] अवस्था] जब साधक अपनी साधना गुप्तरूपेण करे, [जय] मन व इन्द्रियों पर विजय, [छेद] त्याग की अवस्था और निष्ठा], महेश्वर में निष्ठा यह पांचवीं है।

---

१. गणकारिका की रचना का श्रेय यहाँ भासर्वज्ञ को दिया गया है। परन्तु सर्वदर्शन संग्रह नकुलीश पाशुपतदर्शनम् पृ० ३०० से विदित होता है कि इन कारिकाओं की रचना किसी हरदत्ताचार्य ने की थी। भासर्वज्ञ ने गणकारिका रत्नटीका की रचना की है। द्रष्टव्य? भाग-१, खण्ड-२ गणकारिका एवं भासर्वज्ञ।

द्रव्य [दीक्षा की उपयोगी वस्तुएँ], काल दीक्षा का शुभमूहूर्त], क्रिया [दीक्षा की विधियाँ], मूर्ति [देवप्रतिमा] और गुरु यह पाँचवां है ।।५।।

गुरु, जन [ज्ञानियो की सभा], गुहादेश, [गुफा या एकान्त स्थान], श्मशान तथा रुद्र। ज्ञान, तपस्या, नित्यता, स्थिति [धैर्य] और पाँचवीं सिद्धि है ।।६।।

वासचर्या [निवास के नियम], जप, ध्यान, रुद्र का सदास्मरण और प्रसाद ये लाभों के पांच उपाय [निश्चित किये गये] हैं ।।७।।

मिथ्याज्ञान, अधर्म, आसक्ति हेतु, च्युति [संस्कारच्युत होना] और पशुत्वमूल [जीव प्राप्त करने के अनादि संस्कार] इन पाँच मलों को तन्त्र में विवेक द्वारा त्यागना चाहिये ।।८।।

गणकारिका समाप्त ॥

गणकारिका रत्नटीका

(हिन्दी व्याख्या)

सर्वज्ञ को नमस्कार है।

अनादि सृष्टि का संहार, पालन एवं निर्वाण करने वाले शाश्वत असीम एवं ऐश्वर्यशाली सम्पूर्ण पञ्चार्थ द्रष्टा को नमस्कार है। जो पञ्चार्थ-ज्ञान रूपी हाथ से भव-कूप में गिरे हुए द्विजन्मा का उद्धार करता है, उस सद्‌गुरु को नमस्कार है।

भगवन्! क्या पञ्चार्थ-दर्शन में कहे गये साधनों के आज्ञापालन से ही दुःखान्त सम्भव है? कहते हैं, केवल इससे ही नहीं अपितु सम्पूर्ण साधनों के शास्त्र विहित कृत्य करने की शक्ति से विरत रहते हुए भी ब्राह्मण विशेषों का शिष्यत्व प्राप्त करने वालों के सम्यक् अनुग्रह करने से भी दुःखान्त होता है। कैसे? विशेष धार्मिक-मत [गुरु-परम्परा से प्राप्त सिद्धान्त] की रक्षा करने से। सम्प्रदाय का पालन करने वाले द्वारा भी उस विशेष धार्मिक मत के सिद्धान्तों की शक्ति से दुःखान्त के लिये प्रयत्नशील अनेक व्यक्तियों का भी दुःखान्त परिपूर्ण होता है। उससे अत्यधिक फल एवं पुण्य संग्रह होता है। [सुकर्म से उत्पन्न अदृष्ट शुभ प्रयोजन का संग्रह होता है] इसलिए योग की उपलब्धि में अनुग्रह से दुःखान्त ऐसा है। अतएव दुःखान्त के उद्देश्य से शास्त्र एवं सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुकरणार्थ ब्राह्मण-विशेषों का सम्यक् अनुग्रह प्राप्त करना चाहिये। सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समुचित पालन एवं सम्यक् अनुग्रह प्राप्त करना चाहिये। सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समुचित पालन एवं सम्यक् अनुग्रह प्राप्त न करने से तो सम्प्रदाय विलुप्त होगा ही, उससे इस प्रकार घोर नरक में पतन भी होगा। समुचित अनुग्रह करने का सामर्थ्य पुनः पञ्चार्थशास्त्र में कहे गये अर्थ के निश्चय करने पर ही होता है। उस शास्त्र [पञ्चार्थ शास्त्र] का अर्थ भी पांच या नौ प्रकार का

जानना चाहिए। उस पञ्चार्थ दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण न करने से विधि [शास्त्रों सम्मत व्यवस्था] में अधिकार न होगा, तो फिर कहाँ से योग और मोक्ष [दोनों] प्राप्त होगे इसलिए मोक्षाभिलाषियों को-

पञ्चक आठ विशेष रूप से ज्ञातव्य है, गण भी एक त्रिकात्मक है॥

[तीन के समाहार-स्वरूप हैं]

पाँच-पाँच की संख्या से विभाजित [सीमित] समूह लाभ आदि पञ्चक हैं। उनकी न्यूनता-अधिकता से, पृथकत्व बोध के लिये, आठ, इस संख्या को कहा। तु शब्द संक्षेप और विस्तार के समग्र-ज्ञान उत्कंठा की हठधर्मिता से भाष्य का आरम्भ भी इस प्रकार अर्थयुक्त है। विज्ञेय अर्थात् विशेष रूप से जानने योग्य तथा बारम्बार अभ्यास द्वारा स्थिर करने योग्य, जिससे सदा शास्त्र के अर्थ के हृदयंगम कर लेने से, ग्रन्थ के विस्मृत होने पर भी बहमोह्य दोष [वेद वाक्य को भूल जाने का दोष] न हो। इससे पृथक [इसके अतिरिक्त अथवा नहीं तो] धार्मिक कृत्य [शास्त्र विहित कर्म] करने में असमर्थ को मदिरापान के समान पातक [पाप की ओर ले जाने वाला] होता है। गण शब्द समूह को व्यक्त करने वाला है। च शब्द, समूह के केवल आठ ज्ञातव्य हैं और गण भी एक तीन के समाहार से युक्त इस प्रकार ज्ञातव्य है। एक, इसके तुरंत बाद कही गयी संख्या की आशंका के परिहार के लिए है। तीन की संख्या से विभाजित समूह त्रिक है। इस प्रकार वह आत्मा-जिसका स्वभाव, भिक्षा आदि जीविका समूह का [गण का] है, इस प्रकार त्रिकात्मा कहा गया है अन्य जीविका के निषेध के लिये है। इस प्रकार ये नवगण संगृहीत रूप से बताए गये हैं [अभिप्रेत हैं]। जो उन्हें उचित रूप से ग्रहण करता है वह निश्चय ही दुःखान्त प्राप्त करेगा और दूसरों पर अनुग्रह [कृपा] करने के उपयुक्त होता है। परन्तु यह निश्चय होता कहाँ से है? जो सभी परमयोगियों द्वारा निश्चित किया जाता है-

यहाँ इस नवगण का ज्ञाता संस्कार करने वाला गुरु कहा जाता है।

विद् [धातु] ज्ञान अर्थ में है। इसका वेदिता [ऐसा रूप होने की स्थिति] आने पर छन्द अव्यवस्थित न हो [छन्द क्रम की अव्यवस्था के निराकरण के लिए] इसलिए छान्दस् प्रयोग वेत्ता ऐसा किया गया, अथवा विचार करने का अर्थ ग्रहण करने पर उसका वेदिता यह प्रयोग ही होता है। वेत्ता अर्थात् विचार

करने वाला।

'नवगणानां' ऐसा बहुवचन प्रयोग होना चाहिये था किन्तु छन्द-व्यतिक्रम के निवारण के लिए समग्र अथवा सूक्ष्मज्ञान हेतु पृथक [प्रयोजनं] परिणामत्व बोध के प्रकाशनार्थ 'नवगणस्य' ऐसा एक वचन कहा। नन्दि महाकाल आदि में भी 'नन्दिगण, महाकालस्य' गण शब्द का प्रयोग देखा गया है। उसकी शंका [सन्देह] के निवारण हेतु अस्य [इसका], यह कहा गया है अस्म् इसके सद्यः बाद बताए गये [अभिप्रेत] लाभ आदि इस अर्थ में [प्रत्युक्त] है। उचित रूप से विश्लेषित [अच्छी तरह जांच किये हुए] ब्राह्मण को दीक्षा विशेष [मन्त्रोपदेश व पञ्चार्थज्ञान विशेष] के [ज्ञान] द्वारा शिष्य को संस्कारयुक्त करते हुए को संस्कार करने वाला [संस्कर्ता] कहा गया है। वह उसके [संस्कार संपन्न करने अथवा अभिज्ञों] के कौशल [कुशलता] द्वारा गुरु कहा जाता है। गुरु, अर्थात् आचार्य, श्रद्धायुक्त आश्रम [परम्परा] पालकों के पापों को, दर्शन, सम्भाषण [वार्तालाप] आदि द्वारा नष्ट करने वाला, अत्यधिक पुण्य करने वाला है [होता है]। अथवा पृथकरूप से कारिका का सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं [कर रहे हैं]। यहाँ स्वर्ग जाने वाले ब्राह्मण दो प्रकार से सुने जाते हैं- साधक और आचार्य। उनमें से यहाँ इस पञ्चार्थ-दर्शन में जो साधक होते हुए स्वर्ग प्राप्त करने का इच्छुक है उसे शास्त्र को सुनकर अथवा आचार्य के उपदेश मात्र से भी शास्त्र विहित नियम आदि के स्वरूप को जानकर, शास्त्र-विहित सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित [अनुमोदित] धार्मिक कृत्य अत्यन्त मनोयोगपूर्वक करना चाहिये। जो आचार्य होते हुए स्वर्ग प्राप्त करने का इच्छुक है, उसे क्या करना चाहिये? यह कहते हैं [कह रहे हैं]-

पञ्चक, आठ, विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं, गण भी एक त्रिकात्मक[तीन के समाहार स्वरूप हैं] ॥

तु शब्द, समस्त सूत्रों के अंशों [अंगों] के विश्लेषण आदि के निर्णय द्वारा नवगण जानने योग्य हैं, उन्हें विशेषरूप से जानकर शिष्यों के सन्देह आदि अज्ञान [ज्ञान से विक्तता] का निवारण करने वाले के द्वारा संस्कार किया जाना चाहिए, इस प्रकार के विशेष अर्थ को सूचित करता है। शेष अवयवों का अर्थ तो पूर्ववत् [ही] है। तो फिर [प्रश्न होता है कि] इसे कैसे समझें? [उत्तर है]- दुःखान्त के निमित्त अपना आचार्यत्व चाहने वालों को नवगण विशेषतः जानना चाहिये,

ऐसा समझें क्योंकि–

इस नवगणा के वेत्ता [विचारक] संस्कर्ता गुरु [संस्कार करने वाले गुरु] कहे जाते हैं ।।१।।

इस प्रकार अनुष्ठान प्रवेश [धार्मिक कृत्यों के संकल्प] में असमर्थ [व्यक्ति] भी यदि श्रद्धायुक्त होकर थोड़ा भी संकेतमात्र का पालन करता हुआ ज्ञानाभ्यास नहीं छोड़ता है तो वह आचार्य अपवर्ग [स्वर्ग] गामी होता है, ऐसा कहा जाता है। जो आगमों के अर्थज्ञानमात्र से संतुष्ट होकर, शुद्धादिविहीन होकर अथवा श्रद्धादियुक्त होकर लाभ आदि ज्ञान से विरत [होता] है वह मात्र आचार्याभास है, अपवर्गगन्ता नहीं ।।१।।

अतः गण का स्वरूप बताना चाहिये। यहां अष्टपञ्चक कौन है? और त्रिकात्मक गण कौन है? इसे कहते हैं–

लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी, बल ये अष्टपञ्चक हैं [और] तीन वृत्तियां है ।।२।।

विधीयमान [शास्त्रानुमोदित], उपाय [साधन] का फल ही लाभ है अथवा ज्ञान, तप, देवनित्यत्व [देवता की नित्यता] स्थिति-सिद्धि भेद वाले लाभ हैं, अथवा पूर्व के अप्रकाशित भाव, जो साधक की आत्मा में अभिव्यक्त हों, वे लाभ कहे जाते हैं। आत्माश्रित जिन भावों के क्षपणार्थ [दमन के लिये] साधक यत्नशील होता है वे मल हैं। अथवा मिथ्याज्ञान, सङ्गच्युति [आचरण भ्रष्ट] संस्कार से च्युत होना [पशुत्व आदि भेद वाले] मल हैं। साधक के साधकतम शुद्धि और वृद्धि हेतु ही उपाय [साधन] हैं। अथवा निवास, चर्या, जप, ध्यान, सदास्मरण, प्रसाद इत्यादि उपाय हैं। च शब्द [यहाँ] पद की पूर्ति के लिये है, अथवा लाभादिकों की परस्पर संकीर्णता [विस्तार] को सूचित करता है। देश अवस्था और विशुद्धि में द्वन्द्व समास है। साधक जिस आश्रय के सामर्थ्य से शुद्धि तथा वृद्धि [पवित्रता और प्रगति] को प्राप्त करता है वे देशगुरु, जन, गुहा, श्मशान, रुद्र नामक हैं, यह आगे कहेंगे। लाभ प्राप्ति की एक मर्यादा से स्थिर [अवस्थित] व्यक्तादि विशेष से विशिष्ट साधक की अवस्थाएं कहीं जायें। मिथ्याज्ञान आदि का समूल [अत्यन्त] उच्छेद विशुद्धियां है। दीक्षाकारी और बल में द्वन्द्व [समास] है। दीक्षाकारी अर्थात् दीक्षा के हेतु द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति, गुरु संज्ञक साधक

Rajiv Gandhi

के आत्मगत उपाय [साधन हेतु] प्रवृत्ति निमित्तक बल के [अन्तर्गत] गुरु भक्ति, मति, प्रसाद, द्वन्द्व, जय, धर्म, अप्रमाद आदि [लक्षण] हैं। अष्टपञ्चक यह उपसंहार [कर रहे] हैं। तिस्त्रों वृत्तयः ऐसा होना चाहिये था किन्तु 'त्रीणि वृत्तयः' ऐसा [नपुंसक लिङ्ग प्रयोग छान्दस किया गया है [ताकि] पञ्चम वर्ण लघु बना रहे। आगम के अविरोधी [विरोध से हीन] अन्नार्जन वृत्तियां हैं। उसमें प्रथमावस्था वाले के लिये भैक्ष्य ही वृत्ति कही गयी है। उसके नियम के सन्दर्भ में कह रहे हैं-भिक्षा का समय जानकर भस्म से पवित्र होकर, हाथों को प्रक्षालित कर, भिक्षापात्र लेकर उसे जल से प्रक्षालित करके एवं मन्त्र से संस्कृत कर महादेव को प्रणाम कर, उसके बाद गुरु से आज्ञा के लिये [उनकी] प्रार्थना करनी चाहिये। तब देवगुरु से अनुमति पाकर मन्त्रों को दुहराते हुये [आवर्तन करते हुये] ईश्वर में दत्तचित्त हो, दृष्टि से पवित्र पथ से, अभिशप्त एवं पतित गृहों को छोड़कर, जहां भय हो, जहाँ कौवे आदि अपवित्रता के हेतु हों, वस्त्रहीन युवती, मल दुर्जन व कटु वचन वाले हों, भिक्षा आदि के घर को छोड़कर, एक ही ग्रामादि में भ्रमण करे, यदि इससे पर्याप्त [प्राप्ति] न हो या कोई उपोद्घात [पाप अथवा बाधा] हो तो अपने निवास पर आकर अपराध के अनुसार प्रायश्चित्त करके और मन्त्र से संस्कृत कर भैक्ष्य शिव और फिर गुरु को निवेदित कर, हृदय में महेश्वर का ध्यान कर संयत वाक् और उत्तराभिमुख होकर या पूर्वाभिमुख होकर सम करके क्रमशः भोजन करे। पात्र तथा पात्र की शुद्धता स्मृति प्रसिद्ध सूत्रानुसार करनी चाहिये, जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

''यतियों के पात्र मिट्टी, वांस, दारू [कदली, काष्ठ] अलाबु, तूम्बा, [एक जंगली लकड़ी] कद्दू या लौकी से निर्मित होना चाहिए। इनकी शुद्धि जल और गोवाल के मार्जन से होती है।''

मनु ने भी कहा है—

'' उस यति के पात्र अतैजस और ब्रजरहित [छिद्ररहित] होने चाहिए। उनकी पवित्रता उसी प्रकार जल से कही गयी है जैसे यज्ञ में चमस [चम्मच] की होती है। जो पात्र जूठे [सापत्र], सलेष [लिप्यमान] एवं विभिन्न [टूटे] हों, उनमें खाकर या पीकर चान्द्रायण [व्रत] करना चाहिए, ऐसा यम है।''

आगमों का विरोध न होने के कारण एकांत्र [वाले] विद्याख्यायन अनुशासन लोकपात्रादि निमित्तों से भैक्ष्य को विजित करने वाले का प्रतिषेध देखना चाहिये,

यह [यहाँ] प्रतिपद विधि हैं तृतीयावस्थ की भी यही विधि है। यह यहाँ विशेष है। तृतीयावस्थ परमयोगित्व के कारण प्रायश्चित्त, निवेदन, पञ्चब्रह्म-जप, अनुस्नान आदि नहीं करता है। द्वितीयावस्थ की वृत्ति उत्सृष्ट ही है। देवादि के उद्देश्य से परिव्यक्त अन्न अशुचित्व आदि दोष से रहित करुणा और कौतूहल से या कोई दुष्टजाति भी दे तो उसे उत्सृष्ट कहते हैं। वह मायाभेद से उपयोक्तव्य है। भैक्ष्य-निवृत्ति के लिए पात्र का नियम नहीं है। चतुर्थावस्थ की वृत्ति यथालब्ध है। श्मशान पर स्थित व्यक्ति द्वारा ही एक दिन, दो दिन या तीन दिन में जो अनपान प्राप्त होता है वह यथालब्ध कहा जाता है। पञ्चमावस्थ की तो शरीराभाव के कारण वृत्ति होती ही नहीं ।।२।।

ग्रन्थक्रम की अप्रधानता एवं अर्थज्ञान का ही प्राधान्य मानते हुए गुरुभक्ति इत्यादि के द्वारा बिना क्रम के ही निर्देश करना है अथवा सर्वारम्भों के लाभार्थ होने के कारण उसके प्राधान्य ज्ञापनार्थ पहले लाभ उद्दिष्ट हैं। अब इस समय सभी लाभ उपायसाध्य हैं और वे उपाय बलहीन पुरुषों द्वारा अनुष्ठान के सम्भव नहीं हैं अतः पहले [इसके] प्राधान्य ज्ञापन के लिए बलों के निर्देश किये हैं।

गुरुभक्ति, प्रसाद [अनुग्रह] बुद्धि के द्वन्द [उहापोह] पर विजय धर्म एवं अप्रमाद ये पाँच प्रकार के बल [कहे गये] हैं ।।३।।

पञ्चार्थ-ज्ञान का उपदेशक आचार्य गुरु [होता] है। उसके प्रति श्रद्धा अर्थात् सभी दुःखों से अभिभूत मेरे यही त्राता हैं, ऐसी भावना करना [ही] भक्ति है। कहा भी है' गुरुदेव [है] 'गुरु स्वामी हैं' आदि। कारण और प्रवचन में भक्ति विरोधी हो ऐसी बात नहीं क्योंकि उनकी अनुमति से भक्ति सम्भव है। उनकी भक्ति करनी चाहिए ऐसा जो नहीं मानता [कहता] वह अनुग्रह न करने के कारण गुरु ही नहीं होता [है] वह गुरुभक्ति, अनभिप्रेत [विकल्पहीन] का परित्याग करते हुए तथा उत्थान आदि [आचरण का पालन] करते हुए [साधक के द्वारा] सेवित की जानी चाहिए। शास्त्र में अकथ्य का भी उसके अभिप्राय को जानकर तदनुकूल [आचरण-व्यवहार] करना चाहिये। कहा भी है- ''ग्रन्थार्थ विदुष'' [ग्रन्थ के अर्थ का पंडित] आदि। जो भी गुरु को अभिप्रेत हो वही शास्त्रों द्वारा अकथ्य [होते हुए] भी राम [परशुराम] के मातृबध की तरह श्रेयप्रद होता है। गुरुवाक्य में श्रद्धा करनी चाहिये अन्यथा दोष तथा तत्व-ज्ञान के लाभ का अभाव

होता है। भक्तिबल से विहीन [साधक] ग्रहण आदि से युक्त [होता] हुआ भी ज्ञान के अवलेप से अन्यथा [रहित होता हुआ] भी शास्त्रार्थ को प्राप्त कर लेता है। अतः ग्रहणादि से युक्त के लिए भक्ति ही बल है। [इसमें] भाष्य [का] भी विरोध नहीं है क्योंकि बल अर्थात् अष्टांग-ब्रह्मचर्य का यहाँ यही अर्थ है। ग्रहण आदि अष्ट अंग अष्टांग भक्ति ही कही जाती है, वेद वेदाङ्ग की भांति अर्थान्तर के अभिधान [करने] से। वही [भक्ति] ब्रह्मचर्य का निमित्त होने के कारण ब्रह्मचर्य, ऐसी कही जाती है।

यदि यथाश्रुतार्थ हो तो वासोविधान इत्यादि ज्ञापक अभिधान का विरोध होता। विधि में अधिकृत को दूसरा बल कहते हैं। मति का प्रसाद आदि। मतिप्रसाद शब्द से अकलुषता कही गयी है। ऐसा होने पर [कालुष्याभाव होने पर] मति प्रसन्न होती है। और भी 'कालुष्यहीनत्व' बल है 'ऐसा भाष्य में [कहा गया] है। तो यहाँ भी स्पष्ट अभिधान क्यों नहीं किया गया मति की प्रसन्नता के लिए अन्य [अर्थात्] अशौच, व्यामोह आदि से अभाव से बलत्व ज्ञापन के लिए, प्राधान्यापेक्षा से कालुष्याभाव कहा [है]। च शब्द [यहाँ] विद्यमान भी पूर्वोक्त बल के चरितार्थ होने से तद्छलत्व प्राधान्य के कारण चारणीय नहीं होता है, यह सूचित करता है। वह अकलुषत्व दो प्रकार की है- पर और अपर। वहाँ [उनमें] कालुष्य बीज के होने पर भी उत्पन्न कालुष्य का निरोधक अनागत कालुष्य जब तक नहीं उत्पन्न होता तब तक जो कलुषत्व [होता] है वह अपर [है]। जो बीज के क्षय [होने] के अत्यन्त निमित्त के सद्भाव होने पर भी कालुष्य नहीं उत्पन्न होता वह पर [कहा जाता] है। योगक्रिया में अधिकृत को तृतीय बल को कहते हैं— द्वन्द का जय। अध्यात्मिक, आधिभौतिक, एवं अधिदैविक दुःखों के साधन द्वन्द [कहे जाते] हैं, उन पर विजय [प्राप्त करना], सहिष्णुता द्वन्द का भविष्य में न होने की सम्भावना का होना, ऐसा अर्थ है। 'तथा' शब्द समान अर्थ प्रत्युक्त है। जैसे पूर्वोक्त बल के होने पर भी अचरितार्थ विधि में अधिकृत [साधक] का कालुष्य विहीन होना ही बल कहा जाता है, वैसे [ही] दोनों बल के होने पर भी अचरितार्थ द्वन्द सहिष्णुता ही प्राधान्येन बल [कही जाती] है। वह भी दो प्रकार की होती है- पर और अपर भेद से-पाप के नाश न होने पर योगक्रिया में लीन साधक का मृदु, मध्यम तथा शीत-आतप आदि का अनुभव किया जाना, ध्यान आदि का अभ्यास [किया जाना] है। जो, समस्त पाप के नष्ट हो जाने पर, गुहादेश में स्थित [साधक का] अतितीव्र भी [तीव्रतम] शीत आदि द्वारा अनभिभाव्यत्व [अनुभूति का न होना] द्वन्द सहिष्णुत्व पर है।

भाष्यकार ने तो पर को हीं गो-मृग धर्मित्व कहा है। अकलुषत्व की तरह शिष्य अपर को गो-मृगधर्मित्व के परिपेक्ष्य में [दृष्टि से] देखा जाय, इस अभिप्राय से नहीं कहा [गया]। सदास्मण के चतुर्थ बल को कहते हैं यह 'धर्म' है, ऐसा। एव शब्द अवधारणार्थ है। जब धर्म ही अवस्थित है तो बल है। अत्यल्प अधर्म के होने पर भी अवधारण में दोष नहीं होता जैसे काला धब्बा होने पर भी यह वस्त्र सफेद है, ऐसा कहा जाता है। च शब्द यह सूचित करता है कि पूर्वोक्त तीनों बलों के होने पर भी धर्म ही के चरितार्थ, होने से बल है। निष्ठायोग सम्पन्न साधक का पञ्चम बल 'प्रमाद का न' होना है। यहां अप्रमाद से तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान का होना है। जैसा कि भाष्योक्ति है-इसको ज्ञान है अतः यह अप्रमादी है। च शब्द यहां सूचित करता है कि शरीरेन्द्रिय धर्म-अधर्म के व्यावर्तन होने पर अप्रमाद ही बल है तथा और बलों का न्यूनाधिक व्यवच्छेद भी है। उपसंहारतः बल पांच के हैं। स्मृतम् पद द्वारा-यह आप्त [पुरुष] द्वारा उक्त है ऐसा दिखाते हैं। यदि कहें कि बल-विचार वहाँ होता है जहाँ शत्रु विनाश करना [आवश्यक] तो यहां मोक्षशास्त्र में वीतराग निष्परिग्रह [साधक] के शत्रु ही नहीं [होते] हैं तो उनका विनाश क्यों विचारणीय [चिन्तनीय] हो अतः यहाँ बल की चिन्ता [विचार] करना अनुपयुक्त है। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि साधक के अज्ञान आदि शत्रुओं के द्वारा भी हानि की सम्भावना है अतः उसके प्रतिपादनार्थ कहते हैं-

शुद्धि पाँच प्रकार की स्मरणीय है- अज्ञान की हानि,
अधर्म की हानि, सङ्गजन्य [दोषादि] की हानि,
च्युतिहानि और पशुत्व की हानि ।।४।।

'अज्ञानहानिरधर्मस्य' ऐसा शब्द होना चाहिए था किन्तु छन्दोभंग के निवारण के लिए 'अज्ञानहान्यधर्मस्य' ऐसा कहा [गया]।

आर्ष [प्रयोग] होने से दोष नहीं है। अज्ञान क्या है आगे कहा जायेगा, उसकी हानि समूल से उन्मूलन [विनाश] है। अधर्म भी वक्ष्यमाण [अग्रकथित] है, उसकी हानि अर्थात् विकारयुक्त का अत्यन्तोच्छेद है। अधर्म की ही तरह संगजन्य [दोष] की हानि कही गयी है। चकार हानिपद के अनुकर्षण के लिये [प्रत्युक्त] है। वक्ष्यमाण बीज का अत्यन्ताच्छेद अर्थात् च्युति का समूलोच्छेदन ही च्युति-हानि [कही गयी] है। पशुत्व पद में षष्ठी विभक्ति का कथन करने से अनन्तरोक्त

हानिपद से उसका सम्बन्ध [बताया गया] है। डमरूक-मणि-न्याय से [जैसे डमरू के मध्य में स्थित मणि अर्थात् डोरी की गोटी दोनों तरफ वादन में कार्यक्षम होती है [च्युति तथा पशुत्व] पदों के मध्य में कथित हानिपद च्युति तथा पशुत्व दोनो पदों से सम्बन्धित है। सङ्ग कर पद के अन्त में कथित चकार यहाँ भी अनुवृत्त किया जाता है। वह केवल हानिप्रद का ही अनुकर्षक नहीं है बल्कि शुद्धियों के न्यूनाधिक भाव को अवच्छिन्न करता है। पशुत्व का माहेश्वर-ऐश्वर्य सम्बन्ध होने से आत्यन्तिक निरोध पशुत्व की हानि कही गयी है। शुद्धि पाँच प्रकार की होती है, यह उपसंहार है। स्मृता [पद] आप्त कथन के प्रदर्शन हेतु प्रत्युक्त है। तो क्या ये शत्रु-निवृत्तियां और बल अवस्था भेद से भिन्न [साधक] के होते हैं अथवा एकावस्था के इसमें संशय कहा [है]-विष्णुचक्र उभयथा दर्शन से? कहते हैं प्रायः अवस्थाभेद से भिन्न का ही। क्योंकि अवस्थाभेद–**व्यक्त, अव्यक्त, जय, छेद और निष्ठा** को कहते हैं। प्रतिपदा अवस्था व्यक्त अवस्था है। कैसे? यह पशुपति के लिये है, भस्म, स्नान, अनुस्नान आदि के द्वारा लिङ्गधारी [है] इस उपदेश से। द्वितीयावस्था जाति आदि व्यक्ति से अहेतुक होने से अव्यक्तावस्था कही गयी है। कैसे अव्यक्त लिङ्गित्व एवं विद्या आदि गोपन उपदेश से। तृतीयावस्था इन्द्रियों पर विजय प्राप्तार्थ होने के जयावस्था कही जाती है। आचार्य सूत्रों के सम्बन्ध कथन द्वारा देवनित्यत्वार्थ में भी इसकी इन्द्रिय जयार्थता ही मुख्यतः कही गयी है। अवसानार्थ की अवस्था छेदावस्था कही जाती है [भोक्त आदि के त्याग अर्थात् वीतशोक की अवस्था छेदावस्था कही जाती है।

सम्पूर्ण साधक व्यापार में अत्यन्त उपरम [अति-रति] निष्ठा कही गयी है उससे उपलक्षित अवस्था निष्ठावस्था कही गयी है। व्यक्त आदि विशेषणों से अभिधान [कथन] करने से ऊह आदि शक्तिवालों को विशेष प्रतिपत्ति [ज्ञान] हो इस अभिप्राय से यहाँ अवस्थाग्रहण नहीं किया गया। च शब्द यहां न्यूनाधिक व्यवच्छेद अनुपपन्न होगा तो ऐसा नहीं [है], क्योंकि गोपन नियम के द्वारा अव्यक्तावस्था में ही अन्तर्भाव होता है। जय एवं छेदावस्था में भी अव्यक्तावस्थात्व का प्रसंग नहीं होता, इनका गोपन नियम में पार्थक्य होकर निष्ठावस्था में जाकर सिद्धावस्था को पञ्चमी कहा है। इसलिए कुछ लोग उस मत के अवधारण से ही इसे कहते हैं। निष्ठा यहाँ पंचमी है, ऐसा। इह यहाँ पञ्चार्थदर्शन में निष्ठावस्था। ही पञ्चमी पाँचवें सूत्र प्रभाष्य से प्रतीत होती है न कि सिद्धावस्था। क्षपणीय और प्रापणीय के अभाव के कारण साधकावस्था को भी यहाँ निरूपित करते हैं, उससे अन्यथा नहीं। यहां कहते हैं– अनाधिकारी की अवस्था प्राप्ति अयुक्त

है उनमें द्वितीयादि अवस्था की प्राप्ति में ज्ञान, अकलुषत्व आदि अधिकारत्व के आप्रादक हैं तथा प्रथमावस्था की प्राप्ति के कौन हेतु हैं? यह कहते हैं– यहाँ भी कारण-विशेष से उत्पादित दीक्षा हेतु हैं क्योंकि उस कारण के प्रतिपादन के लिये यह कहा गया कि–

द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्त्ति और पञ्चम गुरु ॥५॥

यहाँ विद्या, कला, पशु नामक त्रिविध कार्य द्रव्य कहा जाता है। उनमें विद्या शिष्यगत दीक्षा का अंग [भूत] है, जिसके द्वारा शिष्य दीक्षा में अधिकृत होता है। जिसके द्वारा आचार्य सम्पूर्ण दीक्षा को निर्वसित करता है वहीं आचार्यगता विद्या है। कला, दर्भ आदि दीक्षा का अङ्ग [भूत] है। कहा है–

''पहले दर्भ फिर भस्म, चन्दन, सूत्र, पुष्प फिर धूप, मन्त्र यह क्रम स्मरणीय है।''

पशु अर्थात् संस्करणीय ब्राह्मण। इस तरह व्याख्या देने से उपकरण आदि का भी संग्रह है इसलिये संस्कार, कारिका का विरोध नहीं है। काल [अर्थात्] पूर्वाह्ण। कारणमूर्ति तथा शिष्य का संस्कार कर्म क्रिया कही जाती है। उसका क्रम संस्कार-कारिका में देखना चाहिए। उपहार सूत्र में-महादेव के यज्ञस्थान उर्ध्वलिङ्ग आदि रूप कहा गया है, उसके समीप दक्षिण भूमिप्रदेश जो कुटी आदि से अव्यवहित हो, [यहाँ] मूर्ति शब्द से अभिप्रेत है। गुरु-आचार्य, वह दो प्रकार के हैं, पर और अपर। उनमें पञ्चार्थ ज्ञान की मर्यादा से युक्त [समाहित] उपर [कहे गये] हैं। जैसा कि कहा गया है–

''शास्त्रानुकूल प्रचार में प्रकृष्ट मति एवं कुशल अभिनिवेश योग्य होता है वही सन्तों का सम्मत आचार्य एवं ज्ञान का हेतु होता है।''

और भी–

''शिष्यों में आचरण की स्थापना करते हुए स्वयं आचरण करता है और शास्त्रार्थ का चयन [मनोयोगपूर्वक निर्णय अथवा विचार] करता है, इससे आचार्य कहा जाता है।''

उसके अधिष्ठाता भगवान महेश्वर हैं, पर गुरु [हैं] और इस प्रकार वर्णन करने पर यहाँ निमित्त भी अनुक्त नहीं [रह जाता] है। च शब्द न्यून या अधिक

व्यवच्छेद का सूचक हैं। एव शब्द गुरु की प्रधानता बताता है। इह पद से स्वसिद्धान्त का निर्देश है। पञ्चम पद से उपसंहार [निर्द्रिष्ट] है। अथवा एवं तथा इह पदों का अन्वयार्थ प्रदर्शित किया जाता है।

यहां ही पाशुपत-दर्शन में इस प्रकार के विशिष्ट दीक्षा निमित्त [करण] है अन्यत्र नहीं। तदुपरान्त निष्पाद्य दीक्षा भी यही विशिष्ट है अन्यत्र यह उक्त नहीं होता है। अतएव कारण विशेषों से ही यह दीक्षा विशिष्ट होती है, फल विशेषों से क्यों नहीं? जिस कारण से ऐसा होता है उसके लिए यह कहते हैं—

ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति और पांचवीं सिद्धि।

यहाँ पर पाँच पदार्थों का विषयं, समास, विस्तर, विभाग, विशेष, उपसंहार, निगमन से तत्वज्ञान, प्रथम विद्यालाभ ही को ज्ञान कहते हैं। उक्त समासादि का स्वरूप यद्यपि भाष्यकार आचार्य ने भाष्य की समाप्ति होने पर प्रकट किया है फिर भी अंश भाग से विवरण हेतु हम लोग भी उस स्वरूप को प्रकट कर रहे हैं। जैसे पदार्थों का उद्देश-समास है। वह अथ शब्दादि द्वारा-दुःखान्तादि का कथन किया गया है। उद्दिष्ट का प्रामाण्य से प्रपंच का अभिधान [व्याख्या] विस्तर है। पतिः सन्नादि इत्यादि वचन रूप में। उसी के सिद्धि हेतु साधन रूप में प्रामाण्य भी विस्तर शब्द से अभिहित हैं। धर्म और धर्मी का यथासम्भव लक्षण से अन्यत्व कथन विभाग है। सर्वत्र जो कहा जाय उसको अभिधान कहते हैं। कर्म में प्रत्यय ही सिद्धि द्रष्टव्य है। अब यहाँ दुःखान्त का विभाग कहने जा रहे हैं। सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति दुःखान्त है। वह दो प्रकार का अनात्मक [स्वरूपहीन] और सात्मक [स्वरूपयुक्त] है। यहाँ सम्पूर्ण दुःखों का अत्यन्ताभाव अनात्मक [स्वरूपहीन] एवं महेश्वर लक्षण की सिद्धि सात्मक [स्वरूपयुक्त] है। वह सिद्धि दो रूपोंवाली ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है। वहाँ ज्ञान से अभिन्न तद्रूप शक्ति ज्ञान-शक्ति है।

वह ज्ञानशक्ति एक होती हुई भी परिवृत्त सम्पूर्ण विषय के भेद से पाँच प्रकार की दर्शन [आत्मावारेद्रष्टव्यः आत्मा को देखना चाहिए] श्रोतव्यः [सुनना चाहिए, श्रवण करना चाहिए] इत्यादि [उपनिषदों] के द्वारा जिस प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है अर्थात् सब कुछ जानता है उस प्रकार जीव में आरोपित सर्वज्ञत्व के निषेध हेतु कही गयी है। क्रिया में जो हेतु अर्थात् निमित्त हो क्रियाशक्ति है, वह मनोजवित्व आदि भेद से तीन प्रकार की है। यहाँ अत्यधिक शीघ्रकारित्व ही

मनोजवित्व है। कर्म आदि की अपेक्षा किये बिना ही, इच्छामात्र से एक या अनेक रूप में कर्तृत्व की प्राप्ति का अनुभव, कामरूपित्व [कामरूपता] अर्थात् कामनानुकूल रूप प्राप्ति, तथा शरीरेन्द्रिय आदि सहित अत्यधिक ऐश्वर्यप्राप्ति या सम्बन्ध विकरण धर्मित्व अर्थात् विशेषरूप में इन्द्रिय आदि सहित हैं। जब यह दो प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है तो अवश्यत्व व पतित्व आदि दस सिद्धिलक्षण अन्त में प्राप्त होते है। वहाँ पूर्णरूपेण दूसरे के अधीन न रहना ही अवश्यत्व है अतएव क्या यहाँ अवश्यत्व है। वश्यत्व रूपी मल की निवृत्ति हो जाने पर अवययत्व रूपी मल की निवृत्ति हो जाने पर अवश्यत्व नाम से पुरुष में रहने वाला धर्म अभिव्यक्त होता है जैसे वस्त्र में शुक्ल रूप धर्म है। वह भी युक्तिसंगत नहीं है, ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति उत्पन्न हो सकती है क्योंकि अनात्मकत्व का विरोध होगा जैसे गुणैर्युक्त इत्यादिं भाष्यविरोध की इसीलिये अभिव्यक्ति स्थिर नहीं हो सकी, किन्तु ऐश्वर्य सम्बन्ध ही पराधीनत्व की निवृत्ति में कारण होने से अवश्यत्व कहा जाता है। अथवा जब वह गुणों से युक्त होता है तब वही अन्यथाभूतपूर्व [होकर] उस प्रकार का होता है सर्वशिक्यादिवत्-उसका स्वरूप-अवश्यत्व भेद से कहा जाता है, अव्यवहारार्थ इस तरह अनावेश्यत्वादि में भी विचार देखना चाहिए। सत्कार्य के विचार के प्रकरण में मैंने इसकी व्याख्या की है। इस कारण यहाँ उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है। सत्त्वान्तर के अनभिभाव्य ज्ञान सम्बन्धित्व को अनावेश्यत्व [कहते] हैं। सत्त्वान्तर के अन्तर्गत जीवितरहितत्व व अबध्यत्व है, सम्पूर्ण भय को अतिक्रान्त कर जाना अभयत्व है, ऐश्वर्य से नित्य सम्बन्ध अक्षयत्व है, काय [शरीर] इन्द्रिय की विकलता के फल से अत्यन्त असम्बद्ध होना अजरता है। प्राणादि वियोगजन्य दुःख से स्पर्शहीनता अमरता है। सर्वत्र अभिप्रेत अर्थों में [विषयों में] प्रवर्तमान का, महेश्वर के द्वारा प्रतिबन्ध विहीन धर्मत्व अप्रतिघात है, सम्पूर्ण पशुओं से अधिक अतिशय ऐश्वर्यत्वयुक्त होने से महत्त्व, सम्पूर्ण पशु आदि कार्यत्व का स्वामित्व पतित्व है। उसके अधीन [अस्वतन्त्र] सम्पूर्ण कार्य उसका विभाग [कहा जाता] है- विद्या, कला और पशु। उसमें पशुगुण-विद्या, स्वशास्त्र दृष्टि से कहा गया है वैशेषिकों के द्रव्य की भांति। वह बोध, अबोध, स्वभाव से दो प्रकार का है। उसमें धर्मादिस्वरूप वाली बोध स्वभाव विद्या का अन्तर्भाव करने से, अविद्यात्मक से विद्यान्तर्भाव में कला आदि का भी अन्तर्भाव होता है। बोध, स्वभावा विद्या विषय भेद से चार एवं पाँच प्रकार की कही गयी है, स्वरूप से यह दो प्रकार की होती है- विवेक वृत्ति और सामान्य वृत्ति। उनमें विवेकवृत्ति प्रायः उपदेशव्य

अङ्ग होती है वहाँ समाख्यान्तर नहीं है। क्योंकि विद्या ही विशेष समाख्या है। सामान्यवृत्ति तो- प्रमाणमात्र होने से चित्त, ऐसा कही गयी है। इनका भेद मैंने अन्य टीका में प्रदर्शित किया है अतः यहाँ नहीं प्रदर्शित करते हैं। चेतना के आश्रित न होने से निश्चेतन कला है। वह दो प्रकार की कार्याख्या और कारणाख्या है। उनमें कार्याख्या दस प्रकार की-पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द नाम वाली होती है। कारणाख्या तेरह प्रकार की है, पांच कर्मेन्द्रियां पाँच बुद्धिन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण। पशुत्व का सम्बन्धी [पशुत्वयुक्त] पशु है वह भी दो प्रकार का साञ्जन और निरञ्जन है। उनमें शरीरेन्द्रिय सम्बन्धी साञ्जन चौदह प्रकार का होता है- क्योंकि कहा है-

"दैव आठ प्रकार का जानना चाहिए तिर्यक योनि पांच प्रकार की तथा मनुष्य एक प्रकार है, वह संसार मंडल है।।"

निरञ्जन तीन प्रकार का है- संहृत, कैवल्यगत और निष्ठायोग युक्त। समस्त की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह के कारण उस एक का भी गुणधर्म विभाग भेद से अन्यत्पतित्व आदि द्वारा कहा गया है अर्थात् पतिअधि गुण संयुक्त है। निरतिशय दृक्क्रियाशक्ति पतित्व है, उस ऐश्वर्य से नित्य सम्बन्ध सत्त्व है, अनागन्तुक ऐश्वर्यत्व आद्यत्व है, समस्त जन्मों से रहित होना अजातत्व है, महासृष्टि का संहार करण [भव का उद्‌भव भवोद्‌भवत्व] होना है [उद्‌भूत होना है], परम उत्कृष्ट गुणधर्म निमित्त नाम अभिधेयत्व वामत्व अथवा दुःखान्त के निमित्त धर्मोत्पादक नाम अभिधेयत्व है, स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण कार्योत्पत्ति का कारण स्वभाव क्रीडा-तद्धर्मी होना -देवत्व [है] सिद्ध, साधक पशुओं से पर [होना] ज्येष्ठत्व, सृष्टि के आदि में भी रूत, भय का संयोजन करणात्वरु रूद्रत्व [है], कर्म आदि से निरपेक्ष का सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्व कामित्व, शान्ति, सुख एवं निर्वाण करणत्व-शंकरत्व, अन्तरसृष्टि में भी संहार का कर्तृत्व, कालत्व, कार्य-कारण रूप कलाओं का शरीरादि भाव से संयोजकत्व कलविकरणत्व, धर्म आदि बलों का यथेष्ट वृत्तिलाभ, लोप, आक्षेप कर्तृत्व बल प्रमथतत्व, सभी देव, मनुष्य और पक्षियों का रति, रंजन अधिवासादि कर्तृत्व [ही] सर्वभूतदमनत्व, समग्र निष्कलावस्था के समान शक्तित्व मन का अमनस्त्व, सुखकारी, अनन्त शरीर का अधिष्ठातृत्व, पूरण और यथेप्सित [यथा इच्छित] अनन्त शरीर आदि की सृजन शक्ति पौरूष्य है। अतएव भगवान् का उभय पौरुष्य कहा जाता है। सभी

पशु आदि से अत्यधिक उत्कृष्ट व्यतिरिक्तत्व [पार्थक्यकरण] महत्त्व, तथा देवत्व पूर्वोक्त है। दुःखान्त का निमित्त और एक मात्र ध्यान का विषय ओंकार है। ऋषित्व क्रियाशक्ति और ज्ञामशक्ति विप्रत्व है। इन दोनों के आश्रय व्याप्य, अनन्तविषयत्व और निरतिशयत्व के ज्ञापन वे आश्रय भगवान् महान् नित्य कहे गये [हैं]। सर्वत्र सर्वदा स्थिर स्वभावयुक्त यह भगवान् कहे जाते हैं। वाणी में गुण धर्म के द्वारा प्रवृत्ति होती है अतः उससे-व्यतिरिक्त तथा अतिशिष्ट भगवान् विशुद्ध कहे जाते है।

> ''नित्य अनागन्तुक एवं ऐश्वर्ययुक्त जिस परमकारण में वाणी निवृत्त होती है वह वाग्विशुद्ध कहा जाता है। जो यति वहाँ एकक्षण भी एकाग्रता प्राप्त करता है वह सभी कर्मों को अतिक्रान्त कर शिव सायुज्य प्राप्त करता है।''

सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रदातृत्व महेश्वरत्व, सम्पूर्ण कार्यों का विषय प्रभुत्व ईशत्व, सभी विद्या सम्बन्धी प्रभुत्व ईशानत्व, सम्पूर्ण प्राणि-सम्बन्धी प्रभुत्व ईश्वरत्व है। ईशादि शब्दों का क्रम की अपेक्षा से अर्थ प्रदर्शित है अन्यथा एकार्थता ही यहाँ होती। ब्रह्मग्रहण के उदाहृत होने से सम्पूर्ण विषयों पर प्रभुत्व होना अधिपतित्व वृंहण वृहत्व ब्रह्मत्व और परिपूर्ण परितृप्त होना ही शिवत्व है। इस तरह सुनिश्चित ये गुणधर्म परमेश्वर के उपहारकाल में गायनकर्ता द्वारा पाल्य होने चाहिये अथवा निरन्तर जप करने वाले के द्वारा विभक्ति, उपसर्ग, निपात क्रियापदों के अर्थों के साथ चिन्तनीय हैं इससे शीघ्र ही शुद्धि और वृद्धि होती है। वे स्वात्म संवेद्य हैं।

धर्म के लिए साधक का व्यापार विधि है। वह दो प्रकार की प्रधानभूत और गुणभूत होती है। उनमें जो विधि अव्यवधान रूप से धर्म हेतु होती है वह प्रधानभूतचर्या यह कही जायेगी। जो चर्या का अनुग्राहक अनुस्नान आदि है वह गुणभूत [कही जाती] है। उनमें भुक्त, उच्छिष्ट [बचा हुआ] आदि के निमित्त, अयोग्यता के प्रत्यय की निवृत्ति के लिए तथा लिङ्ग की अभिव्यक्ति के लिए जो कालुष्य निवृत्ति हेतु स्नान होता है उपस्पर्शन [कहा जाता] है। ये दोनों कृत्य जप न करते हुए [साधक] द्वारा ईश्वर नियोग का अनुसन्धान कर संसार के दोष का अनुभव करते हुए गुरु व लघु भाव का पर्यालोचन कर, भस्म द्वारा ही करने चाहिए। निर्माल्य धारण भी लिङ्ग की अभिव्यक्ति, भक्ति द्वारा चर्या का अनुग्राहक है। विचार करके कारण निर्माल्य, परकृत निष्परिग्रह को ग्रहण कर संयत चित्त के कारण को प्रणाम कर अनुज्ञा की प्रार्थना करें, तब प्रसन्नमुख से

भगवान् द्वारा अपने निर्माल्य के निर्मलीकरण हेतु प्रदान करते हुए का महाप्रसाद है ऐसा ध्यान कर भक्ति से ही शिर [सिर] पर धारण करें। आयतन में निवास करना भी चर्या का अनुग्राहक है। कहा भी है–

"पृथ्वी पर यह आयतन [शिवालय] धर्मक्षेत्र है। वह विधि रूपी बीज की भूमि है, वहाँ पर वपन महाफलप्रद है। [शिव] लिङ्ग से सौ हाथ चारों ओर का शिवक्षेत्र प्राणियों के वहाँ पञ्चत्व प्राप्त करने पर शिवसायुज्य का कारण [दाता] है।।"

ग्राम में अथवा अन्यत्र। उपस्पर्शन से अविशिष्ट कालुष्य के विनासार्थ प्राणायाम [होता] है। कोष्ठस्थ वायु की गति का निरोध करना प्राणायाम है। वहां उपस्पर्श क्रिया कर कारणतीर्थ गुरु को प्रणाम कर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख [होकर] पक, स्वस्तिक, आदि यथासुखद आसन लगाकर कृत में उन्नत भाव कर धीरे-धीरे संयत चित्त से रेचक आदि करें। कालुष्य न होने पर भी चित्त की और अधिक निर्मलता के लिए तथा अभ्यास के लिए नित्य करना चाहिए। क्योंकि कहा है–

"प्राणायाम द्वारा हृदय दोषों, धारणाओं द्वारा किल्विषों, प्रत्याहार द्वारा विषयों और ध्यान द्वारा ईश्वर विरूद्ध गुणों को नष्ट करें। प्रणायाम से युक्त एवं नियतात्मा विप्र के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और वह स्वस्थ हो जाता है।

जो मास-मास में कुश के अग्रभाग से जलविन्दु पान करें, वे सैकड़ों वर्ष प्राणायाम के समान है । प्राणायाम से विशुद्धात्मा [साधक] जो देखता है वह पर है, उससे पर कुछ नहीं है यह श्रुति [सम्मत] है।

अतः अविनष्ट कालुष्य के नाश के लिए जप करना चाहिये। तृतीय और चतुर्थ से एक ब्रह्म में प्रयत्नपूर्वक निरुद्ध चित्त सम्पूर्ण अक्षरों के अनुबोध अथवा उसके अर्थानुबोध से बार-बार सञ्चारित करें। एवं प्रायश्चित्त् के बाद उत्सूत्रत्व [नियमित] करना चाहिए। यदि कहें कि त्रिक की कलुष निवृत्ति के लिए ही अभिधान है तो व्यभिचारों में प्रायश्चित्त् का क्या उद्देश्य है? तो ऐसा नहीं कहना चाहिए। अप्रमत्त यति के सदा ही संयत होने से व्यभिचार असम्भव है अथवा कामादि व्यभिचार के समान होने से त्रिक का भी अनारम्भ प्रसङ्ग होगा और

अधर्म के सामर्थ्य से विद्वान के भी अधर्म सम्भव होने से कहा है–''बुद्धिमान [प्रज्ञावान] भी हृत [मोह] होता है'' आदि। हिंसा के अवश्यम्भावी होने से कहा है –''यति दिन तथा रात्रियों में अज्ञानवश जिन जन्तुओं को मारता है उनकी विशुद्धि के लिए [उसे] स्नान कर प्राणायाम करना चाहिए।''

अर्थात् प्रतिदिन, यहाँ एक प्रकार के लोग सभी व्यभिचारों में त्रिक ही करना चाहिए, यह मानते हैं। हमारा तो विचार है कि कालुष्य निवृत्ति के लिए ही त्रिक करणीय है। भाष्य के भी तथैव श्रुत होने से अष्टार्थ और अष्टशुद्धि के अनिश्चय से त्रिक में अनुपरम प्रसङ्ग नहीं होगा। अतः कलुष सानिवृत्ति में पूर्वकृत अधर्म के नाश की भांति व्यभिचारकृत अधर्म के क्षपणार्थ भी सविधि आचरण करना चाहिए। जैसा कि सूत्र है 'पुनः जप करे' मनु ने भी कहा है–

''लोग वचन, मन तथा तन से भी जो पाप करते हैं
उन सबको तपस्वी तपोधन से शीघ्र दूर करें।।

अकार्य करने वाले शेष महापातकी सुतप्त तप द्वारा
ही उस किल्विष से मुक्त होते हैं।।''

श्रीमान् भाष्यकार ने भी ज्ञापक कहा है–

''आर्य तप द्वारा पाप तथा ध्यान के सदुपयोग द्वारा पुण्य को क्षपित करते हैं। वे निर्मल तत्वविद् विशुद्ध होकर दोनों [पाप-पुण्य] के अभाव हो जातं से मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।''

नियम-ध्यान से पुण्य का ही क्षय नहीं होता अपितु पापक्षय भी होता है। क्योंकि वही अन्य ज्ञापक भी कहा गया है।

ध्यान के द्वारा पुण्य तथा पाप का सम्पूर्ण आश्रय दग्ध हो जाता है। पुण्य तथा पाप के फल के दग्ध हो जाने पर [साधक] उनका स्वामी [कर्ता] नहीं रह जाता है।।

ऐसा होने पर यदि कहें कि विधि तथा अनुष्ठान व्यर्थ है तो नहीं, क्योंकि इस विधि के द्वारा रुद्र के समीपत्व के इस प्रवचन से विधि अनुष्ठान में विकल [साधक] में– योगानुष्ठान की शक्ति का अभाव होने से। अन्यत्र भी कहा गया है–

विशेषकर योगी द्वारा धर्म प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।
धर्म से आधारहीन योग नहीं है, ऐसा योगविदों का कथन है।।

अत: उपस्पर्शन आदि के द्वारा चित्त को प्रसन्न कर [निर्मल कर] सम्पूर्ण अधर्म के क्षपणार्थ [विनाशार्थ] अत्यन्त अभियोगपूर्वक विधि योगानुष्ठान करना चाहिये अन्य प्रायश्चित्त नहीं। यह अहिंसादि यम जब चर्या के अनुग्राहक होते हैं तो योग के अन्तर्भूत माने जाते हैं। उनमें वचन, तन तथा मन से दूसरों को दु:खित न करना अहिंसा, इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य, धर्मसाधना के अङ्गभूत बचनों का प्रतिषेध असंव्यवहार, धर्मप्रधन से भी अधिक न्याय को स्वीकार और अन्याय से धर्म से साधन के अङ्ग को भी स्वीकार न करना अस्तेय दूसरों के द्वारा अपकृतहोकर भी चित्त को मलिन न करना अक्रोध, वाणी, शरीर तथा मन द्वारा गुरु में हित भावना से ही व्यवहार करना गुरु शुश्रूषा शरीर अन्तःकरण तथा आत्मा की शुद्धि शौच और स्ववृत्ति के द्वारा ही अर्जित अन्न का विधियोगानुष्ठान के अविरोध द्वारा ग्रहण किया जाना ही आहारलाघव कहा जाता है। मुनि के आठ ग्रास ही [भोक्तव्य] हैं ऐसा कुछ लोग कहते है, यह ठीक नहीं हैं, क्योंकि [ऐसा करने में] विधियोगानुष्ठान का विरोध प्रसंग है।

व्यञ्जन आसन और जल द्वारा कोष्ठ का तीन भाग पूर्ण कर चतुर्थभाग वायु के संचरण के लिए खाली रखना चाहिए यह कुछ अन्य लोगों का मत है। अविरोध के कारण यह इष्ट ही है। यहाँ पञ्चविधि भिक्षा का विधायक 'मधुकरी याचना करनी चाहिए' इत्यादि वाक्य का अविरोध पूर्णक व्याख्यान करना चाहिये। यथा विहित विधि को योगानुष्ठान करने में निरन्तर उद्यम, अप्रमाद [कहा जाता है] है। यह प्रधानभूत यम है, कहा गया है–

यति के धर्म का सद्भाव गुणदोषपूर्वक सुनिये।
अप्रमाद करने से सिद्धि तथा प्रमाद से नरक प्राप्ति निश्चित।।

वास भी ज्ञानोत्पत्ति का माध्यम व चर्या का अनुग्राहक होने से गुणविधि ही है। चित्त के द्वारा पुरुष का ईश्वर से सम्बन्ध योग है। वह दो प्रकार का है क्रियारूप तथा क्रियोपरमरूप। उनमें क्रियारूप योग, जप, यन्त्र, धारणा, ध्यान और स्मरणात्मक होता है, यह आगे कहेंगे। क्रियोपरमरूप भी अतिगति आदि शब्दों द्वारा वाच्य है। अन्य शास्त्रों में उक्त पदार्थों से इनका अभिधान [कथन] विशेष है जैसा कि शास्त्रान्तर में दु:ख निवृत्ति ही दु:खान्त कहा गया है, यहां

तो परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी [कथित] है। नित्य पशु आदि भावी कार्य अन्यत्र नहीं है, अन्यत्र तो प्रधानादि कारण अस्वतन्त्र है: यहां तो स्वतन्त्र भागवान ही है, तथा अन्यत्र कैवल्य के अभ्युदय का फल योग कहा जाता है। यहाँ तो परम दुःखान्त का फल योग है और अन्यत्र आवर्तक स्वर्ग आदि का फल विधि कहा है, यहां अनावर्तक रुद्रसामीप्य आदि फल, पदार्थों की समाप्ति उपसंहार [कहा जाता] है। उनमें दुःखान्त कार्य-कारण विधि की इति शब्द से समाप्ति कही गयी है।

योग की [समाप्ति] 'त्वा' शब्द से, समाप्ति के निःशेषीकरण तथा प्रासंगिक संशय की निवृत्ति के लिए धर्मान्तर भिधान [कथन] निगमन है। परिज्ञात अर्थ के साथ एक वाक्यता के ख्यापन के लिए यह अन्यमत है। अतएव विधि एवं योग के कार्यान्तर [भाव] होने में भी अतिप्रयोजन बढ़ा पृथक अभिधान [कथन] कर पाँच के ही समास आदि कहे गये, इसलिए पाँच ही पदार्थ कहे जाते हैं। अन्य लोग तो पदार्थों का भेद अन्य प्रकार से वर्णित करते हैं। तत्वगुणभाव है उनमें जो अनाश्रित है वही तत्व है। वह बीस भेदों वाला है– पांच पृथ्वी आदि, तेरह इन्द्रियां, पशु तथा कारण। भाव से आश्रित तत्ववृत्तियाँ गुण हैं उनमें पृथ्वी आदि में यथासम्भव रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द पाँच ही हैं। इन्द्रिय तत्व ही निर्गुण है, पशुओं में सात गुण है– पशुत्व, धर्म, अधर्म, चित्त, विद्या, प्रयत्न, रूप। सुखादिकों का तो तद्विकार [विकारयुक्त] होने से मृद् विकार की तरह उनमें अन्तर्भाव है। कारण में तीन गुण-काम, अर्पित्व, विप्रनाम यह धर्मकार्यों से अन्यत्र होने से अनिवर्चनीय है। सत्व गुणों के धर्म भाव हैं, ऐसा कहे जाते हैं। उनका विचार सत्कार्य विचार के प्रकरण में किया जा चुका है। अतः यहाँ नहीं विचार किया जा रहा है। अतः इस तरह कारण आदि का निश्चय-ज्ञान प्रथम लाभ है। दूसरा लाभ तप है, ऐसा। यहाँ भस्म, स्नान आदि विधिजन्य धर्म तप है, ऐसा कहा जाता है। उसकी उत्पत्ति रक्षण आदि लिङ्ग से भी निश्चित की जाती है। अधर्मरूप तस्कर [चौर] के द्वारा सन्मार्ग से अपहृत साधक पुरपाल स्थानीय धर्म द्वारा ही रक्षित होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान का गमन गति है। विहित अनुष्ठान ही सन्तोष और प्रीति है। लाभ से सम्बन्ध होना प्राप्ति है। जिसके बल से विधि और योग में अभिनिविष्ट [लीन] साधक का चित्त रम्भादि गीत और वाद्य द्वारा भी क्षोभित नहीं किया जा सकता वह माहात्म्य धर्मशक्ति

कही जाती है। [यह अर्थ है] अतिगति सायुज्यस्थिति [ये] शब्द निष्ठायोग के पर्याय हैं। जिसके होने पर पदार्थ साधक के अध्यक्षोपलब्धि के योग्य होते हैं। वह प्रकाश पर, अपर भेद से दो प्रकार का है, उनमें जिसके द्वारा साधक विधि योग साधनों को भली भाँति [सम्यक्रूपेण] [विवेचित] [विश्लेषण] करता है, ध्येयतत्व अर्थात् [ब्रह्म] में अपने चित्त को समाहित, च्युत और च्यवमान लक्षित करता है वह अपर प्रकाश है। जिसके द्वारा स्थापनाकाल में सगुणरूप सभी तत्वों को समग्र रूपेण अवलोकित कर योज्य और अयोज्य [संयुक्त व असंयुक्त या ग्राह्य व अग्राह्य] भाव से विवेचित करता है वह पर है। विषयी [इन्द्रियों] के विषयों [विकारों] में न चाहते हुए भी चित्त वृत्ति प्रवाह को रुद्र के समीप ले जाता है [लगाता है] वही अत्यन्त उत्कर्षयुक्त है, देवनित्यत्व है, यह सब कुछ धर्म के ज्ञापक रूप में कथित है [कहा गया है]। तृतीय लाभ कहते हैं– अब नित्यता यह। अथ [अर्थात्] तप के अनन्तर जो अनान्तर्य भावाभ्यासरूप से देव में नित्यत्व है तीसरा लाभ कहा जाता है। न कि नित्ययुक्तता, यह अर्थ है। यहाँ नित्यत्व अत्युछिन्न निरन्तर या [अविनाशी] प्रवाह की भाँति अभिप्रेत है [प्रत्युक्त है] जैसे प्रवहणशील गंगा है, ऐसा चतुर्थ लाभ स्थिति, यह कहते हैं। मूलाख्या निवृत्ति में दोष हेतु जाल से प्रत्यंग भूत [आश्लिष्ट, विलग] चित्त का रुद्र में स्थित होना, अत्यन्त निश्चल [स्थिर] होना यह स्थिति कही जाती है। तत्समकाल योगी के असङ्गित्व आदि नव लक्षण होते हैं। उनमें लक्ष्यमाण संगति की अत्यन्त व्यावृत्ति असङ्गित्व कही जाती है। केवल रुद्र में चित्त का अवस्थित [पूर्णरुपेण सूचित] होना योगित्व है। चित्तवृत्ति का अवरुद्ध किया जाना नित्यामत्व है। चित्त का प्रादुर्भूत न होना अजत्व है। अत्यन्त समता मित्रता है। शरीरादि विमुक्तता एकत्व है। आशंकाओं को अतिक्रान्त कर जाना क्षेमित्व है। वाह्य अध्यात्मिक क्रियाओं से शून्य होना निष्क्रियत्व [निष्क्रियता] है। समस्त चिन्ता से मुक्त होना वीतशोकत्व ये लक्षण इस योग के अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतिपादन के लिए कहे गये हैं। सिद्धि यह पाँचवां लाभ कहते हैं। सिद्धि पूर्व व्याख्येत है। अनुमानयुक्तता से भी यह ज्ञात होता है। निरुपचरित मुक्तात्मा परम ऐश्वर्यसम्पन्न [होते] पुरुषत्व होने पर समस्त दुःखों के बीज से रहित होने के कारण महेश्वर की भाँति है। पराभिप्रेत–मुक्तात्मा परम ऐश्वर्य विकलता [हीनता] वशं हम लोगों की भाँति [अस्मादिवत् है] है। च–कार न्यून व आधिक्य के व्यवच्छेद का सूचक है। पञ्चमी यह लाभों के पञ्चत्व के उपसंहारार्थ है ।।६।।

अब क्या ये लाभ देश, नियमों से प्रातव्य हो सकते हैं जैसा कि ब्रह्मचारी, गार्हस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षु [संयासी] लोगों द्वारा विद्याप्रजात-योग नामक लाभ अथवा देश के नियम-वैपरीत्य से भी कैवल्य की तरह पंचविंशति तत्वों के जानने वालों के द्वारा कहते हैं? [उत्तर में कहते हैं] देश-नियम से-क्योंकि उसके लिए यह कहा है-

गुरु, जन, गुहादेश, [गुफा] श्मशान और रुद्र ही ॥ यह

अथवा, वा यथाश्रुत होने से भी आर्ष होने से अदोष [दोषाभाव] है। गुरू [अर्थात्] पूर्वोक्त उसकी आज्ञा से रहने वाला उसके आश्रित होता है जैसे ग्रामण्याश्रित ग्राम यह। उनमें आदि धर्म में प्रवर्तमान [साधक] का आयतन में वास होता है, यहाँ आयतन शब्द गुरू में ही द्रष्टव्य है, लिङ्ग तर्क इत्यादि ज्ञापन से अथवा उपचार से मञ्च शब्द की भाँति। यद्यपि आयतन सूत्र में प्रतिषेध सुना जाता है, फिर भी देश के प्रसंग में अभिप्रेत गुरु ही हैं, आचार्यलोक, इस ज्ञापन के संकेत से। इसलिए गूढ़ व्रत का उपदेश, आयतन में वास। यहाँ आयतन शब्द जन में विवक्षित है, आयतनात् यह [पंचमी प्रयोग] करके, [क्योंकि] बुद्ध रूद्र का शिवायतन [शिवालय] में वासानुपत्ति [होती]। जब भी वास होता, लोगों के आधीन ही अतः द्वितीयावस्थ का देश जन ही है। जनशब्द से यहाँ धर्म अधर्म के जनन में अधिकृत वर्णाश्रम भी यहाँ अविहित होते हैं। तृतीयावस्थ साधक का देश गुहा है। गुहा [शब्द] का ग्रहण [वह] सूत्रार्थ के उपलक्षणार्थ [हुआ है]। अतः शून्यघर और गुहा दोनों में व्यासंगादि दोष से विहीन जो भी एक प्राप्त हो जाय वहाँ रहना चाहिए। देश शब्द का ग्रहण वहाँ स्थान मात्र से गुहा के देशत्व के ज्ञापनार्थ है न कि गुरुजन भी तद् यत्तत्वरूपेण। चतुर्थावस्थ [सापाक] का स्थान श्मशान है। श्मशान भी [अनुष्ठानादि के लिए] प्रसिद्ध [जो हो नही] ग्राह्य है। उस [श्मशान देश] का गुहा की भांति देशत्व नहीं है बल्कि शरीर समाप्ति तक वहाँ से [कहीं भी] न जाते हुए [साधक को] रहना चाहिये, यह विशेष नियम है। पञ्चमावस्थ साधक के देश रुद्र हैं । रूद्र अर्थात् भगवान् महेश्वर। रुद्रायत्त होने से साधक के देश रुद्र हैं ही, फिर भी पहले [उसका] दूसरा व्यपदेश [नामान्तर] भी है [था]। इस समय शरीर आदि से विहीन सर्वदेशविकल होने से रुद्र ही [उसे] धारण करते हैं। च शब्द यहाँ न्यूनाधिक्य से व्यवच्छेद का सूचक है।

अब कहते हैं- [प्रश्नवाचक] [क्या इन देशों में निवास मात्र से ये लाभ प्राप्त होते हैं जैसा कि कल्पवृक्ष देश में रहने से ? नहीं। तो क्या देश-भेद की तरह उपाय-भेद भी है?- क्योंकि उनके प्रतिपादन के लिए कहते हैं-

वास-चर्या, जप, ध्यान और सदारुद्र की स्मृति [होना] और प्रसाद ही लाभों के पांच उपाय निश्चित [किये गये] हैं ॥७॥

ग्रहण, धारण और उहापोह, विज्ञान, वचन, क्रिया, यथान्याय, अभिनिवेश इनकी तान्त्रिकी संज्ञा शिष्टों ने की है। उनमें एक बार उच्चारित वाक्य के सम्यक् अर्थधारण के सामर्थ्य को ग्रहण कहते हैं। गृहीत [विषय] का व्यवधान होने पर भी चिरकाल तक स्मरणसामर्थ्य [बना रहना] धारण [कहा जाता] है।

एक देश के श्रवण कर लेने से उक्त न्याय [नियम] से ही अपूर्व अर्थ की प्रतिपत्ति का सामर्थ्य ऊह कहा जाता है। आचार्य स्थान स्थित [जनों] द्वारा उक्त अर्थों का युक्त-अयुक्त विभाजन [सामर्थ्य विवेक] द्वारा प्रतिपत्ति या त्याग की शक्ति को अपोह कहते हैं। श्रुत अर्थ के अनेक प्रकारेण विचार एवं अन्यों के लिए प्रतिपादन करने के सामर्थ्य को विज्ञान कहते हैं। व्याहत, पुनरुक्त आदि दोषों से रहित वाक्य वचन [कहलाता है]। निर्दुष्ट शब्दोच्चारण से आचार्य को सन्तुष्ट करती हुई मिथ्याज्ञान रूपभक्ति की निर्वृत्ति में विद्या की अभिव्यक्ति होती है। उसी तरह उत्थान-प्रत्युत्थान आदि गुरु में परिचर्या का भाव होने से क्रिया कही गयी है। विरोध-विहीन शास्त्रार्थ के पर्यालोचन में उसके लिए अतियत्न करना यथान्याय अभिनिवेश है। कहा भी है-

"जो तर्क द्वारा पूर्वोत्तर अविरोध पूर्वक अचलवाक्य का
अनुसन्धान करता है, वह धर्म को जानता है अन्य नहीं।"

अनुसन्धान धर्म का उपाय चर्या है। भस्म-स्नानादि से मूढान्त क्रिया समुच्चय चर्या कही जाती है। वह दान, याग और से तीन अंगों से युक्त होती है। यही-अनावृत्ति फलवाला होने से अतिदान है अन्यदान तो आवृत्ति फलक होने से कुदान हैं। परमेश्वर की नियोग अभिसन्धि द्वारा भस्म-स्नान आदि क्रियाओं का यथाविधि किया जाना याग है। वही अतियाग है अन्य तो पूर्वोक्त दोनों हेतुओं से युक्त होने कारण कुयाग हैं। अपने अनुष्ठान में लीन [साधक] द्वारा त्रिविध दुःखों के आने पर [भी] उसका अनुपालन करते हुए प्रतिकार न कर सह लेना ताप है। वही अतिताप है अन्य तो कुताप [कहे गये] हैं। वहीं त्रयङ्ग चर्या भी दो प्रकार की है- व्रत तथा द्वार। उनमें स्नान, शयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा [परिक्रमा] व्रत [है] प्रधानरूपेण धर्म की उत्पत्ति और अधर्म के विनाशार्थकृत हैं। द्वार तो क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, श्रृंगार, [अपितत्करण और अपित् भाषण]

हैं। अपमान, परिभव, परिवाद, निष्पादन के दूसरे पूर्वोत्पन्न [दोनों] धर्मों का आय-व्यय निमित्त होने के क्रम स्वरूप इनका भाष्य ही व्याख्यात है। तदनुसार शिष्य के हितार्थ में भी स्वल्प ही प्रदर्शित कर रहा हूँ। पहले सूर्योदय से दो घण्टिका पूर्वान्ह तक सन्ध्या होती हैं वह तीन देवों वाली, पहली ब्राह्मी, मध्यमा वैष्णवी तथा अन्तिम रौद्री है। उनमें पूर्वसन्ध्या की शुचिता कर भस्म संस्कार करना चाहिए। कर्ता कारकादि दोषों से रहित शुक्ल आदि गुणों से युक्त अर्जित भस्म शिव की दक्षिणामूर्ति पर मन्त्रों द्वारा संस्कार कर और प्रदक्षिणा देकर सूर्यरूपी भगवान को त्रिलोचन द्वारा प्रसन्न दृष्टि से देखते हुए ध्यान करें तत्पश्चात् शिवतत्व में लीन चित्तवाले आचार्य या ज्येष्ठ भ्राता को निवेदित करें। तदन्तर एकान्त में पवित्र स्थान में जो जन्तु व स्थावर रहित हो उसमें पञ्च पवित्रों का आवर्तन करते हुए ही [साधक को] रौद्र-सवन पर्यन्त रहना चाहिये। उसके पश्चात् भगवान् को प्रणाम कर, तुम्हारी आज्ञा का पालन करूंगा, यह ध्यान कर जप करते हुए ही पैर से मस्तक तक पर्याप्त भस्म से अंग-प्रत्यंग के अतिशय प्रयास से रगड़-रगड़-कर स्नान करना चाहिए, इसी तरह मध्या और अपरान्ह सन्ध्याओं में भी । इतना यह विशेष है। मध्यान्ह में पहली ब्राह्मी, मध्य [अर्थात्] [सूर्य के] ठीक मस्तक [गगन के मध्य] स्थित होने पर रौद्री, उसके अन्त में वैष्णवी, सूर्यास्त समयोत्तर पहली रौद्री, तदन्तर वैष्णवी और उसके अन्त में ब्राह्ममति। सर्वत्र रौद्रसवनही स्नानकाल [विहित] है। इस प्रकार स्नानकर जप करते हुए ही आयतन में जाकर अतिशय भक्ति से शिव को प्रणाम स्नान निवेदित कर धीरे-धीरे गर्भगृह में प्रविष्ट होवें। उसके बाद दक्षिणमूर्ति वाले भू प्रदेश में घुटने टेककर हृदय पर अञ्जलि बांधकर मूर्ति में विराजमान साक्षात् शिव का अवलोकन करते हुए, यदि प्रत्याहार अनिवृत्त हो तो गतभाग ही हंसे, यह एकप्रकार के [लोगों का] मत है।

हम तो देखते हैं [वहाँ] जाकर जो [साधक] पहले जपता है भूत्यादि भाष्य का अर्थ यदि विचारता है तो अवश्य ही जाकर संयतात्मा और उत्तराभिमुख हो प्रत्याहार विशेष के लिए जप करें, जप करके तो शिव के ध्यान में आसक्त होकर [ध्यानानुरक्त होकर] बार-बार अट्टहास करे। तत्पश्चात् गीत को आरम्भ कर गाते हुए ही उठें उसके अनन्तर गीत सहित ही नृत्य करे। वहाँ पहले गीत समाप्त कर उसके बाद नृत्य समाप्त करे उसके बाद पूर्वोक्त विधि से वैसा कर शिव का ध्यान करते हुए ही हुडुक्कार कर नमस्कार करें उसके बाद जप। यहाँ जप और नमस्कार मानसिक, नृत्य शारीरिक हंसना, गीत, हुडुक्कार करना वाचिक,

ऐसा यह नियम इष्ट है। उसमें दीर्घोच्छवास पर्यन्त हंसनादान्डकात्रि आवर्तन पर्यन्त गीत और नृत्य, गम्भीर [रूप से] हुडुक्कात्रय, छः नमस्कार और पञ्चपवित्रो का गिरावर्तन करे ऐसा आचार्यस्वामी [मेरे] भगवान् ने कहा है जिसके द्वारा मैं अज्ञान सागर से उत्तीर्ण [अवतरित] किया गया। टीकाकारों ने तो कहा है कि यह सब सन्तोषपर्यन्त करना चाहिए। अतः इस तरह उपहार का ध्यान करते हुए हसन, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार तथा शङ्ग उपहार को, [हे] भगवन् महादेव! तुम्हारी अनुज्ञा से निवर्त्तित मैं अवभृथ स्नान भी करूंगा ऐसा निवेदन करें। तब निकलकर [निष्क्रमणकर] ईश को प्रणाम कर, प्रणामतक जपते हुए ही तीन प्रदक्षिणा [परिक्रमाबद्ध] धीरे-धीरे करें। तब अवभृथ स्नान [यज्ञानुष्ठान की समाप्ति का स्नान] करके भगवत् लकुलीश आदि तथा राशीकर उन्हें भी तीर्थकार के क्रम से भिन्न प्रकार से यथावत् भक्तिपूर्वक नमस्कार करें, तब एक प्रदक्षिणा करें। दूसरे दिन इच्छानुसार प्रदक्षिणा जपते हुए ही करें। केवल पञ्चमन्त्र जप भी धर्म का हेतु होता है ऐसा [कहा गया] है। अब आयतन की सन्धि वाले स्थावर आदि दोषों से रहित रूप से भली प्रकार परीक्षित [अवलोकित] भूप्रदेश को सायंकाल के अन्त में वरन आदि को मृदु पवित्र से विविक्त कर भस्म से ही शुद्धि करें। तब वहाँ बैठकर विधि में अनुरक्त होंतब तक जब तक प्रगाढ़ निद्रा द्वारा अभिभूत एवं श्रान्त न हों। तब पुनः उठकर विवेचन करें । उसके बाद पर्याप्त भस्म मन्त्रों से संस्कृत कर फैलावे और वहाँ पाँच मन्त्रों का आवर्तन करते हुए ही शयन करें। पुनः उठकर इसी विधि से ही शयन करे जिससे शीघ्र ही शुद्धि होती है। सुषुप्त [सोये हुए साधक] की भी प्राणात्यय होने पर अतिगति ही होती है अन्यथा विधि से भ्रष्ट साधक को पुनः संसार में आना पड़ता है। इस प्रकार प्रभामावस्था में विधि का अनुष्ठान करके [साधक] जब ज्ञानयुक्त, कालुष्यहीन, अनुज्ञ हो जाय पर तब दूसरी अवस्था में जाकर रङ्गमंच पर अवस्थित लोगों में नट की भांति स्थित होकर पुनः-पुनः विवेचन कर क्राथन आदि करे। उनमें असुप्त का ही सुप्त लिङ्ग प्रदर्शन क्राथन, वायु से अभिभूत की तरह शरीर के अवयवों का कम्पन, स्पन्दन उपकृत पादेन्द्रिय वाले की भाँति गमन [करना] मन्दन है। रूप-यौवन सम्पन्ना स्त्री को देखते हुए कामुक की तरह जिन लिङ्गों [हाव भावों] से अपने को व्यक्त करता है वह श्रृंगारण, कार्य और अकार्य में शून्य विवेक की तरह लोक की निन्दा करना अपितत्करण, व्याहत, अपार्थक इत्यादि शब्दों का उच्चाकरण करना अपिद्भाषण है [कहा जाता है]। इनका कोई नियमित क्रम नहीं है। किन्तु अपमान आदि का निष्पादकत्व जिससे व्यक्ति परिभव

को प्राप्त हो इस उपदेश से दावाग्नि की तुल्यता [समता] से अपमान आदि इष्टतम और इस तरह इससे हिंसा अस्तेयकरण आदि दुष्टशब्दोचारण प्रसंग भी अपमान निष्पादकता से हो सकतां है। अपित्करण तथा अपिद्भाषणं ......देव की सम्पूर्ण क्रिया की व्याप्ति में अहिंसा अविरोध के ज्ञापनार्थ होने से क्राथन आदि आरम्भ का नहीं हो फिर देव की नित्यता में क्या उपाय है यह कहते हैं-जपध्यान यह। उनमें तृतीय और चतुर्थ मंत्रों का आवर्तन जप है। वह दो प्रकार है प्रत्याहारफल और समाधिफल। उनमें प्रथम प्रत्याहारफल उसकी निष्पत्ति [उत्पत्ति] में किया जाने वाला जप समाधिफल है। अन्य में असक्त होने पर ....क्रियमाणजप सैकड़ों वर्षों में भी प्रत्याहार नहीं करता है, अपितु उसका दोष ही उत्पन्न करता है। यह सत्य ही हैं किन्तु यहाँ प्रत्याहर पर अपर भेद से द्विविध इष्ट है उसमें अन्तःकरण पूर्व अपर है। उसके सहित जप द्वारा निर्मलीकृत चित्त प्रयत्न से निरपेक्ष भी अलात् चक्रवत् जव ब्रह्म में ही स्थित होता है तब यह पर प्रत्याहार जप पूर्वक ही होता है, ऐसा कहा गया है। वह अनेक जन्मों में उपार्जित कर्म को लक्ष्य मात्र से दग्धकर चित्त को ध्येयतत्व [ब्रह्म] में स्तम्भनिक्षिप्त लौह कील की भाँति निश्चला [स्थिर] करता है। रुद्रतत्व में सदृश [समान] चिन्तन प्रवाह ध्यान है। वह दो प्रकार का है– जपपूर्वक और धारणापूर्वक। उनमें जपपूर्वक प्रसंगवश पहले ही कहा गया है, धारणापूर्वक कहा जाता है [जा रहा] है। अमूढ़ के चित्त को आलम्बनहीन करना धारण है। संहृतमूर्च्छा आदि में स्थित का भी चित्त को वृत्त के आलाभ से निरालम्बन है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए, अमूढ़ का, ऐसा कहा है। जो विद्यानुगृहीत मति से अपने चित्त को निरालम्ब [अवलम्बहीन] बनाता है वह अमूढ ऐसा कहा जाता हैं उस धारणा द्वारा निर्मलीकृत चित्त को रुद्र तत्व में स्थापित कर सुदीर्घकाल तक च्युत नहीं होता, इसी विशेष से पूर्व ध्यान की अपेक्षा यह धारणासहितं ध्यान पर है, ऐसा परमयोगी श्रीमान् भाष्यकार कृत है। यद्यपि दीक्षा आदि चित्त निर्मलीकरण में असक्त है। फिर धानुष्क, चित्रकार आदि की भाँति अभ्यास के लिए सभी अवस्थाओं में भी यथाशक्ति ध्यान करना चाहिए, मृत्युकाल के निश्चित होने से अन्य का युद्धकाल अश्वदमनन्याय होता है [यह] कहते हैं–

इस तरह सम्यक् विधि को जानकर–

जो ब्रह्म हत्यावाला भी, निशा आदि में, आधी रात में, रात्रि के अन्त में अचलव्रती बनकर प्रहर-प्रहर या उसका आधा यथाशक्ति, दिन में, अन्यत्र आसक्ति को छोड़कर संसार को दुःखमय देखते हुए, अत्यन्त वैराग्युक्त अल्पाहारी, जितेन्द्रिय

होकर, अत्यन्त उत्साह [दिखाते हुए] प्रदर्शन करते हुए, शुद्धि व उत्कर्ष की वृद्धि करते हुए, निरन्तर छः मास तक अथवा एकवर्ष पर्यन्त शङ्कर का ध्यान करता है, तच्चित्त हो, तन्मय हो, वह घोर पाप तथा रागादि के पिंजरे को नष्टकर सर्वोपाधियुक्त अखिल तत्व को ही देखता है, सभी प्राणियों के अधीश्वर अत्यय शिव को देखता हुआ, जो पाशुपतों के अतिरिकत योगियों द्वारा भी दृश्य नहीं है, उसे देखकर उसे परमऐश्वर्य को पाकर सदा निर्भय हो जाता है, जो साधक विधान से अज्ञात रहकर भी सुव्रत होकर सद्भक्ति, उत्साह और वैराग्यपूर्वक नित्य शंकर का ध्यान करता है, उससे भी ईश [सदाशिव] प्रसन्न होकर अनुत्तम सिद्धि प्रदान करते हैं। जिसे पाकर [साधक] संसार को छोड़कर स्वतन्त्र शिव की तरह हो जाय। उस ईश्वर का ध्यान करते हुए ही, यदि वह प्राणों को त्याग देता है तों उसके देहान्त समय में ईश परंमगति प्रदान करते हैं, जो [तपस्वी] जलभक्षी वायुभक्षी, अत्युग्रतपकर्ता, पृथ्वी आदि के देने वाले, यज्ञानुष्ठान कारक हजारों वर्षों में जिस सिद्धि को प्राप्त करते हैं उसे जप तथा ध्यान में लीन यति अर्धयाम में ही प्राप्तकर लेता है। योग के माहात्म्य, देहादि की स्थिति के अविशयय, दुःख के सागर इस ससांर को जानकर जो अपनी बुद्धि को' अन्यथा नहीं करता वह तब तक शरीर धारण करता है [जन्म-मृत्यु चक्र में रहता है] जब तक यह बुद्धि नहीं नष्ट होती [कि यह जगत नित्य है]। तब तक यथाशक्ति ध्यान और जप करना चाहिये, जिस तरह इष्ट द्रव्य का कदाचित् एक क्षण भी नष्ट किये बिना निरन्तर ध्यान करता है उसी प्रकार वाणी आदि से असंसृष्ट होकर आलस्यहीन हो शिव का ध्यान करना चाहिए। विवक्षु के चित्त में जैसे पहले विशुद्ध वाणी भाषित होती है उसी तरह उस शिव का प्रणिधानपूर्वक रात-दिन चिन्तन करें। गुणधर्म से युक्त विशिष्ट भावयुक्त निश्चित कर शीघ्र ही केवल उस शिवतत्व बुद्धि से ध्यान करें।

यह पाशुपतयोग विधान [जो] परमोत्तमदेवों द्वारा भी अलभ्य, परम गोप्य, परमेश्वर से लेकर गुरुपरम्परया केवल उपदेश से प्राप्त है [यहाँ] स्वल्पमतिवालों से अनुग्रह हेतु व्यक्त है जिसे कहा गया, जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता या अपरीक्षित को प्रदान करता है उसे ब्रह्महत्या आदि से भी गम्भीर पाप होता है। अतः शिष्य परीक्षा और श्रद्धा [उत्पन्न करने में] प्रयत्न करना चाहिए। स्थिति का उपाय कहते हैं– सदारुद्र की स्मृति। देवनित्यता ही सदास्मृति है यह कहा जाता है। तथा शब्द समान वाचक है जैसे देवनित्यत्व के ही प्रति अध्ययन और ध्यान की उपायत्तता

और धर्म के प्रति चर्या की, उसके अनुग्राहकता से अनुस्थान, आदि यम यन्त्रणादि की भी उपायत्ता कही जाती है वैसे ही स्थिति के प्रति स्मृति भी प्रधानतया उपाय हैं उसकी अनुग्राहकता से इन्द्रियजन भी उपायता रूप से उक्त है। अत एव इन्द्रिय जय इससे कोई विरोध नहीं है। एक पक्ष का मत है कि संगादि की निवृत्ति का उपाय है इन्द्रिय-जय [परन्तु वह ठीक नहीं है] पञ्च उपाय विरोध होने से त्यागदान सूत्रभाष्य के विरोध से भी। देवनित्यता और इन्द्रियजय में अभेद है, यह अन्य लोगों का भी मत है। किन्तु यह भी उचित नहीं है। लक्षणभेद से इन्द्रियों को त्याग और ग्रहण करने में प्रभुत्व इन्द्रिय जय है। देवता में भावाभ्यास होना देवनित्यत्व है। तो यहाँ सिद्धि का उपाय कहते हैं– 'प्रसाद' यह। कारण की स्वगुणादित्सा यह प्रसाद कही जाती है। च शब्द न्यूनाधिक्य व्यवच्छेदसूचक है, एवं शब्द प्रसाद की अन्य की अनपेक्षता बताता है। लाभों के उपाय, इससे गम्यमान अर्थ का भी अविधान [कथन] अन्य शास्त्रों में कथित मोक्ष के उपायों के अनुपालन के ज्ञापनार्थ है। पञ्च यह उपसंहारार्थ है। निश्चित का अर्थ है आप्तों द्वारा दृष्ट।

अब [कहते हैं कि] क्या इन उपायों से पाँच ही लाभ प्राप्तव्य हैं, तो क्या पाँच मल क्षपणीय [नाशवान्] नहीं हैं फिर वे कौन हैं? यह कहा–

मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्ति हेतु तथा च्युति और पशुत्वमूल ये पाँच अधिकारता तन्त्र में हेय [बताये गये] हैं ॥८॥

उनमें प्रमाणों के आभासज ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहा गया है जो संशय, विपर्यय आदि रूप है तो शास्त्रान्त से भी संशयादि की निवृत्ति का अविशेष प्रसङ्ग होगा [यदि ऐसा कहैं] तो नहीं, आचार्य वैशंष्य प्रकरण में शास्त्रान्तर प्रणेताओं के भी विपर्यय की अनिवृत्ति प्रतिपादन से, [ऐसा भी नहीं], शास्त्रान्तरों से भी संशय आदि की निवृत्ति होती है [ऐसा होने से] काम, क्रोध, द्वेष, कलुष, इनका भी अज्ञान में अन्तर्भाव है। कैसे? अव्यक्तावस्था गमन में प्रत्यनीक होने से। तो यह संशयादि कलुष बीज के साथ मिथ्याज्ञान, यह कहा जाता है। द्वितीय मलादि प्रदर्शित करते हैं अधर्म, यह। पापबीज पाप ही अधर्म के होने पर भी यह पापनामात्मक अधर्म ही सूचित करता है। तृतीय मल कहते हैं सक्तिहेतु यह। सक्तिसङ्ग विषयासक्ति रूप सुख भाष्य में सुखाभिमान इस नाम से कहा गया है। उसी के लक्षण के लिए 'अविवेचन, मिश्रण, प्रेरण रूप वनगज की तरह' यह भाष्य है।

उस सङ्ग का हेतु तन्मयकारण अन्य विधि से उपार्जित धर्मसङ्गकर ऐसा जो कहा गया है वह विकारयुक्त [के साथ] तृतीय मल कहा है। चौथा मल कहते हैं–च्युति यह, रुद्रतत्व आदि से चित्त-च्युति, यह कहा जाता है। तथा शब्द समानार्थक है। जैसे मिथ्याज्ञान का अपने बीज के साथ मलत्व है और अधर्म तथा सङ्कर का सविकार के साथ वैसे च्युति का भी ऊष्मा की भांति स्थित अधर्म नामक स्वबीज के साथ मलत्व है। यहाँ भाष्यविरोध होने से मिथ्याज्ञान कलुष पाप सङ्गच्युति नहीं होती अथवा पुरुष के भावचित्त विद्या का कलुष इच्छा का भाव भी नहीं है किन्तु अधर्म विकार ही, ऐसा ज्ञान तथा इच्छा के साथ क्षीरोदक की भांति अभिन्न से गृहीत होते हैं। यह सत्कार्य विचार के प्रकरण में प्रपस्थित है। पांचवा मल कहते हैं, पशुत्व, यह। धर्माधर्म से विलग प्रतिघातानुमेय पुरुष [के] गुण [को] पशु कहते हैं। चौदह लक्षणों से युक्त उसका मलत्व [कहा] है। सर्वज्ञत्व आदिं अपतित्व पर्यन्त के लक्षण सर्वज्ञत्व आदि विपर्यण से व्याख्यात हैं। वह इस प्रकार की पशुता संसार का अनादिकारण प्रधानभूत है, यह मानकर कहते हैं मूल [है], यह। जैसा कि कैवल्य प्राप्त की अन्य मलों का अभाव होने पर भी पशुता से ही पुनः संसारापत्ति [संसार में आगमन] होती है। पाँच यह न्यूनाधिक के व्यवच्छेदपूर्वक उपसंहारार्थ है। एते यह अवधारणार्थक है ये ही संसार के बन्धन मल हैं न कि शास्त्रान्तरोक्त भोक्ता-भोग्य सम्बन्धी आदि, यह अर्थ है। फिर इस तरह के वे मल कहाँ प्रसिद्ध हुए? यह कहते है। तन्त्र में-साक्षात् महेश्वरकृत अथ शब्द से लेकर शिव तक शास्त्र तन्त्र [है]। उनमें ये प्रतिपादित हैं– यह अर्थ है। धर्मज्ञान आदि के भी व्यज्मान [अभिव्यक्त] होने से अधर्म आदि की तरह मलत्व प्राप्त हैं यह आशंका कर कहते हैं हेयाधिकारतः ऐसा। जिनकी कर्दम आदि की तरह हेतुता मानकर साधक [उनके] विनाशार्थ अधिकृत होता है वे ही मल हैं, न कि जिनका पुण्य आदि की तरह न चाहते हुए भी बिना-शर्त [हो]। अतः हेयाधिकार से अज्ञान आदि ही मल है [यह कहा गया]। हेयाधिकारिका यह भी पाठ है वहाँ भी यही अर्थ है। हेयत्व से, क्षपणीयत्व से अधिकार योग्यता है जिनके वे हेयाधिकारी हैं वे ही हेयाधिकारी का [हैं]। स्वार्थ में 'क' प्रत्यय है। अधिकार शब्द से इणक् प्रत्यय करने पर हेयवद दो कर्मधारण्य [समास] है, अतः यह अर्थ है [हुआ]। क्योंकि हेयाधिकारिका ही यह मल विवक्षित है। इसलिए धर्मज्ञान, वैराग्य आदि भी मल नहीं है, यह [कहते हैं]–

"आचार्यों के अनुग्रह से यह सब पञ्चार्थ-लक्षण-ज्ञान मैने संक्षिप्तरूपेण कहा। अपने अनुष्ठान का अपहरण करने वाले बहुत शास्त्रों के जानने से क्या [लाभ]। इसी उत्तम ज्ञान को जानकर [साधक की] योगाभ्यास में रति होती है। जो इसे सुनकर अपने को कृतकृत्य मानता है उसे यह ज्ञान देय है, अन्य में सिद्धि-इच्छुक को नहीं। जो किसी भी कारण [हेतु से] मर्यादा से हीन को [यह ज्ञान] प्रदान करता है, वह अधोगति को प्राप्त होता है। गुरु [सद्गुरु] को नमस्कार है जिसने आठ सुन्दर श्लोकों के द्वारा पञ्चार्थब्धि [पञ्चार्थ की उपलब्धिज्ञान] को प्रदर्शित किया"।।

आचार्य भासर्वज्ञ द्वारा रचित गणकारिका की
रत्नटीका पूर्णरूपेण समाप्त हुई

शिवपुराण

वायुसंहिता [पूर्वभाग]

अध्याय १

पशुपति शब्द पर ऋषियों का विवाद

सूत जी ने कहा – वे सौभाग्यशाली नैमिषारण्य निवासी ऋषि-वृन्द, प्रणाम करके, वायुदेव से प्रश्न करने लगे ।।१।।

आपने ईश्वर-गोचर ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार की? आप अव्यक्त, अजन्मा भगवान् शिव के शिष्य किस प्रकार हुए? ।।२।।

वायुदेव ने उत्तर दिया -

मैंने पूर्वकाल से ही पशु-पाश-पति [सम्बन्धी] ज्ञान की कुछ प्राप्ति की थी। सुख की आकांक्षा वाले पुरुष को उसमें परम-निष्ठा रखनी चाहिए ।।३।। अज्ञान से प्रादुर्भूत दुःख, ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। वस्तु-परिच्छेद से ज्ञान वस्तु दो प्रकार का स्मरणीय है ।।४।। अजड़ जीव तथा जड़ प्रकृति का नियन्ता वही है, क्रमानुसार उसके तीन नाम पशु, पाश और पति, कहे जाते हैं ।।५।। अविनाशी, नाशवान्, [नित्य-अनित्य] तथा इन दोनों से परे, इन तीन को तत्वज्ञाता बतलाते हैं ।।६।। इस प्रकार अनित्य, पशु कहा गया है, तथा क्षरण होने- पाश [को] क्षर कहा गया है, जो नित्य-अनित्य से परे है वही पति कहा जाता है ।।७।।

ऋषियों ने प्रश्न किया–

क्षर किसे कहते हैं? अक्षर किसे कहते हैं? क्षर-अक्षर से परे क्या है? इसे आप कहने की कृपा करें ।।८।।

वायु ने कहा –

प्रकृति को क्षर तथा पुरुष को अक्षर कहा गया है तथा इन दोनों को प्रेरणादायक और इन दोनों से परे वह-परमेश्वर है ।।९।।

ऋषियों ने पूछा –

उपरिकथित प्रकृति क्या है? यह पुरुष कौन है? इन दोनों का सम्बन्ध क्या है? इनका प्रेरक ईश्वर कौन है? ।।१०।।

वायु ने कहा –

अभिव्यक्त प्रकृति माया है, उसी माया से पुरुष आवृत्त है, और कर्म के सम्बन्ध से परे शिव ही सबका प्रेरक और ईश्वर है ।।११।।

ऋषियों ने पूछा –

यह मल कैसा तथा कहाँ से प्राप्त हुआ? माया क्या वस्तु है? माया से आवृत्त होकर क्या स्वरूप निर्मित होता है? शिव कौन है? शिव तत्व क्या है?।।१२।।

वायु ने कहा –

माया महेश्वर की शक्ति है, माया से ही आवृत्त शिव का स्वरूप है, मल चित्स्वरूप को आच्छादित करने वाला है, शिवस्वरूप विशुद्ध और तम-रहित है [क्योंकि तम स्वकल्पित है] ।।१३।।

मुनि-जनों ने पूछा –

व्यापी को यह माया किस हेतु से आवृत्त कर लेती है? पुरुष किस प्रकार आवृत्त हो जाता है तथा उसकी निवृत्ति किस प्रकार होती है?।।१४।।

वायु ने कहा –

व्यापी के कलादि में प्रवृत्त होने से आवृत्ति होती है इसका कारण अर्थात् हेतु, भोग कराने वाला कर्म है, मल के क्षीण होने से इसकी निवृत्ति होती है ।।१५।।

ऋषियों ने प्रश्न किया –

कलादि क्या है ? वह उदाहृत कर्म किसे कहा गया? उसका आदि और अन्त क्या है? उसका फल अथवा आक्षय क्या है? ।।१६।। भोग किसके लिये है? भोग क्या है? भोग का साधन क्या है? मल के क्षीण होने का हेतु क्या है? क्षीणं मलवाले पुरुष का स्वरूप क्या है? ।।१७।।

वायु ने कहा –

कला, विद्या, राग, काल और नियति इस प्रकार कहे गये कलादि का भोक्ता पुरुष होता है ।।१८।। कर्म, पुण्य और पाप से युक्त है, उसका फल सुख और दुःख है, [अविद्याजनित] अनादि मल भोग के अन्त तक अज्ञानवश ही आत्मा में आश्रित है ।।१९।। कर्म का नाश करने के लिए भोग तथा भोग्य वस्तु-प्रकृति है, नेत्रादि इन्द्रिय, वाह्य अन्तःकरण, मन, इन्द्रियों के द्वारा और शरीर भोग के साधन हैं ।।२०।। अतिशय भाव [भक्ति] से प्राप्त शिव-प्रसाद के कारण तमोगुण क्षीण होता है, आत्माश्रित मल के क्षीण हो जाने पर वह पुरुष शिव के तुल्य हो जाता है ।।२१।।

ऋषियों ने पूछा –

कलादि पञ्चतत्वों का पृथक कर्म क्या है? क्या आत्मा भोक्ता है? क्या पृथक पुरुष आत्मा है? ।।२२।। वह आत्मा क्या अव्यक्त है? किस कारण से वह भोक्ता है? भक्ति में उसकी शरण क्या है? शरीर किसे कहा गया है? ।।२३।।

वायु ने कहा :-

[पुरुष का ज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति] ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति की व्यञ्जक विद्या और कला है, काल उसका अवच्छेदक और देवशक्ति उसकी नित्यता है ।।२४।। सत्व, रज और तम इन तीनों रूपों से अव्यक्त का कारण प्रकट होता है, तत्व ज्ञाता इसी को प्रधान और प्रकृति कहते हैं ।।२५।। कला ही उस अव्यक्त की अभिव्यक्ति [प्रकाशन] का लक्षण है [अर्थात् कला क्रियात्मक प्रभुशक्ति को सृष्टि काल में प्रकट करने वाली है]। विमोहित आत्मा पुरुष सुख दुःख को तीन प्रकार से भोगता है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्व, रज, और तम ये तीन गुण, तिलों में तैल के सदृश सूक्ष्मरूपेण प्रकृति में स्थित हैं। सुख और सुख के हेतु को सात्विक तथा दुःख और दुःख के हेतु को राजस और इन दोनों की [प्रवृत्ति और निवृत्ति की] शून्यता को तामस कहा गया है ।।२६।। सत्वगुण ऊर्ध्वगति, तामस अधोगति और मध्यम गति वाली राजसी समझी जाये ।।२७।। तन्मात्रा पाँच [शब्द-स्पर्शादि], इसी प्रकार पंचभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियां है ।।२८।। प्रधान बुद्धि, अहंकार और मन समासपूर्वक अव्यक्त और विकारी कहे जाते हैं ।।२९।। उसके कारण दशा में प्राप्त होने पर यह अव्यक्त और कार्यदशा में प्राप्त होने पर व्यक्त कहा जाता है। यह शरीर घट आदि के

समान [प्रत्यक्ष] होता है ।।३०।। जैसे घटादि कार्य का मृत्तिका से भिन्नत्व नहीं वैसे ही इस शरीरादि का भी अव्यक्त से भिन्नत्व नहीं है ।।३१।। अतएव असंदिग्ध रूप से अव्यक्त ही कार्यों का कारण है, शरीर उसका आधार तथा भोग्य है ।।३२।।

ऋषियों ने कहा -

बुद्धि और इन्द्रियँ शरीर से इस प्रकार व्यतिरेक दिखाई देकर भी यथार्थ में अस्मा [आत्मा] शब्द का व्यवहार करते हैं उसकी स्थिति कहाँ है? ।।३३।।

वायु ने कहा :-

बुद्धि इन्द्रिय और शरीर में यह अचल, सर्वव्यापक तथा अलग है, वही आत्मा कहा जाता है। उसका हेतु ज्ञान अत्यन्त कठिन है। वह अनेक जन्म की परम्परा से जानने योग्य है ।।३४।। बुद्धि इन्द्रिय और शरीर में सत्पुरुष आत्मा नहीं मानते, स्मृति और ज्ञान के आश्रय-आश्रयी भाव की तरह ही आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है ।।३५।। [इस प्रकार बुद्धि आदि से भिन्न कर्मफल का भोक्ता] कोई आत्मा है जो सर्वज्ञ, अगोचर और अन्तर्यामी, वेद-वेदान्त में गीतिमान [गाया गया] है ।।३६।। वह सबमें से सबको व्याप्त करके स्थित है, शाश्वत [नित्य, सर्वदा प्रवर्तमान] है तथा उसे कोई नेत्र प्रत्यक्ष देखने में समर्थ नहीं है ।।३७।। वह नेत्रादि तथा इन्द्रियादिं से ग्रहणीय नहीं है, मानस की प्रदीप्ति [शुद्धि-वृद्धि] से महात्माजन ही उसे जान सकते हैं ।।३८।। यह न स्त्री है, न पुरुष, नपुंसक भी नहीं है, न ऊपर है, न नीचे है, न तिरछे है इनमें से किसी प्रकार भी नहीं है।।।३९।। शरीर में रहकर भी शरीर-रहित, चलवस्तु में रहकर भी स्थिर, और अविनाशी है, इसे धीर-पुरुष श्रवणादि [अभ्यास] से सदा देखते हैं ।।४०।। वह पुरुष इस शरीर से भिन्न है, जो लोग इसे शरीर से संयुक्त मानते हैं उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं है ।।४१।। यदि यह शरीर तथाकथित उस पुरुष से संयुक्त होता तो अशुद्ध, परवश, दुःखस्वरूप और नाशवान न होता ।।४२।। विपत्ति का बीजस्वरूप यह शरीर पुरुष से संयुक्त होने से ही कर्मानुसार सुखी दुःखी और अज्ञानी माना जाता है ।।४३।। जल से आप्लावित भूमि से उत्पन्न अंकुर की भाँति शरीर से अज्ञान रूपी जलाप्लावन से कर्म रूपी अंकुर ही उत्पन्न होते हैं ।।४४।। यह शरीर अत्यन्त दुःख का घर, रोगी और मृत्यु के मुख में गिरने वाला है इसके अतीत और भविष्य में हजारों रूप हो चुके और होंगे ।।४५।। वह पुरुष एक शरीर के जीर्ण होने से दूसरे शरीर में चला जाता है। कहीं भी किसी प्रकार भी एक शरीर

में यह निरन्तर नहीं रहता ।।४६।। आकाश में मेघ से ढंके हुए चन्द्रमंडल के समान अप्रकट और प्रकटरूप में पुरुष और शरीर का संयोग और वियोग होता है ।।४७।।

अनेक शरीरों के भेद से आत्मा की वृत्ति भी भिन्न भिन्न प्रकार की दिखाई देती है, वह शारिफल के समान एकाकार होकर भी अनेक आकार में प्रतीत होता है ।।४८।। उस पुरुष का न कोई कभी हुआ और न भविष्य में होगा, स्त्री, पुरुष और बन्धुबान्धवों का संयोग तो पथिक के समान है ।।४९।। जैसे बहते हुए दो काष्ठ [सागर की] लहरों से मिल जाते और मिलकर पृथक हो जाते हैं वैसे ही प्राणियों का समागमन है ।।५०।। वह जीव शरीर को देखता है परन्तु शरीर जीव को नहीं देख सकता, इन दोनों [जीव और शरीर] को कोई और देखता है परन्तु वे उसे नहीं देख सकते ।।५१।। ब्रह्मा से स्थावर तक सभी पशु की संज्ञा से अभिहित हैं यह उपर्युक्त दृष्टान्त पशुओं के लिये ही कहा गया है ।।५२।। यह पाश से बंधता और सुख-दुःख भोगता है इसलिए पशु कहा गया है, विद्वानों का कहना है कि यह ईश्वर के विलास [लीला, क्रीड़ा] का साधन है ।।५३।। यह जीव, अज्ञानी अनीश और सुख-दुःख की भूमि है तथा ईश्वर की प्रेरणा से यह स्वर्ग-नरक प्राप्त करता है ।।५४।।

सूत जी ने कहा- वायु के वचन सुनकर मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुये और शिव शास्त्र में प्रवीण, वायु को प्रणाम कर कहने लगे।

अध्याय २

शिव-तत्त्व वर्णन

ऋषियों ने कहा -

आपने जो पशु तथा पाश कहा है इनसे विलक्षण इनका स्वामी कौन है? ।।१।।

वायु ने उत्तर दिया -

वह अनन्त रमणीय गुणों का आश्रय, जगदीश्वर तथा पशु के पाश से आबद्ध करने वाला ही स्वामी अर्थात् पति है ।।२।। उसकी अनुपस्थिति में विश्व की सृष्टि कैसे हो सकती है, पशु तथा पाश के अचेतन तथा ज्ञानरहित होने से ।।३।। प्रधान परमाणु आदि जो अचेतन है उनका स्वयं कर्तृत्व चेतन सम्बन्धरूप बीज से इतर किसी ने भी नहीं देखा ।।४।। संसार कर्म सापेक्ष है, कार्य अवयव रूप है तथा उस अवयवयुक्त कार्यत्व के कर्तृत्व का कारण ईश्वर [पति] है। पशु-पाश [में सर्वकर्तृत्व] नहीं है ।।५।। ईश्वर की प्रेरणा से पशु में भी कर्त्ता पन प्रतीत होता है [वह कर्तृत्व यथार्थ नहीं है] जैसे अन्धा स्वयं नहीं चल सकता दूसरे के सहारे चलता है वैसे ही पशु का कर्तृत्व समझें ।।६।। अपने आत्मा और प्रेरक को पृथक् मानकर यह आत्मा उपासना के द्वारा ईश्वर की कृपा पाकर अमृत हो जाता है।।७।। पशु, पाश और पति का जो तात्त्विक अन्तर है उसे जानकर ब्रह्मज्ञानी पुरुष योनिमुक्त होता है ।।८।। क्षर-अक्षर दोनों मिलकर व्यक्त-अव्यक्त को धारण करते हैं और ईश्वर संसार के बन्धन से मुक्त कराने वाले हैं ।।९।। भोक्ता, भोग्य और प्रेरक यह तीन हैं, जानने वालों को इनसे परे किसी अन्य के जानने की आवश्यकता नहीं है ।।१०।।

जैसे तिलों में तैल, दही में घी, स्रोत में जल और अरणि में अग्नि की स्थिति है ।।११।। वैसे ही अपनी आत्मा में आत्म विलक्षण रूप से स्थित है और यह सत्य तथा तपोनिष्ठता से नित्ययुक्त देखता है ।।१२।। एक ऐन्द्रजालिक के

समान माया से युक्त ईशन् [वशीभूत] करने वाली सम्पूर्ण लोकों को वशवर्ती करके वह स्थित है ।।१३।। सर्वदा शाश्वत वे एक ही रुद्र हैं, दूसरा कोई भी नहीं समग्र विश्व लोकों की वह रचना व विस्तार करता है तथा उसे समेट लेता है ।।१४।। समग्र संसार उसके नेत्र और मुख हैं उसकी भुजा और चरण ही विराट् पुरुष के भुजा और चरण हैं ।।१५।। वह एक ही देवता महेश्वर स्वर्ग और पृथ्वी तथा सभी देवताओं को उत्पन्न करता है तथा पालन भी करता है ।१६। जो प्रथम हिरण्यगर्भ [देवताओं में] को उत्पन्न करता है वही जगदुत्पादक रुद्र है, महर्षिगण और श्रुतियाँ यही कहती हैं ।।१७।। आदित्य के समान तेजोमय वर्णवाले उस अमृत स्वरूप, अचल पुरुष को मैं जानता हूँ ।।१८।। इस परमेश्वर से परे अन्य कुछ भी नहीं है, न स्थूल, न सूक्ष्म कोई भी नहीं इसने सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण कर लिया है [यह सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण किये हुए हैं] ।।१९।। वह एक वृक्ष के समान अचल हुआ स्वर्ग में स्थित है, सबके मुख, शिर, कंठ आदि उसी के अंग हैं सब प्राणियों में स्थित, सर्वव्यापी होने से वह सर्वगत एवं शिव है ।।२०।। चरण, मुख, नेत्र सभी में वह व्याप्त है उसी के श्रोतृ सब ओर हैं वह सबको आवृत्त कर स्थित है ।।२१।। सम्पूर्ण इन्द्रियों और गुणों के अभ्यासरूप, इन्द्रियों से रहित ज्ञानरूप सर्वज्ञ, सर्वेश्वर सभी के शरणदाता और मित्र हैं बिना नेत्र के देखते, बिना कान के जो सुनते, जो सबको जानने वाले हैं। परन्तु वे सबसे अगम्य है वे शिव ही परम-पुरुष हैं ।।२३।। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म महान् से भी महान् व अविनाशी [नित्य] महेश्वर जीव के हृदयाकाश में स्थित हैं ।।२४।। उस क्रतुहीन यज्ञस्वरूप, महान महिमासम्पन्न, महेशान देव को उसी परमात्मा की प्रसन्नता से शोकरहित देखते हैं ।।२५।। इस सर्वव्यापी परमेश्वर को वेद जराहीन, पुराण पुरुष तथा सर्वगामी एवं ब्रह्मवादी जन्म-मरण-बन्ध के निरोधरूप में कहते हैं ।।२६।। वह एक ही ईश्वर अपनी शक्ति से तीनों लोकों की विश्वरूप रचना करके अन्त में उसका संहार कर देता है ।।२७।। विश्व को उत्पन्न करने वाली प्रकृति अजा है, वही परा शैवी है, रजोगुण वाली होने से वह लालवर्ण की, सत्त्वगुण से श्वेत, तमोगुण से काले वर्ण की है ।।२८।। वह अनेक प्रकार की अपने रूपों से प्रजा की उत्पत्ति करने वाली है, जीव इसे भोगता हुआ सोता है तथा वह अज इसे भोगकर त्याग देता है ।।२९।। दो सुपर्ण समान रूपेण सखा की भाँति देहरूपी वृक्ष पर समान रूप से स्थित हैं, एक वृक्ष के फल रूपी

कर्म को खाता हुआ भोगता है और दूसरा परमात्मा उसे देखता है ॥३०॥ इस संसार-वृक्ष पर पुरुष भोगों को भोगता हुआ मोहवश शोक करता है, परन्तु शुद्ध ध्यान की अवस्था में परमकारण को देखता है ॥३१॥ अपनी परमेश्वररूपिणी उस माया को देखकर वह शोकमुक्त होकर आनन्द प्राप्त करता है। छन्द, यज्ञ, कर्म, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि मायावी होकर माया का निर्माण करते हैं, क्योंकि माया प्रकृति है और मायापति परमेश्वर हैं [महेश्वर हैं] ॥३३॥ उन्हीं के अवयवों से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हैं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ईशान देव के गर्भ के मध्य में ॥३४॥ सम्पूर्ण विश्व का निर्माता और सचेष्ट करने वाला शिव ही है, ऐसा जानकर मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है ॥३५॥ विश्व का वह स्वामी प्रभु ही कालरूप है, संसार का रक्षक और पालनकर्त्ता है, उस परमेश्वर को जानकर मनुष्य मृत्यु के पाश से मुक्त हो जाता है॥३६॥ घृत के परमाणु के तुल्य ईश्वर को सूक्ष्मतर जानकर, सभी प्राणियें के अन्तस् में विद्यमान समझकार मनुष्य सभी पाप से मुक्त हो जाता है ॥३७॥ यह परदेव विश्वकर्मा महेश्वर हैं, इनको हृदय में विद्यमान जानकर यह जीव अमृतत्व को प्राप्त करता है ॥३८॥ जब दिन-रात, सत्-असत् कुछ भी नहीं थे तब एकमात्र शिव ही थे, इससे सनातनी प्रज्ञा प्रकट होती है ॥३९॥ उर्ध्व, निम्न, तिर्यक्, कोई भी नहीं प्रापणीय है जो अनुपमेय है-उनके नाम का महानयश है ॥४०॥ अविवेक बुद्धि के कारण अनेक जन्मों से भयभीत मनुष्य, इस परमेश्वर को अजन्मा जानकर रक्षा के एकमात्र उपायस्वरूप रुद्र की शरण में जाते हैं। ब्रह्म में दो ही अक्षर हैं, वही रक्षा का उपाय है, विद्या और अविद्या में स्थित होकर वे अत्यन्त गूढ हो गये हैं ॥४२॥ अविद्या से संसार चक्र, विद्या से अमृतत्व कहा गया है- उन दोनों का ईशन्कर्त्ता कोई अन्य नहीं, महेश्वर ही है॥४३॥ वह एक ही बहुविध रूप से अनेक प्रपञ्चों की रचना करता है, सबको उत्पन्न करता है तथा सार्वभौम आधिपत्यपूर्ण सब कर शासन करता है ॥४४॥ ऊपर-नीचे और सम्पूर्ण दिशाओं में वही विराजमान है सबका कारण होने से वह एक ही सर्वश्रेष्ठ स्थित है ॥४५॥ स्वभाव रूप शब्द और अर्थों का परिणाम न करके गुणों के भोग्य और भोक्तृत्व में वह विश्वरूप अधिष्ठित है ॥४६॥ उस गुह्य उपनिषद् में गूढ़ परात्पर ब्रह्म तथा संसार को उत्पन्न करने वाले उस प्रथम देव को ऋषियों ने जाना था ॥४७॥ संसार का आश्रय तथा सृष्टि एंव संहार की कलावाला वह परमेश्वर भावपूर्वक जाना जाता है, उस शिव को जान

लेने वाला शरीर रूपी बन्धन को तोड़ देता है। वह एक ही 'स्वभाव' है, एक ही कलाकार है, उसे न जानकर सभी विमोहित हैं, उस जगत् देव की महिमा ने संसार को भ्रमित कर रखा है ।।४९।। काल के भी काल जिस परमेश्वर से नित्य जगत आवृत्त है, उनके द्वारा प्रेरित कर्म भूतों के साथ प्रकाशित होते हैं ।।५०।। वह विभिन्न कर्मों को करके फिर कलादि तत्त्व और सत्त्वगुण के आश्रित होकर योग को प्राप्त होकर ।।५१।। आकाशादि आठ मूर्ति, सत्वादि तीन गुण, विद्या-अविद्या अथवा एक काल या अपने गुणों से इस सम्पूर्ण विश्व को ।।५२।। गुणानुसार कर्मों का आरम्भ कर स्वभावानुसार प्रेरित कर कार्य करता है, उन कर्मों के अभाव में किये हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं ।।५३।। तात्विक रूप से कर्मों के क्षीण हो जाने पर पुनः जन्म-बन्धन नहीं होता, भोक्ता और भोग का यह आदि योग स्वयं के प्रति कहा हैं ।।५४।। वह परमेश्वर त्रिकालदर्शी, सबका ज्ञाता, गुणों का स्वामी, परे से भी परे साक्षात् ब्रह्म है ।।५५।। जो उस विश्वरूप, विश्वकर्त्ता, देवताओं के भी देवता जगत्पूज्य अपने चित्त में उपासना करते हैं।।५६।। कालादि से परे जिस परमेश्वर से यह प्रपञ्च प्रारम्भ होता है उस धर्मकर्मा, पापहारी, ऐश्वर्यों के ईश्वर, विश्वधाम हैं ।।५७।। ईश्वर के भी ईश्वर, परम महेश्वर, परम देवाधिदेव स्वामियों के भी स्वामी, भुवनेश्वर का भजन करते हैं ।।५८।। उन्हें जानने के लिए किसी कार्य और कारण की आवश्यकता नहीं है, संसार में उनसे अधिक अथवा उनके समान कोई नहीं दिखाई देता ।।५९।। उनकी स्वाभाविक पराशक्ति अनेक प्रकार की सुनी गयी है उसमें ज्ञान, बल और क्रिया निहित है उसी से सम्पूर्ण विश्व प्रकट हुआ है ।।६०।। उनका स्वामी कोई नहीं, उनके साक्षात् रूप को भी नहीं कहा जा सकता, कार्य और कारण भी उन्हीं से हैं वे उनके अधीश्वर हैं ।।६१।। उन्हें किसी ने उत्पन्न नहीं किया, वह सभी जीवों की अन्तरात्मा हैं उनका कभी जन्म भी नहीं हुआ, न तो उनके जन्म लेने का कोई हेतु ही है वे भक्त, माया आदि संज्ञा से आवृत्त भी नहीं ।।६२।। वह एक ही सभी प्राणियों में व्याप्त हैं, वह सभी जीवों की अन्तरात्मा हैं तथा वही धर्माध्यक्ष कहा जाता है ।।६३।। वही सब प्राणियों में निवास करने वाला, सबका साक्षी, चेतन तथा निर्गुण है, वह एक ही असंख्य योगियों को वश में करने में समर्थ हैं अथवा विश्वात्मा निष्क्रिय पुरुषों के वश में करने वाला है ।।६४।। देहधारियों में समयानुसार प्रजोत्पत्ति को हेतु बीज उत्पन्न करने वाला है, वह एक कामनारहित, काम का ईश्वर दूसरों को काम्यफल देता है। वह नित्यों

का नित्य, चेतनों में चेतन है ।।६५।। सांख्य-योग द्वारा जानने योग्य, कारणरूप संसार के स्वामी को जानकर देवता और पशु अपने कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते हैं ।।६६।। विश्व के कर्त्ता, विश्व के ज्ञाता; प्राणियों के कर्मबीज के ज्ञाता, काल के कर्त्ता, गुणीप्रधान और प्राणियों के स्वामी गुणेश, पाश से मुक्त करनेवाले जिसने पहले ब्रह्मा को बनाया और उसे वेदों का उपदेश किया उस को [उस देवता को] आत्मबुद्धि और उसके प्रसाद की प्रेरणा जानकर ।।६८।। मैं मोक्ष की कामना वाला, इस जगत से मुक्ति के लिए शिव की शरण को प्राप्त होता हूं, जो निष्कल, कर्म-रहित, शान्त, निरञ्जन और अनिद्य हैं ।।६९।। जो अमृत के अथाह सागर हैं, दुःख रूपी ईंधन की अग्नि हैं – जब मनुष्य अपने देह में चर्म के समान आकाश को लपेट लेगें ।।८०।। जब शिव के जाने बिना भले ही दुःख का अन्त सम्भव होता [अर्थात् उनके बिना दुःख निवृत्ति का कोई उपाय नहीं], तप के प्रभाव से तथा देव के प्रसाद से ऋषिगण ।।७१।। संन्यास आश्रम से पवित्र और पाप नष्ट करने वाले ज्ञान को ।।७२।। जो वेदान्त में अत्यन्त गुह्य और पूर्वकल्प में कहे गये हैं, यह मेरे भाग्य का गौरव है कि मैने ब्रह्मा के मुख से इसे सुना है ।।७३।।

अध्याय ३

शिव से काल स्वरूप शक्ति-कथन

ऋषियों ने प्रश्न किया :-

काल से ही वस्तु की उत्पत्ति और लय है, क्योंकि कार्य कभी निरपेक्ष नहीं रहता ॥१॥ जब यह सम्पूर्ण जगत् लीन हो जाता है, तब पुनः उत्पन्न होता है, उत्पत्ति और प्रलय, चक्र के समान चलते रहते हैं ॥२॥ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और अन्य देवता, जिसकी नियति का उलंघन करने में समर्थ नहीं हैं ॥४॥ जो भूत, भविष्य और वर्तमान रूप से काल का विभाग और प्रज्ञा को जराग्रस्त करके, अति प्रभुत्वशाली की तरह सर्वदा भयंकर रूपेण प्रवर्तमान रहता है ॥४॥ वह काल क्या है? किसके वश में रहता है? इसके वश में कौन नहीं हो सकता? वह सब कहने की कृपा करें।

वायु ने कहा

कला, काष्ठा, निमेष आदि कलाओं की वृद्धि यही काल के शरीर हैं, यही कालात्मा परम महेश्वर का तेज कहा गया है ॥६॥ जिसे कोई भी स्थावर या जंगम प्राणी उल्लंघन नहीं कर सकता, वह ईश्वर का नियोगरूप बल, जगत् की रक्षा करने वाला है ॥७॥ उसकी अंशमयी महाशक्ति कालात्मा रूप से प्रविष्ट हो गयी जैसे लोक में अग्नि प्रवेश करती है ॥८॥ उस काल के वश में विश्व है, उस विश्व के वश में काल नहीं है, शिव के वश में वह काल है किन्तु काल के वश में शिव नहीं है ॥९॥ अप्रतिहत रूप से जिस कारण शिव का तेज काल में निहित है, उस कारण महत् से परे काल की मर्यादा को कोई मिटा नहीं सकता ॥१०॥ अत्यन्त बुद्धिमानी करके भी कोई काल को अन्यथा करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि काल के कर्म को कभी भी अन्यथा नहीं किया जा सकता ॥११॥ अपने पराक्रम से इस पृथ्वी को वश में करके एकछत्र शासन

करने वाला भी काल की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता ।।१२।। जो इन्द्रियों को वश में करके सम्पूर्ण जगत को जीत लेते हैं वे भी काल पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते, किन्तु काल उन पर विजय प्राप्त कर लेता है ।।१३।। आयुर्वेद और रसायनशास्त्र के ज्ञाता और वैद्य भी काल को मिटाने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि काल दुरतिक्रम है ।।१४।। लक्ष्मी, रूप, शील, बल, कुल आदि से जीव कुछ और ही, सोचता है परन्तु काल का बल कुछ और ही करता है ।।१५।। अप्रिय, प्रिय तथा अचिन्तित वस्तुओं की प्राप्ति या अभाव तथा प्रणियों को संयोग या वियोग काल के ही कर्म हैं ।।१६।। जैसे कोई एक दुःखी होता है वैसे ही कोई अन्य सुखी होता है, इसी प्रकार काल का स्वभाव और गति जानने में कठिन है ।।१७।। युवा वृद्ध हो जाता है, बली निर्बल हो जाता है, लक्ष्मीपति कंगाल हो जाता है, इस प्रकार काल की गति विचित्र ही है ।।१८।। जाति, शील, बल, चतुरार्क, कार्य के लिए पूर्ण नहीं होती इसका प्रतिरोधक काल ही है ।।१९-२०।। काल के बिना प्राणी का जन्म-मरण आदि सम्भव नहीं है, सुख-दुःख की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है, अकाल की कोई वस्तु समान नहीं होती ।२२।। काल से समीर बहता है मेघ वर्षा करते है, ऊष्णता शांत होती है और सभी कार्य सफल होते हैं ।।२३।। काल से सबकी उत्पत्ति का कारण है इसी से सभी लोक ज़ीवित है।।२४।। इस प्रकार जो कालात्मक परमेश्वर के तत्त्व को जानता है वह कालात्म का अतिक्रमण करता हुआ निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होता है ।।२५।। जिसे न काल का बन्धन है, न मुक्ति है, जो पुरुष प्रकृति, विश्वरूप तथा विचित्ररूप है उस परमात्मा पुरुष शिव के लिए नमस्कार है ।।२६।।

अध्याय ४

शिव-क्रीड़ा द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक प्रश्न

ऋषियों ने प्रश्न किया

इस विश्व को परमेश्वर किस प्रकार निर्मित तथा स्थित कर अपनी शक्ति के सहित क्रीड़ा करते हैं? यह विश्व प्रथम किस प्रकार उत्पन्न हुआ? कैसे विस्तार को प्राप्त हुआ और अन्त में यह किसकी महाकोख में प्रविष्ट हो जाता है? ।।१-२।।

वायु ने कहा -

पहले शान्त्यातीत पद से शक्ति उत्पन्न हुई फिर भगवान शिव की माया के द्वारा अव्यक्त प्रकृति की उत्पत्ति हुई ।।३।। प्रथम उत्पन्न शक्ति से शान्त्यातीत पद है फिर शान्तिपद और उसके बाद विद्या पद तथा प्रतिष्ठापद क्रमशः हुए।।४।। क्रम से प्रतिष्ठापद के बाद निवृत्ति पद है, ईश्वर की प्रेरणा से हुई सृष्टि का यह संक्षिप्त वर्णन है।।५।। जिस क्रम से इनकी उत्पत्ति होती है उसके प्रतिलोम से ही संहार होता है, पाँच पदों का उपदेश सृष्टि से अन्तर की अपेक्षा नहीं करता ।।६।। यह विश्व जिस कारण से पाँच कलाओं से व्याप्त है, इसमें जो अव्यक्त कारण है वह आत्मा में अधिष्ठित है, महत् से विशेष पर्यन्त उत्पत्ति होती है परन्तु उसमें अव्यक्त और प्राणी का कर्तृत्व नहीं है ।।७-८।। प्रकृति के जड़ होने और जीव के अज्ञानी होने से प्रधान परमांणु आदि जो कुछ भी अचैतन्य है।।९।। उसका कर्त्तापन विद्वानों ने ही ने बिना कारण के ही स्वयं देखा है यह संसार कर्तृ-सापेक्ष है, क्योंकि कार्य सावयव है ।।१०।। इस कारण जो सर्व, स्वतन्त्र, समर्थ, सशक्त और सर्वज्ञ है वह अनादि-अनन्त और महान् ऐश्वर्यशाली है।।११।। वही संसार का कर्ता महादेव महेश्वर है वह पालनकर्ता, संहार-कर्ता और पृथक है।।१२।। वही महदादि का परिणाम-कर्ता है, पुरुषों में प्रवृत्ति है, सार्वभौम सत्य

सर्ववृत के शासन से सबकी प्रवृत्ति है।।१३।। यही शाश्वत निष्ठा है, सत्यपुरुषों का हार्दिक निश्चय भी यही है, अल्पबुद्धि वाला उस पक्ष को ग्रहण करने में कभी भी समर्थ नहीं होता।।१४।। जब तक कार्यारम्भ हो और जब तक महान प्रलय काल उपस्थित हो, तब तक ब्रह्मा के सौ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं ।।१५।। अव्यक्त जन्मा ब्रह्मा की आयु का यही क्रम है उसकी आयु के प्रथम अर्ध भाग को परार्ध कहते हैं ।।१६।। जब दो परार्ध व्यतीत हो जाते हैं तब ब्रह्मा की आयु समाप्त हो जाती है, तब अव्यक्त आत्मा कार्य को लेकर आत्मा में स्थित हो जाता है ।।१७।। यह सम्पूर्ण शिव आत्मा में स्थित होकर विकारयुक्त संहृत होता है, इस समय प्रधान और पुरुष साधर्म से युक्त होते हैं ।।१८।। तमोगुण और सत्वगुण समानरूप में स्थित होते हैं, वे सब ओर से परस्पर पिरोये हुए के समान ही रहते हैं ।।१९।। गुणों की साम्यता से तमोदय होने के कारण इनका विभाग सम्भव नहीं है, उस समय वह वायु के द्वारा शान्त् होकर निश्चल जल के समान जानने में नहीं आते ।।२०।। उस विश्व की अप्रज्ञात दशा में उस माहेश्वरी रात्रि में वह एक ही महेश्वर स्थित रहते हैं ।।२१।। प्रभात होने पर वह महेश्वर प्रधान और पुरुष दोनों के भीतर योगबल से प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित करते हैं।।२२।। फिर सम्पूर्ण भूतों की सृष्टि के निमित्त परमेश्वर की आज्ञा से उस अव्यक्त के द्वारा सृष्टि होती है ।।२३।। जिसकी माया शक्ति के एकीखण्ड से ही उत्तरोत्तर विचित्र सृष्टि अद्भुत मनोरथों सहित समाप्त होती है उस परमेश्वर को अध्वपति कहा जाता है। सब प्राणियों से विलक्षण उस परमेश्वर को नमस्कार है ।।२४।।

अध्याय ५

समस्त ब्रह्माण्ड का स्वरूप वर्णन

वायु ने कहा :-

ईश्वराज्ञा से पुरुष से अधिष्ठित अव्यक्त बुद्धि को लेकर विशेष तक क्रमपूर्वक पहले विकारों की उत्पत्ति हुई।।१।। उन विकारों से रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा, यह तीन जगत् के कारणरूप देवता उत्पन्न हुए ।।२।। सम्पूर्ण भुवन में व्याप्त अनवरुद्ध अव्याहत शक्ति हुई उनका अप्रतिहत ज्ञान अणिमादि सिद्धियों के सहित हुआ ।।३।। इन तीनों के कर्म उत्पत्ति, पालन और संहार हुए, इनके प्रभुत्व से महेश्वर प्रसन्न होते है।।४।। परमेश्वर ने कल्पान्तरों में बुद्धि और मोह की स्पर्धा को उत्पत्ति, रक्षा और संहार के हेतु प्रदान किंए।।५।। ये परस्पर उत्पन्न होकर परस्पर ही सशक्त होते हैं तथा परस्पर ही स्थित होते हुए अपनी शक्ति की परस्पर वृद्धि करते हैं।।६।। कहीं ब्रह्मा की प्रशंसा होती है, कहीं विष्णु की और कहीं रुद्र की इससे उनके ऐश्वर्य में कहीं आधिक्य अथवा न्यूनता नहीं आती।।७।। जो मूर्ख यह पर है, यह न्यून अथवा श्रेष्ठ है-ऐसा कहते हैं वे अवश्य ही राक्षस अथवा पिशाच बनते हैं।।८।। त्रिगुणातीत चतुर्व्यूह रूप महेश्वर हैं वह सबके आधार रूप शक्ति के उत्पन्नकर्त्ता हैं।।९।। इन ब्रह्मादि त्रिदेवों का तथा प्रकृति का आत्मा वही है तथा संसार की रचना करके अपने ही ऐश्वर्य में स्थित हो रहा है।।१०।। जो परमेश्वर सबसे परे कलारहित है, वही सर्वाधार सर्वात्मा और सबमें अधिष्ठित है।।११।। इस कारण महेश्वर, प्रकृति, पुरुष, शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि सभी शिवात्मा हैं।।१२।। प्रधान से पूर्व बुद्धि ख्याति और मति की उत्पत्ति हुई तथा महत्तत्व के क्षोभ से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ।।१३।। अहंकार से पञ्चभूत और तन्मात्रा हुई तथा उस अहंकार के विकारी होने के कारण सत्त्वगुण से सत्व हुआ ।।१४।। वह वैकारिक युगपत् रूपेण सर्ग समान ही प्रवृत्त होता है बुद्धि आदि पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवां मन, सत्व-रज युक्त होने से

उभयात्मक हुआ। तमोयुक्त अहंकार से भूतादि तन्मात्रा उत्पन्न हुई।।१५-१६।। आदि भूत होने से उसे भूतों का आदि कहते हैं, भूतादि अहंकार से शब्दतन्मात्रा होती है तथा उससे आकाश की उत्पत्ति कही है।।१७।। आकाश से स्पर्श, स्पर्श से वायु, वायु से रूप, रूप से तेज तथा तेज से रस हुआ ।।१८।। रस से जल, जल से गन्ध और गन्ध से पृथ्वी हुई तथा इन्हीं पञ्चमहाभूतों से यह चराचर सृष्टि हुई।।१९।। पुरुष के अधिष्ठान तथा अव्यक्त के अनुग्रह से, महत् से विशेष तक यह सब अण्ड को उत्पन्न करते हैं, जब ब्रह्म के कार्य-कारण की सिद्धि हुई तब इस अण्ड में ब्रह्मा संज्ञा वाले क्षेत्र की वृद्धि हुई।।२०-२१।। यही प्रथम शरीरी की उत्पत्ति हुई, उसी को पुरुष कहते हैं, वही सर्वप्रथम उत्पन्न प्राणियों के आदिकर्ता ब्रह्मा है।।२२।। उस सृष्टिकर्ता के अभिमान से ब्रह्मा की उपमारहित, ज्ञान, वैराग्य संयुक्त ब्रह्म सम्बन्धी धर्म और ऐश्वर्यकारी बुद्धि उत्पन्न हुई।।२३।। इसके मन की सम्पूर्ण इच्छा अव्यक्त से उत्पन्न होती है वह तीनों गुणों को अपने वश में किये हुए है, वे गुण उसकी अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि वह स्वभाव से ही सापेक्ष है।।२४।। वह अपनी आत्मा का तीन प्रकार विभाजन करके तीनों लोकों में प्रवृत्त होता है तथा उन्हीं तीन गुणों के द्वारा उत्पत्ति, पालन और विनाश करता है।।२५।। सृष्टि कर्म में चतुर्मुख ब्रह्मा अन्त में कालत्व तक अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता हुआ रुद्र, विष्णु तीनों अवस्थाओं में स्वयंभू है।।२६।। ब्रह्मत्व में सत्वगुण और रजोगुण कालत्व में तमस् और रजस् विष्णुत्व में केवल सत्त्व गुण-तीनों भेद वाली गुणवृद्धि कही गयी है।।२७।। ब्रह्मत्व में सृष्टि, कालत्व में संहार, पुरुषत्व में देखने से ही पालन कार्य की सिद्धि हो जाती है।।२८।। इस प्रकार तीन रूपों में विभक्त होने के कारण वह त्रिगुणात्मक कहा गया है तथा चार प्रकार से विभक्त होने पर उसे चतुर्व्यूह कहते हैं।।२९।। आदि होने के कारण उसे आदि कहा गया, जन्म न होने के कारण उसे अज कहा गया, प्रजा की रक्षा करने वाला होने के कारण उसे प्रजापति कहा गया।।३०।। उसका गर्भाशय सुवर्णमय सुमेरु है, गर्भ का जल समुद्र और जरायु पर्वत है।।३१।। इस खण्ड में यह सम्पूर्ण लोक अन्तर्निहित है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह और वायु भी इसी में स्थित है।।३२।। यह बाहर दस गुणा जल से व्याप्त है और जल से दस गुणा तेज से व्याप्त है, तेज से दस गुणा वायु से आवृत्त है।।३३।। आकाश से वायु तथा आकाश से ही पंचभूत वेष्टित है।।३४।। भूतादि महत् से, और महत् प्रकृति से व्याप्त है इस प्रकार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकृति के सप्तावरणों से व्याप्त हो रहा है।।३५।। यह आठों प्रकार की प्रकृति परस्पर सापेक्ष है, इन्हीं के द्वारा सृष्टि,

स्थिति और संहार होता है ।।३६।। परस्पर उत्पन्न होकर विश्व को यह परस्पर धारण करती है, आधार और आधेय के भाव से विकारियों के विकार कछुए के शरीर के सदृश फैलाते और संकुचित करते हैं, यही व्यक्त सब विकारों को प्रकट करता है और नष्ट कर देता है।।३८।। यह सम्पूर्ण विश्व पूर्वोक्त क्रम से उत्पन्न होता हुआ अव्यक्त से प्रकट होता है तथा प्रलय उपस्थित होने पर प्रतिलोम क्रम से लीन हो जाता है। ३९ । काल के वश में ही विषम और गुणों कीं उत्पत्ति होती है, गुणों की विषमता में सृष्टि-रचना तथा साम्य में लय होता है।।४०।। पितामह ब्रह्मा का कारण यही अण्ड है ब्रह्म का क्षेत्र होने से ब्रह्मा क्षेत्रज्ञ कहा गया है।।४१।। इस प्रकार के अण्ड करोड़ों सहस्र हैं, सर्वगत होने से यह ऊपर, नीचे और तिरछे स्थित है।।४२।। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव भी उन्हीं स्थानों में स्थित हैं, प्रधान द्वारा प्रकट होकर शिव प्राप्त हुए विश्व की रचना करते है।।४३।। परमेश्वर व्यक्त से परे है, उसी व्यक्त से अव्यक्त संज्ञा वाला अण्ड हुआ, अण्ड से ब्रह्मा हुए जिन्होंने सब लोकों का निर्माण किया।।४४।। जीवों के आवरण और विक्षेप पूर्वक मैंने यह प्रथम सर्ग कहा, अन्त काल में आत्यन्तिक प्रलय होती है यह सब परमेश्वर की लीला ही समझें।।४५।। अप्रमेय कारणभूत ब्रह्मा, कारण भूत प्रकृति से प्रादुर्भूत हुआ है, वह आदिहीन, मध्यहीन और अन्तहीन, वीर्यवान् लाल-श्वेत वर्ण वाले पुरुष से युक्त है।।४६।। रज की वृद्धि सन्तति की वृद्धि के हेतु हैं, वे सृष्टि के आदि में आठ विकारों को उत्पन्न करते और अन्त में उनको ग्रस लेते है।।४७।। प्रकृति-जन्य कारणों की स्थिति और प्रवृत्ति जहाँ तक है, वह अप्राकृत महेश्वर के ऐश्वर्यज्ञान से है, उनके संकल्पमात्र से यह उत्पन्न होता है ।।४८।।

अध्याय ६

मोक्ष-साधन में शिव-ज्ञान की प्रधानता

ऋषियों ने कहा

हे वायु! जिस अनुष्ठान से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष मिले, वह कौन सा है? आप हमारे प्रति उसके साधन कहें।।१।।

वायु ने कहा -

श्रेष्ठ अनुष्ठान शिव की उपासना ही है, वही परम धर्म है, उसी से मोक्षदायक शिव अपरोक्ष होते हैं।।२।। यह पाँच खण्ड वाला होने से पाँच प्रकार का है, जप, तप, ध्यान और ज्ञानमय आत्मा से विचार करना।।३।। उन श्रेष्ठ धर्मान्तरों सहित सिद्ध हुआ धर्म परम-तप कहा जाता है, उसी से परोक्ष और अपरोक्ष मुक्ति को देने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है।।४।। वेद में परम और अपरम दोनों ही धर्म कहे गये हैं और वेद ही धर्म के विषय में प्रमाण है।।५।। पाशुपत-योग तक परम धर्म उपनिषद् भाग में और योगादि अपरम धर्म श्रुति के मुखादि में स्थित है।।६।। परम धर्म में माया पाश से मुक्त आत्माओं का अधिकार है तथा योगादि साधारण धर्म में सभी का अधिकार है।।७।। अपर धर्म ही परम धर्म का साधन है, धर्म शास्त्रों में यह अङ्गों सहित पुष्ट हुआ।।८।। उसमें शिव-धर्म आद्य है, उसी को श्रेष्ठ अनुष्ठान कहा गया है, उसका इतिहास और पुराणों में भी वर्णन मिलता है।।९।। शैव शास्त्रों में इसका सांगोपांग वर्णन है, शिव-दीक्षा के सभी संस्कार इसमें कहे गये हैं।।१०।। शैव शास्त्र श्रुति और स्मृति भेद से दो प्रकार है, वेद शास्त्र वाल स्रोत और दूसरा स्वतन्त्र कहा गया है।।११।। स्वतन्त्र पहले १० प्रकार का तथा फिर १८ प्रकार का हुआ, कामिक आदि नाम से लेकर सिद्ध तक यह सिद्धान्त रक्षक है।।१२।। श्रुतिसार युक्त का विस्तार सौ करोड़ का है उसमें पाशुपत व्रत को परमज्ञान कहते हैं।।१३।। भगवान् शिव युग-युग में योगाचार्य का अवतार

लेकर शिष्यों को जो उपदेश देते है।।१४।। उसी को संक्षिप्त रूप से रुद्र, दधिचि, अगस्त्य और उपमन्यु ने कहा है।।१५।। उनका पाशुपतों ने संहिताओं में प्रर्वतित किया, उस पशुपति की सन्ततिरूप में सहस्रों गुरुजन हुए।।१६।। उन्होंने चार प्रकार का परमधर्म कहा है, जिसमें पाशुपतयोग भगवान् शिव के साक्षात् करने में श्रेष्ठ है।।१७।। इस प्रकार पाशुपत योग ही उत्कृष्ट अनुष्ठान है जो उसका विधान कहा है वह कहता हूँ।।१८।। यह अष्टाङ्गयोग शिव के द्वारा ही कल्पित है उस योग से शैवी बुद्धि शीघ्र उत्पन्न होती है।।१९।। उस बुद्धि के प्राप्त होने पर परमज्ञान की शीघ्र प्राप्ति होती है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले पर शिव शीघ्र प्रसन्न होते हैं।।२०।। उन्हीं के प्रसाद से परमयोग प्राप्त होता है और साक्षात् शिव के प्रकट होने से संसार में उत्पत्ति का कारण नष्ट हो जाता है।।२१।। तब वह संसार से मुक्त होकर शिव के ही समान हो जाता है, ब्रह्मा द्वारा कहा गया उपाय अलग-अलग कहा गया है।।२२।। उसका नाम शिव, महेश्वर, रुद्र, ब्रह्मा, पितामह, सर्वज्ञ, संसार भिषक् और परमात्मा है।।२३।। यह आठों नाम शिव के नित्य प्रतिपादक हैं-प्रारम्भ के पाँच तथा शान्त्यतोपदे शैवाः से लेकर तीन।।२४।। वे पाँच, उपाधि परिग्रहण से शिवादि संज्ञक है, उपाधि दूर होने से भेद भी नहीं रहता।।२५।। वह पद नित्य है तथा पद वाले अनित्य हैं पदों की परिवृत्ति उस पद वाले उस मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।२६।। परिवृत्ति के अन्तर में उपाधि से पुनः पद प्राप्ति होती है, आदि के पाँच नाम आत्मान्तर वाले हैं।।२७।। अन्य तीन नाम माया के अवलम्ब के कारण होते हैं। इस तीन प्रकार की उपाधि से शिव का ही ग्रहण होता है।।२८।। अनादि मल के संश्लिष्ट होने से प्रागभाव और स्वभाव के सम्बन्ध वाले परम परिशुद्धात्मा शिव ही कहे गये हैं।।२९।। अथवा सम्पूर्ण कल्याण व गुण के एकमात्र धन ईश्वर को ही शिव-तत्व वेज्ञाओं ने शिव कहा है।।३०।। प्रकृति तेइस तत्वों से परे है तथा प्रकृति से भी परे वह पच्चीसवां पुरुष कहा गया है।।३१।। जिसे वाच्य-वाचक भाव से वेदारम्भ में प्रणव कहा गया है और जो वेदों और उपनिषदों में अधिष्ठित है वही प्रकृति में लीन होकर भोगार्थ प्रतिष्ठित हुआ है।।३२।। प्रकृति में लीन हुये से परे महेश्वर हैं, प्रवृत्ति तथा प्रकृति-पुरुष का वश में होना भी उसी के अधीन है।।३३।। अथवा त्रिगुण तत्व उस अविनाशी की माया है, माया ही प्रकृति है तथा मायात्मक महेश्वर है।।३४।। वह अनन्त माया को विक्षुब्ध करने वाला है, जो महेश्वर से समन्वित है तथा वह कालात्मा परमात्मा स्थूल और सूक्ष्म कहा जाता है।।३५।। रुद्र दुःख और दुःख

के कारण के नष्टकर्ता होने से रुद्र कहे जाते हैं सत्पुरुषों का कहना है कि परम कारण शिव वही है।।३६।। शिव-तत्त्व से पृथ्वी-पर्यन्त देहादि और घटादि को व्याप्त करके अधिष्ठित होने के कारण शिव को रुद्र कहा गया है।।३७।। सूर्यात्मक शिव के पितृभूत शिव सबके पितृभाव में होने के कारण पितामह कहे गये है।।३८।। जैसे निदान को ज्ञाता वैद्य अनेक औषधियुक्त उपाय से रोग को दूर करने वाला है, उसी प्रकार प्रकृति के कर्म ज्ञान रूप उपायों से मुमुक्षुओं और कामिकों को क्रमपूर्वक लय मोक्ष या भोग के अनुसार उन्हें प्रवृत्त करता है।।३९।। इस प्रकार संसार के मूल को मिलने वाला ईश्वर है तथा जगत्पति होने से सभी तत्वज्ञाता उसे संसारवैद्य कहते हैं।।४०।। शब्दादि विषयों के ज्ञान की सिद्धि के लिए ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से तीनों काल में होने वाले स्थूल और सूक्ष्म भावों को।।४१।। माया के मल से आवृत्त होने के कारण जीव तत्व को प्राणी नहीं जानते और सभी विषयों के ज्ञान के हेतु में असत्य को देखते हैं।।४२।। जो वस्तु जिस प्रकार है उसे बिना यत्न के शिव उसी प्रकार जानते हैं, इसलिए उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं।।४३।। इन परमगुणों से वह सर्वात्मा सदा सम्पन्न रहता है, अपने से परे आत्माओं के विरह से वह परमात्मा है।।४४।। आचार्य गुरु की कृपा से इन आठ नामों को अर्थ सहित पाकर आदि पाँच नामों से कला ग्रन्थियों का।।४५।। यथाक्रम छेदन करे [निवृत्ति हेतु] और अपने अधिष्ठान क्रम से नामों का आर्वतन करे, उद्धात कर्म करे।।४६।। इससे हृदय कण्ठ, तालभ्रू के मध्य, ब्रह्मरन्ध्र से युक्त कलाग्रन्थि रूप [कर्म], प्राणवायु और अविद्या के आकारों का भेदन कर मध्य नाड़ी सुषुम्ना से।।४७।। द्वादश दल वाले हृदय-कमल में स्थित चन्द्रमा के ऊपर शिव प्रभाव में अपने आत्मा को ले जाय और इस कारण में यथायोग्य लय होने से।।४८।। शक्ति की अमृतधारा से सीधे तथा अपने शरीर में स्थित आत्मा को हृदय में अवतरित [उतारे] करे।।४९।। और द्वादशदल हृदय कमल में चन्द्र के ऊपर भक्त वत्सल भगवान् शङ्कर के दर्शन करे।।५०।।

वायु-संहिता [उत्तर भाग]

अध्याय १

पाशुपत-ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता

ऋषियों ने कहा -

वह पाशुपत ज्ञान क्या है? शिव पशुपति क्यों कहे जाते हैं? धौम्य के अग्रज [उपमन्यु] से श्रीकृष्ण ने किस प्रकार प्रश्न किया था?।।१।। हे वायु! आप शङ्कर के शरीर हैं। आप यह सब कहने की कृपा करें, आप के समान त्रैलोक में कोई वक्ता नहीं है।।२।।

सूत जी ने कहा–

उन महर्षियों के इस प्रकार वचन सुनकर ईशान शिव का स्मरण कर पवन देव कहने लगे।।८।।

पवन ने कहा -

सर्वप्रथम महेश्वर ने देवों से मंदराचल पर पाशुपत ज्ञान का वर्णन किया था।।४।। वहीं वृत्तान्त विश्वयोनि श्रीकृष्ण ने पूछा था कि देवता आदि को पशुत्व की प्राप्ति किस प्रकार हुई और शिव जी को उनका पतित्व किस प्रकार प्राप्त हुआ।।५।। जैसे उपमन्यु को श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया था, वह मैं तुम्हे संक्षिप्त रूपेण सुनाता हूँ, तुम ध्यान से श्रवण करो।।६।। एक समय की बात है बैठे हुए उपमन्यु के पास कृष्ण रूपी भगवान् विष्णु ने इस प्रकार कहा– हे भगवान्–शङ्कर ने पार्वती को जो द्वित्य पाशुपत ज्ञान और उसकी सब विभूतियाँ बतायी थी मैं

उसे सुनना चाहता हूँ॥८॥ वे पशुपति देव किस प्रकार से हैं? पशु कौन है? किन पाशों में उसका बन्धन होता है तथा वे किस प्रकार बन्धन मुक्त होते हैं?॥९॥ इस प्रकार के वचन सुनकर उपमन्यु शिव-शिवा को प्रणाम कर प्रसन्नता से कहने लगे॥१०॥

"ब्रह्मा से लेकर स्थावर आदि सभी देव-अदेव शूली हैं, वे संसारवर्ती पशु नाम से अभिहित किये जाते हैं॥११॥ उन पशुओं के स्वामी होने से देवेश शिव पशुपति कहे जाते हैं, मल और माया आदि के पाशों से वह पशुपति उनका बन्धन करते हैं॥१२॥ सम्यक् भक्ति से [उपासना] से वही पशुपति उससे भक्तों को मुक्त करता है, वे माया के गुण और कर्म चौबीस तत्व के हैं॥१३॥ इन्हें विषय कहा गया है, इन्हीं से जीव बंधा हुआ है, ब्रह्म से स्तम्ब पर्यन्त पशुओं के बन्धनकार महेश्वर ही हैं॥१४॥ वे स्वामीदेव इन पाशों में बाँधकर अपना [संसार का] कार्य कराते हैं, महेश्वर की ही आज्ञा से पुरुषोचित॥१५॥ बुद्धि को उत्पन्न करती है, उससे अहंकार, दश इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्राएं उत्पन्न करती हैं॥१६॥ महान् शासक कल्याण दाता शिव की आज्ञा से तन्मात्रा भी उसी के द्वारा उत्पन्न होती है॥१७॥ तथा महाभूतों की उत्पत्ति भी यथाक्रम होती है, ब्रह्मा से तृण तक सभी शरीरी शरीरधारी हैं॥१८॥ शिवाज्ञा से ये महाभूत सभी को उत्पन्न करते हैं इसलिए निश्चयात्मिका बुद्धि को अहंकार कहा गया है॥१९॥ वह चित्त को चैतन्य करके मन को संकल्पवान् करती हुई श्रोता और शब्दादि को पृथक्-पृथक ग्रहण करती है॥२०॥ शिवाज्ञा से अपने ही दिव्य ज्ञान के बल से वाणी आदि सभी इन्द्रियां कर्मेन्द्रियां होती हैं॥२१॥ शिवाज्ञा से ही सब अपने-अपने कर्म को ग्रहण करते हैं शब्द आदि का भी ग्रहण और वचनादि का क्रियान्वयन भी उनकी आज्ञा से विरुद्ध नहीं होता॥२२॥ उस शिव की आज्ञा का उल्लंघन करने में कोई भी समर्थ नहीं है वे सबसे अधिक शक्तिवान् तथा सभी प्राणियों को अवकाश देने वाले हैं॥२३॥ परमेश्वर के शासन से ही आकाश सर्वगामी है, प्राणादि से तथा नाम भेद से बाह्यान्तर विश्व को उस सर्व शिवाज्ञा से ही वायु धारण करता है तथा देवताओं के हव्य और पितरों का वहन करने वाला॥२४-२५॥ और पाकादि का कर्ता अग्नि भी उन्हीं की आज्ञा से बर्तता है तथ जल भी उन्हीं की आज्ञा से

नित्य प्राणियों को धारण करता है तथा देवताओं की रक्षा, असुरों का संहार और त्रैलोक्य का पालन होता है।।२७।। उन्हीं की अनुल्लंघनीय आज्ञा से इन्द्र देवताओं का तथा वरुण जलों का स्वामित्व प्राप्त करते हैं।।२८।। बन्धन योग्य प्राणियों को पाश में बांधकर तथा दण्डनीय को दण्ड देकर इन्द्र और कुबेर द्वारा धन प्रदान करते हैं।।२९।। उस परम पुरुष की ही आज्ञा से सबको पुण्यानुरूप फल, ऐश्वर्य और ज्ञान भी मिलता है।।३०।। शिवाज्ञा से ईशान देव असाधुओं का निग्रह करते हैं और शेषनाग पृथ्वी को धारण करते हैं।।३१।। जिस ईश्वर की अन्तकरी तामसी रौद्री मूर्ति के शासन में ब्रह्मा सम्पूर्ण विश्व की रचना करते हैं।।३२।। वे अपनी त्रिमूर्ति से रक्षा, रचना और विनाश करते हैं।।३३।। अपने शरीर से ही विश्व का सृजन करके तथा शासन के अन्त में सम्पूर्ण विश्व का जो हरण कर लेते हैं।।३४।। इन तीनों कार्यों से अभिन्न वह विश्वात्मा रचना करके, सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा करते हैं, यह सब काल करता है और काल ही संहार कर देता है।।३५।। काल के शासन से काल ही विश्व का पालन करता, काल ही ग्रहण करता और तीनों अंशों से विश्व को धारण कर तेज से वर्षा करता है।।३६।। सूर्यरूप होकर वह शिवाज्ञा मानता और सब औषधियों को पुष्ट कर प्राणियों को प्रसन्न करता है।।३७।। शिवाज्ञा से यह चन्द्रमा देवताओं द्वारा पान किया जाता तथा आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विनी कुमार और मरुद्गण।।३८।। खेचर, ऋषि, सिद्धनाम, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि स्थावर जीव।।३९।। नदी, समुद्र, वन, पर्वत, सरोवर, अङ्गों सहित वेदशास्त्र, मन्त्र और स्तोम यज्ञ।।४०।। तथा कालाग्नि से शिव पर्यन्त अधिपतियों सहित भुवन, असंख्य ब्रह्माण्ड तथा उनके आवरण। ।।४१।। भूत, भविष्य, वर्तमान, दिशा, विदिशा, तथा काल के भेद और कला आदि।।४२।। इस विश्व में जो कुछ भी देखा सुना जाता है सब शिवाज्ञा के प्रभाव से ही स्थित है।।४३।। यह पृथ्वी भी उन्हीं की आज्ञावश स्थित है, पर्वत, मेघ, समुद्र ज्योतिर्गण, इन्द्रादि देवता तथा चराचर जगत् उन्हीं की आज्ञा के वशवर्ती है।।४४।।

उपमन्यु ने कहा–

भगवान् शिव का चरित्र अत्यन्त आश्चर्यप्रद हैं। उनके मित-अमित कार्यो को वेदादि के द्वारा मैंने सुना, वह तुम श्रवण करो।।४५।। इन्द्र के सहित देवगण ने दैत्यों को जीतकर परस्पर विवाद किया कि हमने विजय प्राप्त की।।४६।। तब

उनके मध्य अत्युत्तम यज्ञराज विषधारी महेश्वर बोले उन्होंने पृथ्वी पर एक तिनका रखकर कहा-जो इस तिनके को चलायमान कर दे उसी ने दैत्यों को जीता।।४८।। यज्ञ की बात सुनकर शचीपति, वज्रपाणि, इन्द्र कुछ हँसे और उस तिनके को उठाने की चेष्टा करने लगे।।४९।। परन्तु, वे मन से भी उसे उठाने में समर्थ नहीं हुये तो उसे काटने के लिए इन्द्र ने वज्र मारा।।५०।। परन्तु वह तिनके से तिरस्कृत होकर उसके तेज को सहन न कर सका और पृथ्वी पर जा गिरा।।५१।। उसी प्रकार अन्य महाबली लोकपालों ने भी अपने-अपने हजारों आयुध उस तिनके पर चलाये।।५२।। उस समय भीषण अग्नि जल उठी, भयंकर पवन चलने लगी और प्रलयकाल उपस्थित होने के समान समुद्र उमड़ पड़ा ।।५२।। इस प्रकार तिनके पर किया गया देवताओं का सारा पराक्रम निरर्थक हो गया।।५४।। तब इन्द्र ने सहन शीलता त्यागकर यक्षराज से पूछा-आप कौन हैं? उसी समय यक्षराज अन्तर्हित हो गये। तभी दिव्याभूषण धारण किये अत्यन्त शोभावाली स्वर्णमयी हेमवती मन्द मन्द मुस्कराती हुई आकाश में प्रकट हुई।।५६।। उसे देख इन्द्रादि देवताओं को आश्चर्य हुआ और वे उस देवी को प्रणाम कर प्रश्न करने लगे-वह यक्ष कौन था?।।५७।। सस्मित देवी ने उत्तर दिया कि यह तुमसे अगोचर है, यह जो संसार रूपी चक्र चराचर से सम्पन्न होकर घूमता है।।५८।। इसकी रचना तथा अन्त में संहार वही करता है, उसके लिए कोई नियम नहीं है-परन्तु वह सभी का नियामक है।।५९।। इतना कहकर वह महादेवी [शिवा] वहीं अन्तर्हित हो गयी और आश्चर्यचकित देवगण उसे प्रणाम कर स्वर्गलोक चले गये।।६०।।

अध्याय २

समस्त जगत शिवमय है

उपमन्यु ने कहा -

हे कृष्ण उन महेश्वर शिव की मूर्ति यह चराचर विश्व, जिस प्रकार व्याप्त हो रहा है वह सुनो।।१।। यह शिव की अपनी मूर्तियों से अधिष्ठित होकर जो कुछ भी है उसका जानने वाला है।।२।। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शिव, यह सब उसी की मूर्ति हैं उन्हीं से सम्पूर्ण विश्व विस्तार को प्राप्त है।।३।। अथवा अन्य पञ्चब्रह्म मूर्ति से सम्पूर्ण जगत् का विस्तार प्राप्त है।।४।। ईशान, पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात, यह उनकी पञ्चमूर्ति विश्वविख्यात है।।५।। उनकी ईशान नाम मूर्ति प्रकृति की भोक्ता होकर साक्षात् क्षेत्र में स्थित है।।६।। सत्पुरुष नामक स्थाणु की मूर्ति गुणाश्रय होकर भोगती है वह अव्यक्त में स्थित है।।७।। अघोरमूर्ति शिव के बुद्धित्व में पूजित है तथा धर्मादि अष्टरांग से युक्त होकर स्थित है।।८।। विधाता या वामदेव नामक शिव मूर्ति को शास्त्रज्ञजन अहंकार में स्थित रहने वाली कहते हैं।।९।। सद्योजात मूर्ति को ज्ञानीजन मन में स्थित होने वाली बताते हैं।।१०।। श्रोत, वाणी, शब्द, आकाश की विभु तथा सबकी ईश्वर मूर्ति को ज्ञानियों ने ''ईशान'' कहा है।।११।। त्वचा, हाथ, स्पर्श और वायु की अधीश्वरी मूर्ति को पुराणतत्त्ववेत्ता ''पुरुष'' कहते हैं।।१२।। चक्षु, चरण और अग्नि की अधीश्वरी मूर्ति को विद्वानों ने अघोर कहा है।।१३।। रसना, वायु, रस, और जल की अधीश्वरी मूर्ति को उसके ज्ञाताओं ने वामदेव कहां है।।१४।। घ्राण, उपस्थ, गन्ध और पृथ्वी की अधीश्वरी मूर्ति 'सद्योजात' नाम वाली कही गयी।।१५।। देवाधिदेव की यह पाँचों मूर्ति का यत्नपूर्वक कथन मंगल की कामना वाले पुरुषों को सदा मंगल प्रदान करने वाली है।।१६।। उन देवाधिदेव की अष्टमूर्ति मय यह संसार है, जैसे धागे में मणि पिरोयी रहती है।।१७।। उनकी आठ मूर्तियां-शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान और महादेव है।।१८।। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, व्योम, क्षेत्रज्ञ, अर्क और चन्द्रमा

महेश की आठों मूर्तियों में कल्पित हैं।।१९।। चराचरात्मक-विश्व को यह पृथ्वी धारण करती है, शास्त्र का निर्णय है कि यह शिवात्मक मूर्ति है।।२०।। इस सम्पूर्ण विश्व का जीवन जलात्मक है, परमेश्वर शिव की यह मूर्ति भावी कही जाती है।।२१।। बाह्यान्तर विश्व को व्याप्त कर उसकी तेजोमयी शुभ मूर्ति तथा घोर रूप रौद्री मूर्ति है।।२२।। सम्पूर्ण विश्व का स्पन्दन करने वाला वायु इसका भरण-पोषण करता है।।२३।। सर्वव्यापक उनकी आकाशात्मक मूर्ति सबको अवकाश देने वाली है तथा सब प्राणियों की भयदायक भीष्म मूर्ति है।।२४।।

जो सब क्षेत्रवासियों के अन्तःकरण में सर्वात्मरूप से स्थित है, वह पशुपति मूर्ति सब जीवों के पाश को काटने वाली है।।२५।। सूर्य रूप से वे सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करते हैं, ईशान नामक शिवमूर्ति स्वर्ग में चलने वाली है। २६ । विश्व को अपनी चाँदनी से तृप्त करने वाली उनकी चन्द्रमूर्ति 'महोदेव' संज्ञावाली है ।।२७।। विश्व की व्यापक विश्वात्मक मूर्ति इनमें आठवीं है यह इतर मूर्ति से अधिक व्यापक होने के कारण परमात्मा की शिव की [शिवात्मक] है। २८।

वृक्ष की जड़ को सींचने से जैसे शाखाएं फूटती हैं, वैसे ही शिव के पूजन रूप अभिसिञ्चन से शरीरमय विश्व की पुष्टि होती है।।२९।। सबके अभयदान तथा सबके लिए अनुग्रह का विधान करने वाली, सम्पूर्ण उपकारों का कारण शिव की आराधना ही कही गयी है।।३०।। जैसे पुत्र, पौत्रादि के सुख से पिता प्रसन्न होता है वैसे ही सबकी प्रीति से भगवान् शङ्कर प्रसन्न होते हैं।।३१।। निःसंदेह रूप से किसी भी शरीरधारी का निग्रह करना शिव की अष्टमूर्ति का ही निग्रह करना है।।३२।। इस प्रकार अपनी अष्टमूर्ति से सम्पूर्ण विश्व को व्यापत करके स्थित हुए परमकारण रूप भगवान रुद्र का सर्वभाव से भजन करना ही श्रेयस्कर है।।३३।।

अध्याय ३

जीव पशु हैं और शिव जगत्पति

उपमन्यु ने कहा -

यह चराचर जगत उन्हीं देवादिदेव शिव का विग्रह है-पाश में आवद्ध जीव उन्हें नहीं जानते।।१।। हे यदुनन्दन! वह एक ही अनेक रूप से जाना जाता है महर्षि उसे अज, अनन्त, भाव से जानते हैं।।२।। अपर ब्रह्मरूप ही पर ब्रह्मात्मक है, उसी को महादेव, अनादि और निधन कहा जाता है।।३।। भूतेन्द्रिय, अन्तःकरण प्रधान, विषयात्मक अपर ब्रह्म ही पर ब्रह्मात्मक एवं विदात्मक है।।४।। वही वृहत् और वृहंष होने के कारण परम संज्ञक है, वे दोनों ब्रह्म के ही रूप ईश्वर कहते हैं।।५।। विद्या चेतना और अविद्या अचेतना है, विश्वगुरु का यह विद्या अविद्यात्मक स्वरूप है।।६।। यह उसी का स्वरूप विश्व निसंदिग्ध रूप से उसी के वश में स्थित है। भ्रान्ति के कारण वह पर अनेक रूपों में जाना जाता है।।७।।

अर्थों में अयथार्थ बुद्धि होने को भ्रान्ति कहा है, अर्थाकार संविति को विद्या कहा गया है।।८।। तत्वपद विकल्प रहित है तथा उसके विपरीत तत्व को वेदवादियों ने असत् कहा है।।९।।

सत्-असत् के पति होने से शिव को क्षर-अक्षरात्मक कहते हैं परन्तु वह क्षर-अक्षर से भी परे है।।१०।। सभी प्राणी नाशवान् हैं उनको कूटस्थ को अनश्वर कहा है वे दोनों ही उस परमेश्वर के अधीन हैं।।११।। उससे परे शान्त शिव को क्षराक्षर से परे कहा है तथा वह समष्टि-व्यष्टि रूप समष्टि-व्यष्टि का कारण है।।१२।। मुनि परम कारण रूप से शिव की वन्दना करते हैं तथा समष्टि को अव्यक्त और व्यष्टि को व्यक्त बताते हैं।।१३।। उसी की इच्छा से उपर्युक्त दोनों रूप उसी के हैं उनके कारण के अभाव में शिव ही परम कारण हैं।।१४।। कारण के ज्ञाताओं ने समष्टि-व्यष्टि को कारण कहा है, कोई ईश्वर को जाति और व्यक्ति रूप बतलाते हैं।।१५।। पिण्डों में बर्तने वाली को जाति कहा जाता है वह

व्यक्ति आवृत्ति रूप सभी पिण्ड जाति में स्थित है।।१६।। जाति और व्यक्ति उसी की आज्ञा के वश में है इसलिए महादेव को जाति-व्यक्ति रूप कहा गया है।।१७।।

प्रधान-पुरुष व्यक्त और कालात्मा शिव हैं, प्रधान प्रकृति है तथा क्षेत्रज्ञ पुरुष कहा गया है।।१८।। तेइस तत्त्वों के नाम व्यक्त बताए गये हैं। कार्य-काल के प्रपञ्च का परिणाम एक ही कारण है।।१९।। यही ईश्वर प्रवर्तन और निवर्तन करता है तथा आविर्भाव और तिरोभाव का एकमात्र कारण है।।२०।। इसलिए प्रधान-पुरुष कालस्वरूपात्मक है उसके कारण तथा अधिपति महेश्वर ही कहे गये हैं।।२१।। कोई कहते हैं कि विराट् हिरण्यात्मा ईश्वर हैं, क्योंकि लोकों का हेतु विश्वात्मका विराट ही है।।२२।। कवियों ने अन्तर्यामी और पर को शिव कहा है। कोई प्राज्ञ तेज से विश्वात्मा बतलाते हैं।।२३।। कोई तुरीय और कोई सौम्य कहते हैं, दूसरे लोगों ने उसे माता, भान, भेय, और मति कहा।।२४।। कोई कर्ता, क्रिया, कार्य व कारण तथा दूसरे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति वाला कहते हैं।।२५।। किसी ने तुरीय और किसी ने तुर्यातीत कहा है, कोई निर्गुण और कोई सगुण कहते हैं।।२६।। कोई संसारी, असंसारी, स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र कहते हैं।।२७।। किसी ने इसे घोर, किसी ने सौम्य राागी और किसी ने विरागी कहा है।। ।।२८।। कोई क्रियारूप कोई निष्क्रिय, कोई इन्द्रिय रूप और कोई इन्द्रिय रहित कहते हैं।।२९।। कोई चल, कोई अचल, कोई रूपरहित कोई रूपवान् कहते हैं।।३०।। किसी ने उन्हें दृश्य कहा है अदृश्य बताते हैं, कोई वाच्य, अवाच्य, शब्दात्मक और कोई शब्द से परे कहते हैं।।३१।। किसी ने चिन्तायुक्त, अचिन्तायुक्त, कोई ज्ञानरूप और कोई विज्ञान रूप कहते हैं।।३२।।

कोई ज्ञेय, कोई अज्ञेय, कोई एक और कोई अनेक बताते हैं।।३३।। इस प्रकार उस परमेष्ठी की अनेक प्रकार से कल्पना की गयी है और अनेक प्रकार के विश्वास के कारण मुनिजन भी यथार्थ निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं।।३४।। परन्तु जो सर्वभावेन परमेश्वर शिव की शरण को प्राप्त हो चुके हैं, वे बिना किसी यत्न के ही परम-कारण को जान लेते हैं।।३५।। जब तक प्राणी संसार को वश में करने वाले पुराण पुरुष परमेश्वर के दर्शन नहीं करता तब तक पाश में बंधा रहकर चक्रनेमि के समान घूमता रहता है।।३६।। और जब विश्वकर्ता हिरण्यगर्भ ईश्वर, ब्रह्म के दर्शन करता है, तब-तक पुण्य-पाप को दूर करके शिवजी के तादात्म्य को प्राप्त करता है।।३७।।

अध्याय ४

युगों में शिव के योगावतार

श्रीकृष्ण ने कहा -

सग युगों के प्रारम्भ में योगाचार्य के दलवाले शर्व [शिव] के अवतार और उनके शिष्यों का वृतान्त सुनाइए।।१।।

उपमन्यु ने कहा-

श्वेत, सुतार, मदन, सुहोत्र, कंक, लौगाक्षि, महाभाय, जैगीषव्य।।२।। दधिवाह, ऋषभ, मुनि, उग्र, अत्रि, सुपालक, गौतम, वेदशिरा।।३।। गोकर्ण, गुहावासी, जटामाली, शिखण्डी, अट्टहास, लागतीवदारुक, महाकाल, शूली, दण्डी, सुण्डी, संहिष्णु, सोमशर्मा और नकुलीश्वर।।५।। सभी वैवस्वतमनु के वाराहकाल में हुए, युगों के क्रम से योगाचार्य अट्ठाईस हुए हैं।।६।। एक-एक के चार शिष्य हुए, शान्त से रुष्य पर्यन्त सभी शिष्यों को कहता हूँ।।७।। श्वेत, श्वेतशिख, स्वेता, श्वेतालोहित, शतरूपा, ऋचीक, दुन्दुभि केतुमान।।८।। विकोश, विपाक, पाशनाशन, दुर्मुखा, सुमुख, दुर्दम, दुरतिक्रम।।९।। सनक, सनन्दन, सनत कुमार, सनातन, सुधमां, शंखपाद, विरज, वैरज।।१०।। सारस्वत, मेघ, मेघवाह, आसुरि, कपिल, पञ्चशिख बाष्कल।।११।। पराशर, गर्ग, भार्गव, अंगिरा, बलबन्धु, निरामित्र, केतु, श्रृंग तपोधन।।१२।। लम्बोदर, लम्बाक्ष, लम्बकेशक सर्वज्ञ, समबुद्धि, साध्यबुद्धि।।१३।। सुधामा, कश्यप, वशिष्ठ, वरिज, अत्रि, उग्र, गुरु, श्रेष्ठ, श्रवण, श्रविष्ठक, ।।१४।। कुणी, कुणबाल्य, कुशरीर, कुनेत्रक, कश्यप, उशना, च्यवन, बृहस्पति।।१५।। उतथ्य, वामदेव, महाकाल, महानील, वाचश्रवा, सुधीर, श्यामाश्व, यतीश्वर।।१६।। हिरण्यनाभ, कौशल्य, लोकाक्षि, कुथुभि, सुमन्त, जैमिनी, कबन्ध, कुश, कन्धर। ।।१७।। प्लक्ष, दार्भातणि, केतुमान, गौतम, बल्लभी, मधुपिंग श्वेतकेतु।।१८।। उशिज, बृहक्षश्व, देवल, कवि, शालिहोत्र,

सुवेश, शम्बूक, आश्लायन, शरद्वसु, छलगकुन्ड, कर्णकुम्ब, प्राबाहुक, उल्लक, विद्युत।।१९।। अक्षपाद, कणाद् उलूलवत्स, कुशिक, गर्ग, मित्रक, रुष्य।।२०।। यह सभी योगाचार्य महेश्वर के शिष्य हैं और सब एक सौ बारह हैं।।२१।। सभी पाशुपत सिद्ध अंगों में भस्म लेपन करने वाले, शास्त्रार्थ के ज्ञाता तथा वेद-वेदांग पारगामी।।२२।। शिवाश्रय में प्रीति वाले, शिवज्ञान परायण, सङ्गहीन, तथा शिव से ही अपने मन को संयुक्त रखने वाले।।२३।। शीतोष्णादि को सहन करने वाले, सभी भूतों के हितकर्ता, क्रोध जयी।।२४।। रुद्राक्ष की माला के आभरण, त्रिपुण्ड और शिखामात्र जटाधारी, जटारहित और सिर मुंडितफल मूलोपहारी, प्राणायाम करने वाले, शैवमार्ग तथा शिव ध्यान में तत्पर।।२५-२६।। सम्पूर्ण संसार रूपी विष के अंकुरों को समूल से उखाड़ने वाले तथा शिवलोक जाने को कटिबद्ध।।२७।। ऐसे श्वेतादि को जो अपना आचार्य मानकर जो शिव जी का पूजन करता है वह कार्य का विषय नहीं बनता शिव-सायुज्य को प्राप्त करता है।।२८।।

अध्याय ५

श्रीकृष्ण ने कहा

हे प्रभो! आपने मन्त्र का महात्म्य कथन किया तथा उसके प्रयोग का श्रुति सम्मत विधान भी कहा।।१।।.इस मन्त्र के ग्रहण में शिव संस्कार श्रवण की इच्छा है जो आपने सूक्ष्म रूपेण कहा, उसे सविस्तार कहें।।२।।

उपमन्यु ने कहा –

सभी कर्मों को दूर करने की विधि कहता हूँ, उस पवित्र संस्कार का शिव ने स्वयं ही वर्णन किया है।।३।। पूजन में सम्यक् प्रकार सभी क्रियमाण संस्कार करना चाहिए उन्हें षड्मार्ग का शोधित [शोधन] संस्कार कहा गया है।।४।। जिस संस्कार से विज्ञान होता है और पाश का बन्धन करता है उसे दीक्षा कहा गया है।।५।। शिव शास्त्र में शाम्भवी, शक्ति और मान्त्री इन तीन प्रकारों की दीक्षा स्वयं शिव ने कही है।।६।। गुरु के दर्शन, स्पर्श और सम्भाषण से पाप को क्षय करने वाली संज्ञा तुरन्त होती है।।७।। वही शाम्भवी दीक्षा पुनः पापक्षय के भेद दो प्रकार की कही गयी है-तीव्रा और तीव्रतरा।।८।। शीघ्र निवृत्त करने वाली तीव्रा और पाप का परिशोधन करने वाली तीव्रतरा कही जाती है।।९।। जो दीक्षा ज्ञान चक्षु से प्राप्त होती है और योगमार्ग द्वारा गुरु से शिष्य के शरीर में प्रविष्ट होती है वह शाक्ती और ज्ञानात्मक है।।१०।। क्रियावासी मान्त्री दीक्षा कुण्डमंगल से पूर्व मन्द और मन्दोत्तर के भेद से गुरु बर्हिभाव में करे। शक्ति तथा सामर्थ्य के अनुसार ही शिष्य अनुग्रह योग्य है, क्योंकि शैव धर्म के अनुसार यह उसका मूल है।।११-१२।। जहाँ शक्ति पतित नहीं होती और न विद्या, शिष्याचार, मुक्ति अथवा सिद्ध होती है।।१३।। इसलिए शक्तिपात के लक्षणों को देखकर ज्ञान और क्रिया के द्वारा शिष्य को शुद्धि करनी चाहिए।।१४।। उसका मोह नष्ट होता है या नहीं, इस तरह सर्वप्रकारेण गुरु शिष्य की परीक्षा करें।।१५।। अत्यन्त आनन्द

की प्राप्ति शक्ति के पतित होने का चिन्ह है क्योंकि पराशक्ति प्रबोधानन्द स्वरूप है।।१६।। अन्तःकरण की विक्रिया आनन्द बोध का लक्षण है उससे कम्पन, रोमांच स्वर एवं नेत्रादि विकार प्रतीत होते हैं।।१७।। शिष्य के लक्षणों की परीक्षा की जाय, सम्पर्क में शिव-पूजा में, अपनी अथवा उसकी गति से परीक्षा की जानी चाहिए, शिक्षण योग्य होने से शिष्य और गौरवयुक्त होने से गुरु की संज्ञा होती है इसलिए सर्वप्रकारेण गुरु को गौरव-युक्त रख्खे।।१८-१९।। गुरु ही शिष्य है, शिव ही गुरु है तथा गुरु और शिव दोनों विद्या का कारण होने से शिव, गुरु और विद्या के अर्चन के समान होते हैं।।२१।। गुरु सम्पूर्ण देवात्मक और तन्त्रमय है इसलिए गुरु की आज्ञा को प्रयत्नपूर्वक शिरसा धारणा करनी चाहिए।।२२।। कल्याणकामी शिष्य मन से गुरु की आज्ञा को नहीं लांघता क्योंकि गुरु भी आज्ञा पालन से ज्ञान और सम्पत्ति दोनों प्राप्त होते हैं।।२३।।

चलते, खड़े होते, सोते, खाते तथा अन्य कार्यो को करने के लिए गुरु की आज्ञा प्राप्त कर।।२४।। गुरु के घर में या उनके समक्ष श्रेष्ठ आसन पर नहीं बैठना चाहिये क्योंकि उसका घर देवमन्दिर और वह साक्षात् देवता है।।२५।। जैसे पापियों की संगति से व्यक्ति पतित हो जाता है वैसे ही गुरु की संगति से सभी पाप नष्ट होकर धर्म फल मिलता है जिस भांति अग्नि की संगति से सुवर्ण स्वच्छ हो जाता है।।२६।। गुरु के सम्पर्क से शिष्य उसी प्रकार शुद्ध हो जाता है जैसे अग्नि के सम्पर्क से घी का कलश लीन हो जाता है। आचार्य के सामीप्य से उसी प्रकार सभी पाप विलय हो जाते हैं।।२७।। और जाज्वल्यमान अग्नि सुखे काष्ठ को भस्मसात् करती है।।२८।। वैसे ही संतुष्ट होकर गुरु क्षणमात्र में पापों को भस्म कर देते हैं अतएव मन, वाणी और कर्म से गुरु को क्रोधित नहीं करना चाहिए।।२९।। क्योंकि गुरु के क्रोधित होने से आयु, श्री, ज्ञान और सत्क्रिया नष्ट हो जाती है जो शिष्य गुरु को क्रोधित करते हैं उनके यज्ञ फलहीन होते हैं।।३०।। उनके यम, नियम, निसंदेह नष्ट हो जाते हैं इसलिए कभी भी गुरु के विरुद्ध कोई बात न कहे।।३१।। यदि मोहवश कहता है तो नरकगामी होता है, बुद्धिमान को मन, वाणी और कर्म से गुरु सेवा करनी चाहिए।।३२।। जो शिष्य कल्याण की कामना करे उसे मिथ्याचार से बचना चाहिए, गुरु का एक दुर्गुण कहने से सौ दुर्गुण होते हैं और गुरु के गुण कहने से सभी पुण्यों का फल मिलता है। गुरु का कथन हो या नहीं, सर्वदा गुरु के प्रिय और हित की कामना करनी चाहिए।।३३।। उनके समक्ष या पीछे भी उनके हित का कार्य करें ।।३४।। इस प्रकार आचारवान शिष्य श्रेष्ठ, मनपूर्वक नित्यप्रति गुरु का प्रिय कार्य करता हुआ

शिव-धर्म में निरत रहे जो उसका आनन्दायक एवं विज्ञ हो।।३५।। जो तत्वज्ञानी शिवभक्त हैं वही मोक्ष देने में समर्थ हैं दूसरे नहीं, ब्रह्म ज्ञान को प्रकट करने वाला तत्व परमानन्द से ही उपलब्ध होता है।।३६।। वह परमानन्द दर्शक तत्व से ही जाना जाता है, ज्ञानहीन गुरु मोक्ष देने में समर्थ नहीं हो सकते ।।३७।। ज्ञानी गुरु और शिष्य परस्पर तारनें में समर्थ होते हैं, मूर्ख गुरु शिष्य को कभी भी पार नहीं कर सकता।।३८।। तत्वज्ञानी तो स्वयं ही मुक्त है, दूसरों को भी मुक्त करने में समर्थ है, तत्व के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना आत्मज्ञान नहीं।।३९।। आत्मज्ञान के बिना इन्हें पशु संज्ञा से अभिहित किया जाता है, पशुओं से प्रेरित होने पर पशुत्व की निवृत्ति सम्भव नहीं है।।४०।। इस प्रकार तत्वज्ञानी ही संसार से पार जा सकता है, सर्वलक्षणयुक्त सभी शास्त्रों का ज्ञाता।।४१।। भी यदि तत्व ज्ञान से रहित है तो व्यर्थ है। जिस गुरु की अनुभवी बुद्धि प्रकृत होती है।।४२।। उसके दर्शन से परमानन्द होता है जिसकी संगति से प्रबोधानन्द प्राप्त हो।।४३।। उसी को गुरु बनाना चाहिए, उत्तम शिष्य सविनय सम्यक् प्रकारेण [रूपेण]।।४४।। गुरु की ज्ञान की प्राप्ति-पर्यन्त सेवा करे और स्थिर भक्ति का आश्रय करे।।४५।। उस गुरु को कभी उपेक्षित न करे, कभी उसका त्याग भी न करे यदि किंचित् आनन्द और प्रबोध उपलब्ध न होता हो।।४६।। पूर्व गुरु के एक वर्ष पश्चात् ही दूसरा गुरु बनावे परन्तु पूर्व गुरु का भी तिरस्कार न करे।।४६।। गुरु के भ्राता पुत्रादि के बोधक और प्रेरक होवें। वेद में पारंगत ब्रह्मण के पास जाकर प्राज्ञ और सुभग गुरु की आराधना करें।।४८।। ऐसे सर्वप्रकारेण अभयदायक गुरु को करुणायुक्त मन, वाणी और कर्म से प्रयत्नपूर्वक प्रसन्न करें।।४९।। उनकी प्रसाद प्रसन्नता, प्राप्ति पर्यन्त सेवा करे, गुरु के प्रसन्न होते ही शिष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।।५०।। गुरु ही माता, भ्राता, बन्धु, सखा, धन और सुख है इसलिए सब कुछ उनको अर्पण कर के।।५१।। उस शिव रूप गुरु को अपना आत्मदान कर देने पर ही यह देहधारी, शिव-रूप होता है और पुनः इसका जन्म नहीं होता। आचार्य स्वरूप को प्राप्त कर यह पशु पापक्षय करके परमपद प्राप्त करता है। गुरु अपने शिष्य की एक वर्ष परीक्षा करे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यक्रम से दो-तीन वर्ष तक की परीक्षा का विधान है।।५२-५३।। प्राणद्रव्य के प्रदान से सम-असम में उत्तम को निम्न और निम्न को उत्तम कर्म में लगावें।।५४।। जो ताडन करने से विषाद को प्राप्त नहीं होते, वे शिव संस्कार के कर्म में योग्य, संयत और शुद्ध माने जाते हैं।।५५।। जो अहिंसा, प्रिय-वचन बोलने वाले, दयायुक्त, मानरहित, बुद्धिसंयत स्थिर बुद्धि।।५६।। सरल, मृदु स्वच्छ, विनीत, स्थिरचित्त, शौचाचार से सम्पन्न शिवभक्त ब्राह्मण हैं ऐसे मन, वचन और कर्म से शुद्ध, बोधयुक्त शिष्य हों, उनका संस्कार करें यही शास्त्र का निर्णय है। ५८ ।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

महर्षि वादरायण ने स्वरचित ब्रह्मसूत्रों में पाशुपत सम्प्रदाय की दार्शनिक समीक्षा उपस्थित किया था जिसका अत्यन्त महत्वपूर्ण भाष्य आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित किया गया है। प्रसङ्गतः इस दार्शनिक समीक्षा का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। यथा-

अ॰ २ पाद २ सू॰ ३७-४१

पत्युरसामन्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पदच्छेद

पत्युः, असामञ्जस्यात्।

सूत्रार्थ

[पत्युः] ईश्वर प्रधानादि उपादानों का प्रेरक होने से जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता, [असामञ्जस्यात्] क्योंकि विषम सृष्टि में प्रवृत्त होने से रागद्वेषादि के प्रसंग से असंगत है।

भाष्य

अब केवल अधिष्ठाता ईश्वर जगत् का [निमित्त] कारण है इस कारणवाद का प्रतिषेध किया जाता है। क्योंकि "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञातृष्टान्तानुपरोधात्" [१.४.२३.] तथा "अभिध्योपदेशाच्च" [१.४.२४] में ईश्वर को दोनों स्वभावों में प्रकृतिरूप से और उसके अधिष्ठाता रूप में, स्वयं आचार्य ने प्रतिष्ठापित किया है। यदि यहाँ समान रूप से ईश्वर कारणवादमात्र का प्रतिषेध किया जाय, तो पूर्वोत्तर का विरोध होने से सूत्रकार परस्पर विरुद्ध वचन कहते हैं, ऐसा प्रसक्त

होगा। इसलिए ईश्वर प्रकृति नहीं है, अधिष्ठाता केवल निमित्त कारण है, इस पक्ष का वेदान्त विहित ब्रह्मैकव के विरोधी होने से यहाँ यत्न से प्रतिषेध किया जाता है। वह वेद बाह्य कल्पना अनेक प्रकार की है।-कुछ लोग तो सांख्ययोग का आश्रयकर कल्पना करते हैं-प्रधान और पुरुष का अधिष्ठाता ईश्वर केवल निमित्त कारण है। प्रधान, पुरुष और ईश्वर ये परस्पर विलक्षण हैं।

माहेश्वर तो ऐसा मानते हैं-कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त ये पाँच पदार्थ पशुपति ईश्वर से जीवबन्ध [पशु-पाश] के विनाश के लिए उपदिष्ट हैं। पशुपति ईश्वर निमित्त कारण है ऐसा वर्णन करते हैं। अर्थात् पशु के पाश से मुक्ति हेतु उपदिष्ट है। [पाशुपतमतानुयायी] अन्य दार्शनिक किसी न किसी प्रकार ईश्वर निमित्त कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं।

उसी प्रकार वैशेषिक आदि भी कथंचित् अपनी-प्रकृया के अनुसार ईश्वर-निमित्त कारण है, ऐसा वर्णन करते हैं। सिद्धान्ती-इससे उत्तर कहते हैं-पत्युरसामञ्जस्यात् पति-ईश्वर, प्रधान [प्रकृति] और पुरुष का अधिष्ठातृ रूप से जगत् का कारण नहीं हो सकता। क्यों? इसलिये कि इन दोनों स्थितियों में अधिष्ठातृ और निमित्त कारणत्व में असामन्जस्य है। पुनः वह असामञ्जस्य क्या है? हीन, मध्यम और उत्तम भाव से भिन्न-भिन्न प्राणियों को उत्पन्न करने वाले ईश्वर में राग, द्वेष, आदि दोषों के प्रसंग होने से हम लोगों के समान अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा। यदि कहो कि प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा होने से दोष नहीं, है, तो यह युक्त नहीं है; क्योंकि कार्य और ईश्वर का प्रवर्त्य और प्रवर्त्यपितृत्व भाव होने पर अन्योन्याश्रय दोष प्रसङ्ग होगा। ऐसा नहीं, क्योंकि वह अनादि है, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमान काल के समान अतीत कालों में भी अन्योन्याश्रय दोष समान होने से अन्धपरम्परान्याय प्रसक्त होगा। और ''प्रवर्तनालक्षणा दोषा'' [प्रवृत्ति के हेतुभूत दोष है] यह न्यायवेत्ताओं का सिद्धान्त है। कोई भी दोष के बिना स्वार्थ अथवा परार्थ में प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थ में प्रयुक्त हुआ ही सब लोग परार्थ में भी प्रवृत्त होते हैं, यह भी असामञ्जस्य असंगत है, कारण कि स्वार्थयुक्त होने से ईश्वर में अनीश्वरत्व प्रसङ्ग होगा। ईश्वर को पुरुष-विशेष-स्वीकार किया गया है और पुरुष में औदासीन्य माना गया है, यह असंगत है।।३७।।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पदच्छेद

सम्बन्धानुपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ

और प्रेय प्रधानादि के प्रेरक ईश्वर के सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से ईश्वर प्रेरक नहीं हो सकता।

भाष्य

फिर भी असामञ्जस्य ही है, क्योंकि प्रधान और पुरुष से भिन्न ईश्वर सम्बन्ध के बिना प्रधान और पुरुष का ईशिता नहीं है, इनका संयोग रूप सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, कारण कि प्रधान, पुरुष और ईश्वर सर्वगत और निरवयव है, एवं समवाय रूप सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि आश्रय-आश्रयी भाव का निरूपण नहीं है। उसी प्रकार कार्यगम्य अन्य कोई सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण कि अभी तक कार्य-कारण भाव ही असिद्ध है। यदि कहो कि ब्रह्मवादी के मत में किस प्रकार होता है तो यह युक्त नहीं, क्योंकि उसके मत में तादात्म्यरूप सम्बन्ध उत्पन्न है। और ब्रह्मवादी तो आगमबल से कारण आदि का स्वरूप निरूपण कहते हैं, इसलिए उनके लिये यह नियम नहीं है कि यथादृष्ट ही अवश्य सबको स्वीकार करना चाहिये। दृष्टान्त बल से कारण आदि का स्वरूप निरूपण करते हुए पूर्वपक्षी को तो यथादृष्ट ही सब स्वीकारना चाहिय, यह विशेष है। यदि कहो कि प्रतिपक्षी को भी सर्वज्ञ प्रणीत आगम के सद्भाव से आगम बल समान है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान से सर्वज्ञत्व सिद्धि और सर्वज्ञत्व के ज्ञान से आगमसिद्धि, इस प्रकार-अन्योन्याश्रय प्रसङ्ग है। इससे साख्ययोगवादी की ईश्वर कल्पना अयुक्त है। इसी प्रकार वेद-बाह्य अन्य ईश्वर कल्पनाओं में भी यथासम्भव असामाञ्जस्य की योजना करनी चाहिए ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

पदच्छेद

अधिष्ठानानुपपत्तेः, च।

सूत्रार्थ

और ईश्वर रूपादि हीन प्रधान का प्रेरक न होने से निमित्त कारण नहीं हो सकता है।

भाष्य

और इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है। जैसे कुम्हार मृत्तिका आदि को अधिष्ठित कर प्रवृत्त करता है वैसे वही परिकल्पित हुआ [ईश्वर] प्रधानादि को अधिष्ठितकर प्रवृत्त करेगा। परन्तु इस प्रकार उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि अप्रत्यक्ष और रूपादि हीन प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता, कारण कि वह मृत्तिका आदि से विलक्षण है।। ३९ ।।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।। ४० ।।

पदच्छेद

करणवत् चेत्, न, भोगादिभ्यः।

सूत्रार्थ

[करणवत्] अप्रत्यक्ष होने पर जैसे इन्द्रियां जीव से प्रेरित होती हैं वैसे ही अप्रत्यक्ष प्रधान भी ईश्वर से प्रेरित हो जायेगा। [चेन्न] तो यह युक्त नहीं है। [भोगादिभ्यः] क्योंकि ऐसा होने पर जीव के समान ईश्वर को भी भोग आदि प्रसक्त होंगे।

भाष्य

ऐसा हो, परन्तु जैसे अप्रत्यक्ष, रूपादि रहित नेत्र आदि करण समुदाय को पुरुष अधिष्ठित करता है, वैसे ईश्वर प्रधान को भी अधिष्ठित करेगा। उस प्रकार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि भोगादि के दर्शन से ही करण समुदाय का अधिष्ठिता अवगत होता है। परन्तु यहाँ ईश्वर में भोग आदि देखे नहीं जाते। इन्द्रिय समुदाय के साथ [प्रधान] का साम्य स्वीकार किए जाने पर संसारी के समान ईश्वर को भी भोग आदि प्रसक्त होंगे। अथवा इन दो सूत्रों का अन्य रीति से व्याख्यान किया जाता है–''अधिष्ठानानुपाक्तेश्च'' इससे तार्किक परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है, क्योंकि लोक में अधिष्ठान सहित सशरीर राजा राष्ट्र का ईश्वर देखा जाता है अधिष्ठान रहित नहीं। अतः उस दृष्टान्त के बल से अदृष्टईश्वर की कल्पना करने की इच्छा करने वाले को ईश्वर का इन्द्रियों का आयतन कोई शरीर वर्णयितव्य होगा। परन्तु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शरीर तो सृष्टि के उत्तर काल भावी है, सृष्टि के पूर्व उसकी अनुपपत्ति है। निरधिष्ठान

होने पर ईश्वर प्रवर्तक नहीं हो सकता, कारण कि लोक में ऐसा देखा गया है। "करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः" यदि लोक दर्शन के अनुसार ईश्वर का भी इन्द्रियों का आश्रय कोई शरीर अपनी इच्छा से कल्पना करे तो इस प्रकार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सशरीर होने पर संसारी के समान भोग आदि प्रसंग होने से ईश्वर को भी अनीश्वरत्व प्रसक्त होगा।। ४० ।।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

पदच्छेद

अन्तवत्वम् असर्वज्ञता, वा।

सूत्रार्थ

प्रधान, जीव और अपनी संख्या [वा] अथवा परिमाण का निश्चय ईश्वर करता है कि नहीं; प्रथमपक्ष [अन्तवत्तम्] परिच्छिन्न संख्या व परिच्छिन्न परिमाण होने से तीनों घट के समान विनाशी होंगे, द्वितीय पक्ष [असर्विज्ञता] में ईश्वर में असर्वज्ञत्व सिद्ध होगा, इससे माहेश्वर सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक है।

भाष्य

इससे भी तार्किक परिकल्पित ईश्वर की अनुपपत्ति है। क्योंकि वही ईश्वर सर्वज्ञ और अनन्त है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं और प्रधान अनन्त है, पुरुष अनन्त है और परस्पर भिन्न हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। उनमें सर्वज्ञ ईश्वर से प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता [संख्या अथवा परिमाण] जानी जाती है अथवा नहीं जानी जाती है? दोनों प्रकार से प्रसङ्ग दोष ही है, क्यों? पूर्व विकल्प में तो इयत्ता परिच्छिन्न होने से प्रधान, पुरुष और ईश्वर का अन्तवत्त्व अवश्यंभावी है। कारण कि व्यवहार में ऐसा देखा जाता है। लोक में जो इयत्ता परिच्छिन्न पट आदि वस्तु है वह अन्तवान् देखी गयी है, इसी प्रकार प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीनों भी इयत्ता परिच्छिन्न होने से अन्तवान् होंगे। संख्या परिमाण तो प्रधान, पुरुष और ईश्वर त्रयरूप से परिच्छिन्न है। उसमें स्थित स्वरूपमाण भी ईश्वर से जाना जाता है। पुरुष गत महासंख्या है। उससे इयत्ता परिच्छिन्नों के मध्य में जो संसारी संसार से मुक्त हो जाते हैं उनका संसार और संसारीत्व अन्तवान् होगा। इस प्रकार क्रम से अन्यों के भी मुक्त हो जाने पर संसार और संसारियों का अन्तवत्त्व हो जायेगा और विकार सहित अप्रधान पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए ईश्वर का

अधिष्ठेय करेगा अथवा किस विषय में सर्वज्ञत्व और ईश्वरत्व होगा। प्रधान, पुरुष और ईश्वर को इस प्रकार अन्तवत्त्व होने पर आदिमान् होने का प्रसङ्ग हो जायेगा। एवं आदि और अन्तवाला होने पर आदि शून्यवाद प्रसङ्ग होगा। यह दोष न हो इसलिए यदि प्रधान, पुरुष और अपनी ईयत्ता ईश्वर से. अवगत नहीं होती है, इस द्वितीय विकल्प को स्वीकार किया जाय तो, ईश्वर के सर्वज्ञत्व स्वीकार का त्याग दूसरा दोष प्रसक्त होगा, इससे भी तार्किक परिगृहीत ईश्वरकारणवाद असङ्गत है।

माधवाचार्य विरचित

श्री शङ्करदिग्विजय

इस ग्रन्थ में वेदान्त द्वारा पाशुपत सम्प्रदाय की आलोचना निम्न आधारों पर की गयी है-

''पाशुपतों के अनुसार महेश्वर की समता प्राप्त करना तथा अद्वितीय शिव में लीन हो जाना ही मुक्ति है। भेद स्वीकार करने पर इस प्रकार की मुक्ति कभी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि शिव का ध्यान करने से इस प्रकार की मुक्ति होती है तब वह नष्ट ही क्यों नहीं हो जाती? क्योंकि संसार के अखिल् भाव पदार्थ नित्य नहीं हैं। ध्यान से उत्पन्न होने के कारण मुक्ति को भी अनित्य होना ही पड़ेगा।'' ।।७४।।

''मोक्ष की अवस्था में पशुओं में जीवों में पशुपति शिव के गुणों का संक्रमण पाशुपत-मत में स्वीकार किया जाता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जीवों के अङ्गों से हीन हो जाने पर [विदेह होने पर] उनमें गुण का संक्रमण कैसे हो सकता है''।। ७५ ।।

''कमल का निरवयव गन्ध जिस प्रकार वायु में संक्रमण करता है उसी प्रकार जीव में भी पशुपति के गुणों का संक्रमण होता है यह युक्ति भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ पर गन्ध का समवायी कमल, सूक्ष्म रूप से वायु के साथ संयुक्त रहता है इसलिये वह वायु में भी गन्ध-बुद्धि को पैदा करता है''।। ७६।।

''मुक्तावस्था में महेश्वर के गुण, मुक्त पुरुषों में क्या एक अंश से निवास करते हैं या सम्पूर्ण रूप से? यदि पहला पक्ष माना जाय तो पूर्वकथित दोष आता है और यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो परमेश्वर में अज्ञता आदि दोष मानने पड़ेंगे'' ।।७७।।

नकुलीश पाशुपत दर्शन

[सायण-माधव के सर्वदर्शन संग्रह से अनूदित]

वैष्णवों का यह मत तो परतन्त्रता का ही दूसरा नाम है जिसका बोध दासत्वादि शब्दों के द्वारा होता है। सचमुच, यह बहुत दुःखकर है क्योंकि इसमें दुःख का अन्त नहीं होता इसलिए यह कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकता। परमेश्वर ही बन जाने की कामना से ''प्रतिपक्षियों के मतानुसार मुक्तपुरुष, वास्तव में मुक्त नहीं है, क्योंकि वे परतन्त्र हैं [परतन्त्रता से], परम ऐश्वर्य के अभाव से, जैसे हम [बद्ध जीव] हैं। ''मुक्त आत्माएँ परमेश्वर की ही तरह गुण रखने वाली हैं पुरुषत्व होने पर भी ये सारे दुःखों के कारणों से रहित है- साक्षात् परमेश्वर की ही तरह-यहाँ अनुमान प्रमाण को प्रतिपादित मानने वाले - ये महेश्वर सम्प्रदाय वाले परम पुरुषार्थ का साधन पाशुपत शास्त्र को ही मानते हैं जिसमें पाँच पदार्थों का विस्तार किया जाता है। उसका यह [पाशुपत शास्त्र का] पहला सूत्र है-

पाशुपत सूत्र की व्याख्या

१. गुरु का स्वरूप-

अब इसलिए पाशुपत दर्शन के पाशुपत शास्त्र के योग और विधि की व्याख्या करेंगे। इसका अर्थ है (इस प्रकार) - यहाँ ''अर्थ'' शब्द पहले के कुछ प्रसंग का द्योतक है। पूर्व प्रसंग यह है कि - गुरु के प्रति शिष्य का कुछ प्रश्न हो चुका है। गुरु का स्वरूप गणकारिका में निश्चित किया गया है - ''आठ पञ्चक [पाँच-पाँच अवान्तर भेदों से युक्त गण] - जानने योग्य हैं और एक गण तीन अवान्तर भेदों का है, इन नवगणों का ज्ञाता और संस्कार करने वाला गुरु कहलाता है।।१।।

१. लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और बल ये आठ पञ्चक हैं। वृत्तियाँ [कार्य] तीन हैं।।२।।

२. मूलश्लोक में ''तिस्त्रो वृत्तकः'' [दोनों स्त्रीलिङ्गः शब्द] का प्रयोग करना चाहिए किन्तु त्रीणि [नपु॰] वृत्तयः [स्त्री] प्रयोग है यह वैदिक व्यत्यय [व्यत्ययों बहुलम्-पा॰ सू॰ ३.१.८५] विधि विहित उपाय में फलों को प्राप्त करने का नाम लाभ है। ज्ञान, तपस्, नित्यत्व, स्थिति, और शुद्धि के भेद से पाँच प्रकार का है जैसा कि हरदत्ताचार्य कहते हैं-ज्ञान, तपस्या, नित्यता, स्थिति, और पांचवीं शुद्धि, ये लाभ हैं।

३. आत्मा में अवस्थित दुष्ट भावों को मल कहते हैं। मिथ्याज्ञानादि के भेद से वह पांच प्रकार का है। यह भी कहा है-''मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्ति हेतु, च्युति, और पशुत्वमूल इन पांच मलों को तन्त्र में विवेक के द्वारा त्यागना चाहिऐ।''

साधक की शुद्धि के कारणों को उपाय कहते हैं जिसके वासचर्या आदि पांच भेद हैं। इसे भी कहा है-वासचर्या, जप, ध्यान, रुद्र का सदा स्मरण और प्रपत्ति [शरणागति] ये लाभों के उपाय निश्चित किये गये हैं।। ४ ।।

जिनके पास रहकर अर्थों का अनुसन्धान करते हुए [साधक] ज्ञान और तपस्या की वृद्धि प्राप्त करता है वह देश है जैसे-गुरु, जन आदि। उसे कहा है-

४. गुरु, जन, गुहा-देश, श्मशान तथा रुद्र, यह इस प्रकार हैं। लाभ की प्राप्ति पर्यन्त जब साधक एक ही प्रकार से अवस्थित रहता है तब उसकी यही अवस्थिति अवस्था कहलाती है जिसमें व्यक्त आदि विशेषण लगाते हैं। यह कहा है-व्यक्तावस्था, अव्यक्तावस्था, जयावस्था, दानावस्था और निष्ठावस्था यह पांचवी है। मिथ्या ज्ञानादि का विनाश हो जाना विशुद्ध है।

प्रतियोगियों के पांच भेद होने से यह पांच प्रकार की है। कहा है-

५. अज्ञानहानि, अधर्महानि, आसक्ति हंतु की हानि, च्युति की हानि, और पशुत्वहानि शुद्धि पांच प्रकार की मानी गयी है। पांच दीक्षाकारियों का कथन हुआ है-

६. द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु यह पांचवा हैं।

८. पांच बल है-गुरुभक्ति, बुद्धि की निर्मलता, द्वन्दों पर विजय, धर्म और अप्रमाद, इस तरह बल पांच प्रकार का है। पांच भक्तों को क्षीण करने के लिए आगमों के विरुद्ध नहीं जाने वाले अन्नार्जन के उपाय को वृत्ति कहते हैं। भिक्षा में प्राप्त, उत्सृष्ट [परित्यक्त अन्न], जो मिल जाय उसे ही ग्रहण करना चाहिए। अवशिष्ट सारी बातें आगम-ग्रन्थों से ही जाननी चाहिए।

२. सूत्र के अन्य शब्द–अतः, पति आदि

अतः शब्द के द्वारा दुःखान्त का प्रतिपादन होता है। क्योंकि इस शब्द से आध्यात्मिक आदि तीन दुःखों के विनाश के लिए प्रश्न करना व्यक्त होता है। पशु शब्द से कार्य का प्रतिपादन होता है क्योंकि वह परतन्त्र होता है। पति शब्द से कारण का बोध होता है क्योंकि "ईश्वर शासन करने वाला पति है" इस वाक्य में संसार के कारणस्वरूप ईश्वर का वर्णन है। योग और विधि तो अपने आप में स्पष्ट हैं [शब्दों से ही व्यक्त है]।

३. दुःखान्त का निरूपण

इनमें दुःखान्त दो प्रकार का होता है–अनात्मक और सात्मक। अनात्मक वह है जिसमें सभी दुःखों का पूर्णरूप से विनाश हो जाय। सात्मक वह है जिसमें दृक् शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त ऐश्वर्य की भी प्राप्ति हो। "दृक्शक्ति [ज्ञानशक्ति] यद्यपि एक है किन्तु विषयों की विभिन्नता के कारण पांच प्रकार से व्यक्त की जाती है – दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञता। दर्शन उस शक्ति का नाम है जिसके द्वारा समस्त चाक्षुष विषयों, स्पर्श सम्बन्धी विषयों का ज्ञान होता है, चाहे वे विषय कितने ही सूक्ष्म क्यों न हो, या दूर पर स्थित हों या किसी वस्तु के द्वारा व्यवहित हों। सभी शब्दों के विषय में सिद्धि के रूप में उत्पन्न ज्ञान को, श्रवण कहते हैं, यथा सम्भव विचारणीय विषयों का चिन्तन करते हुए योग की सिद्धि द्वारा ज्ञान पा लेना मनन कहलाता है। सिद्धि के द्वारा सभी शास्त्रों के विषय को ग्रन्थ और उसके अर्थ को जान लेना विज्ञान है, इसी से अपने पाशुपत शास्त्र का प्रवचन होता है। उपदिष्ट या अनुपदिष्ट सभी अर्थों में सत्रास, विस्तर, विभाग और विशेष के द्वारा तत्व के रूप में सम्बद्ध और सदैव प्रकाशित सिद्धि ज्ञान को सर्वज्ञत्व कहते हैं। यह ज्ञान की शक्ति है।

क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही होती है फिर भी परोक्षतः तीन प्रकार की कही जाती है –मनोजवित्व, कामरूपित्व, विकरण धर्मित्व। अतिशय शीघ्रत्य से कार्य करने वाली मनोजवित्व है [मन की तरह वेगवान होना है]। कर्मादि से निरपेक्ष होकर केवल अपनी इच्छा से ही अनन्त सलक्षण [समानधर्म वाले] विलक्षण तथा स्वरूप, करणों में अधिष्ठित होना ही काम रूपीत्व है। विकरण धर्मित्व वह है जब कारणों के न होने पर भी सर्वोच्च ऐश्वर्य से सम्बन्ध हो जाय। यह क्रिया–शक्ति है।

४. कार्य निरूपण

जो कुछ भी अस्वतन्त्र है वह सब कार्य है। वह विविध-विद्या, कला, पशुसंज्ञक है। इनके ज्ञान से संशय आदि की निवृत्ति होती है। इनमें पशु का गुण विद्या है। वह भी दो प्रकार की है– बोधस्वभाव और अबोध स्वभाव वाली विद्या। बोधात्मिका विद्या दो प्रकार की है क्योंकि उसमें विवेक और अविवेक की प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह चित्त भी कही गयी है, चित्त के द्वारा सभी प्राणी बोधात्मक प्रकाश से अनुगृहीत सामान्य रूप से सभी वस्तुओं को जानता है, चाहे वे वस्तुएँ विवेक प्रवृत्ति से पूर्ण हो या रहित।

उनमें विवेक प्रवृत्ति केवल प्रमाणों के ज्ञान से ही व्यक्त होती है। अबोधात्मिका विद्या वह है जिसमें पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म और अधर्म में दोनों संस्कार रहें। चेतन के अधीन रहने वाली कला स्वयं अचेतन होती है। इसके भी दो भेद हैं–कार्यरूपा और कारणरूपा। कार्याख्याकला दस प्रकार की पृथ्वी आदि पाँच तत्व और रूपादि पाँच गुण हैं । कारणाख्या कला के 13 भेद हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा अध्यवसाय (निश्चय), अभिभाव और संकल्प नामक तीन वृत्तियों के भेद के कारण तीन प्रकार के अन्तःकरण बुद्धि, अहंकार और मन।

पशुत्व जिसमें हो वह पशु है वह भी दो प्रकार का-साञ्जन और निरन्जन है। साञ्जन शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्ध वाला है, निरञ्जन इससे रहित है। इनका विस्तार पञ्चार्थ भाष्य दीपिका आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए।

५. कारण व योग का निरूपण

समग्र सृष्टि, संहार और अनुग्रहकारी तत्व कारण है। गुण और कर्म के भेद की अपेक्षा के कारण इसके विभाग भी कहे गये हैं–"पति आद्यगुण से युक्त है आदि। इस सूत्र में पति का अर्थ है निरतिशय दृक् और क्रियाशक्ति से युक्त होकर उसी ऐश्वर्य के द्वारा नित्य सम्बन्ध धारण करना। आद्य अनागन्तुक ऐश्वर्य से सम्बद्ध है इसी प्रकार आदर्श आदि ग्रन्थों के लेखक तीर्थंकरों ने इसका निरूपण किया है।

चित्त के द्वारा ईश्वर के साथ जो सम्बन्ध होता है उसके कारणों को योग कहते हैं–वह क्रिया लक्षण और क्रियोपरमलक्षण वाला है। जप, ध्यान आदि के रूप में जो योग है उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं। क्रियोपरम योगवत है। जिसकी संज्ञायें निष्ठा, संवित्, गति आदि है।

६. विधि

धर्मरूपी अर्थ [सिद्धि] का साधनरूप व्यापार विधि है। वह दो प्रकार की है - प्रधानभूत और गुणभूत [गौण विधि]। प्रधान भूत विधि साक्षात् धर्म का कारण अथवा चर्या है। यह भी दो प्रकार की है - व्रत, द्वार। भस्मस्नान-शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा - ये व्रत हैं। भगवान् नकुलीश ने कहा है भस्म से तीन समय स्नान करना चाहिए, भस्म पर ही सोना चाहिए [पा॰ सू॰ १.८]। उपहार का अर्थ, नियम-पालन से है। इसके छः अंग हैं जैसा कि सूत्रकार ने कहा है-हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार और जप्य इस षडंग उपहार के द्वारा पूजा करें। हसित का अर्थ है कंठ और ओष्ठपुटों को हिलाकर "अहहं" ध्वनि करते हुए अट्टहास करनां। गान्धर्वशास्त्र की परमपरा के अनुसार महेश्वर सम्बन्धी गुण और धर्म आदि निमित्तों का चिन्तन करना ही गति है। नाट्यशास्त्र के अनुसार हस्त पादादि फेंकना, अङ्गों और उपाङ्गों सहित हाव-भाव का प्रदर्शन नृत्य है। हुडुक्कार उस नाद विशेष को कहते हैं जो वृषभ के स्वर के सदृश है तथा जिह्वा और तालु के संयोग से उत्पन्न होने वाला जो पुण्यपद शब्द है। हुडुक शब्द वास्तव में वषट् की तरह ही ध्वनि का अनुकरण करने वाला शब्द है। जहाँ पर लौकिक पुरुष विद्यमान रहें, वहाँ पर इनका गुप्तरूपेण प्रयोग करना चाहिए। अवशिष्ट तो प्रसिद्ध ही है। द्वारचार्याएं-क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, अपितत्करण, अपितत्भाषण आदि हैं। सोये हुए व्यक्ति के समान चेष्टाएं प्रदर्शित करना क्राथन है, वायुरोग से अभिभूत व्यक्ति की भांति अपने शरीर को प्रकंम्पित करना स्पन्दन, टूटे हुए पैर वाले व्यक्ति की तरह लड़खड़ा कर चलना मन्दन है, रूप और यौवन से सम्पन्न किसी कामिनी को देखकर कामुक के समान विलास प्रदर्शन शृंगारण है।

कर्तव्य और अकर्तव्य की विवेचना करने में असमर्थ व्यक्ति की तरह लोकनिन्दित कर्म करना अपितत्करण, परस्पर विरोधी, निरर्थक आदि शब्द उच्चारण अपितद्भाषण कहलाता है।

चर्या के अनुग्रह के अनुस्नान आदि को गौण विधि कहते हैं। इसका प्रयोग इसलिए होता है कि भिक्षान्न भोजन, उत्सृष्ट अन्न, आदि के द्वारा शरीर में जो अपवित्रता आ जाती है उसका निवारण इस विधि के द्वारा ही होता है। सूत्रकार ने यह भी कहा है - अनुस्नान, निर्माल्य और लिङ्ग का धारण करने वाला [पवित्र] होता है।

७. समासादि पदार्थः अन्य शास्त्रों से तुलना

धर्ममात्र का अभिधान समास है जैसा कि प्रथम सूत्र में कहा गया है। पांचों पदार्थों का प्रामाणिक रूप से विस्तार कथन विस्तर है। इसे राशिकर भाष्य में देखना चाहिए। इन सबों का यथासम्भव लक्षण दिखलाते हुए, एक दूसरे पदार्थ से संपृक्त वर्णन करना विभाग कहलाता है। इसका विधान तो इस शास्त्र में हुआ है। दूसरे शास्त्रों में पदार्थों के गुणों का पार्थक्य वर्णन करना विशेष है। उदाहरणतः दूसरे शास्त्रों दुःख से मुक्त हो जाना ही दुःखान्त है किन्तु अपने शास्त्र में परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है दूसरे शास्त्रों में बाद में उत्पन्न होने वाले कार्य हैं [जो पहले विद्यमान न हो]। किन्तु अपने शास्त्र में पशु आदि नित्य पदार्थों को कार्य करते हैं। अन्य शास्त्रों में कारण सापेक्ष है, यहाँ निरपेक्ष भगवान ही कारण है। अंन्य कैवल्य आदि फल की प्राप्ति कराने वाला योग है। यहाँ परम ऐश्वर्य प्राप्त दुःखान्त दायक है। अन्यत्र पुनरावृत्ति रूप स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति विधि है परन्तु यहाँ विधि से सामीप्य आदि फल है जिसका नाश सम्भव नहीं है।

८. निरपेक्ष ईश्वर की कारणता

क्या इस निरपेक्ष परमेश्वर की कारणता ही एक विशाल इन्द्रजाल समझा जाय? ऐसा समझने पर दो दोष उत्पन्न होंगे – सभी कर्म निष्फल होंगे तथा सभी कार्य एक ही साथ उत्पन्न होने लग जायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि दोनों के कार्यक्षेत्र के आधार अलग-अलग हैं। यदि निरपेक्ष भगवान को ही संसार का कारण मानने से कर्म की विफलता माननी पड़े तो क्या आपत्ति है? यदि आप कहें कि ऐसा करने से कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा तो प्रश्न होता है कि कर्म को विफल मानने से कारण स्वरूप किसका प्रयोजन रहेगा। क्या कर्म करने वाले [प्राणी] के प्रयोजन का अभाव कर्म की विफलता का कारण होगा या भगवान [संसारोत्पादक] के प्रयोजन का अभाव पहला विकल्प [कर्म करने वाले प्राणी की प्रयोजन-शून्यता कर्म वैकल्य का कारण है] तो हो ही नहीं सकता। ईश्वर की इच्छा से अनुगृहीत होने पर ही कर्म की सफलता निर्भर करती है उसकी इच्छा अनुकूल न होने पर कभी-कभी ययाति आदि पुरुषों के कर्म की तरह हमारे कर्म निष्फल हो सकते हैं। इससे भी कर्म में अप्रवृत्ति नहीं होती, किसान आदि के उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो जाती है। ईश्वर की इच्छा के अधीन ही पशुओं की प्रवृत्ति होती है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है परमेश्वर की सारी कामनाएं परिपूर्ण है। अतएव कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रयोजन

को उससे अपेक्षा नहीं रहती। दूसरा आरोप कि ''कार्यों का उत्पादन एक ही साथ होने लगेगा'' ठीक नहीं है। परमेश्वर की अचिन्तनीय शक्ति है उसकी क्रिया शक्ति अध्याहत है जो उनकी इच्छा का ही अनुसरण करती है उसकी इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है।

९. ''चूंकि वह [ईश्वर] कर्मादि से निरपेक्ष [स्वतन्त्र] है, अपनी इच्छा के ही अनुसार कार्य करने वाला है, इसी कारण शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया है।''

१०. मोक्ष

कोई प्रश्न कर सकता है कि दूसरे दर्शन में भी तो ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष मिलता ही है, इस पाशुपत दर्शन में क्या विशेषता है हम कहेंगे कि ऐसा न कहे। अधोदत्त विकल्पों में यह सिद्ध नहीं होगा। निर्वाण या मोक्ष का कारण वास्तव में क्या है – ईश्वर के विषय में केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना या उसका साक्षात्कार करना या यथार्थ रूप में तत्वों का निर्णय करना।

पहला विकल्प तो ठीक नहीं क्योंकि बिना शास्त्र के भी साधारण व्यक्तियों की तरह ''महादेव देवताओं के राजा हैं'' केवल इसी ज्ञान की उत्पत्ति से ही मोक्ष की सिद्धि हो जायेगी, शास्त्रों का अभ्यास करना निष्फल है। दूसरा विकल्प भी उचित नहीं है, अनेक प्रकार के मलों के समूह से भरे हुए मांस की आंखों वाले पशु, परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकेंगे यह असम्भव है। तृतीय विकल्प को स्वीकार करने के लिए हमारे दर्शन में ही आना पड़ेगा। पाशुपत शास्त्र के बिना तत्वों का यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता। इसी को आचार्यो ने इस प्रकार कहा है–

''यदि ज्ञानमात्र से [मोक्ष मिलता] तो शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। ईश्वर का साक्षात् दर्शन करना दुर्लभ ही है तत्वों का यथार्थ निश्चय पञ्चार्थ के बिना हो ही नहीं सकता।''

इसलिए पुरुषार्थ की कामनावाले उत्तम पुरुषों को पांच पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले पाशुपत शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए–यही उचित है।

इस प्रकार श्रीमान सायणमाधव के ''सर्वदर्शन संग्रह''
में नकुलीश पाशुपत दर्शन [समाप्त हुआ]॥

[illegible]

प्रतिभा प्रकाशन
PRATIBHA PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Book-Sellers)
29/5, Shakti Nagar, Delhi-110007
Phone : 7451485